क्रम

नाट्य-शास्त्र की भारतीय परम्परा

१. नाट्य-वेद और नाट्य-शास्त्र

भारतीय 'नाट्य-शास्त्र' के आरम्भ में (१-१-४२) एक कथा दी गई है। उसमें बताया गया है कि कभी अनध्याय के समय जब भरत मुनि शान्त भाव से बैठे हुए थे, आत्रेय प्रभृति मुनियों ने उनसे जाकर प्रश्न किया कि भगवन्, आपने जो वेदसम्मित 'नाट्य-वेद' ग्रथित किया है, वह कैसे उत्पन्न हुआ और किसके लिये बनाया गया, उसके अंग, प्रमाण और प्रयोग किस प्रकार होते हैं, यह बताने की कृपा करें। भरत-मुनि ने बताया कि वैवस्वत मनु के समय त्रेता युग प्राप्त हुआ और काम तथा लोभवश लोग ग्राम्य-धर्म की ओर प्रवृत्त हो गए तथा ईर्ष्या और क्रोध से मूढ़ होकर वे अनेक प्रकार के सुख-दुःखों के शिकार होने लगे। लोकपालों द्वारा प्रतिष्ठित जम्बूद्वीप जब देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और नागों से समाक्रान्त हो गया, तब इन्द्र प्रभृति देवताओं ने ब्रह्मा से जाकर कहा कि 'हे पितामह, हम ऐसा कोई 'क्रीडनीयक' या खेल चाहते हैं जो दृश्य भी हो और श्रव्य भी हो, जो वेद-व्यवहार है वह शूद्र जाति को सिखाया नहीं जा सकता, अतएव आप सब वर्णों के योग्य किसी पाँचवें वेद की सृष्टि कीजिए।" ब्रह्मा ने 'एवमस्तु' कहकर देवों को विदा किया, चारों वेदों को समाधिस्थ होकर स्मरण किया और संकल्प किया कि मैं धर्म, अर्थ और यश का साधन, उपदेशयुक्त, शास्त्र-ज्ञान-समन्वित, भावी जनता को समस्त कर्मों का अनुदर्शन कराने वाला, समस्त शास्त्रार्थों से युक्त, सब शिल्पों का प्रदर्शक, इतिहासयुक्त 'नाट्य' नामक वेद बनाऊँगा। उन्होंने 'ऋग्वेद' से

पाठ्य-अंश लिया, 'सामवेद' से गीत का अंश, 'यजुर्वेद' से अभिनय और 'अथर्ववेद' से रसों का संग्रह किया। 'नाट्य-वेद' का निर्माण करके ब्रह्मा ने प्रचार करने के उद्देश्य से उसे देवताओं को दिया। परन्तु इन्द्र ने उनसे निवेदन किया कि देवता लोग इस नाट्य-कर्म के ग्रहण, धारण, ज्ञान और प्रयोग मे असमर्थ हैं। इस काम को वेदो के रहस्य जानने वाले संशित-व्रत मुनियो को देना चाहिए। ब्रह्मा ने इसके बाद भरत मुनि को बुलाकर आज्ञा दी कि तुम अपने सौ पुत्रो के साथ इस 'नाट्य-वेद' के प्रयोक्ता बनो। पितामह की आज्ञा पाकर भरत मुनि ने अपने सौ पुत्रों को इस 'नाट्य-वेद' का उपदेश दिया। इस प्रकार यह 'नाट्य-वेद' पृथ्वी-तल पर आया।

यह कहानी कई दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है। प्रथम तो यह कि वेदो से भिन्न पाँचवाँ वेद होते हुए भी 'नाट्य-वेद' के मुख्य अंश चारो वेदो से ही लिये गए हैं। दूसरा यह कि यद्यपि इसके मूल तत्त्व वेदो से गृहीत हैं तथापि यह स्वतन्त्र वेद है और अपनी प्रामाणिकता के लिए किसी दूसरे का मुखापेक्षी नही। तीसरा यह कि यह वेद अन्य वेदो की तरह केवल ऊँची जातियों के लिए नही है बल्कि सार्ववर्णिक है, और चौथी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वैदिक आचार और क्रिया-परम्परा के प्रवर्तित होने के बहुत बाद त्रेता युग मे इस शास्त्र का निर्माण हुआ। उस समय जम्बूद्वीप देवता, दानव, यक्ष, राक्षस और नागो से समाक्रान्त हो चुका था; यानी भारतवर्ष मे बहुत-सी नयी जातियो का प्रादुर्भाव हो चुका था।

भारतीय परम्परा यह है कि किसी भी नये शास्त्र के प्रवर्तन के समय उसका मूल वेदो मे अवश्य खोजा जाता है। वेद ज्ञान-स्वरूप है, उनमे त्रिकाल का ज्ञान बीज-रूप मे सुरक्षित है। भारतीय मनीषी अपने किसी ज्ञान को अपनी स्वतन्त्र उद्भावना नही मानते। 'नाट्य-वेद' की उत्पत्ति की कथा मे भी यह प्रवृत्ति दिखाई देती है, परन्तु इस शास्त्र को वेद की मर्यादा देने का एक और अर्थ भी है। इसमे कुछ ऐसी बातें

है जो प्रसिद्ध चार वेदो मे नही हैं और उनके लिए यह 'नाट्य वेद' ही 'स्वत प्रमाण' वाक्य है। किसी शास्त्र को वेद कहने का मतलब यह है कि वह स्वय अपना प्रमाण है, उसके लिए किसी अन्य आप्त वाक्य की अपेक्षा नहीं। मनु न साक्षात् धर्म के कारण को चतुर्विध बताया है— श्रुति, स्मृति, सदाचार और अपने-आपको प्रिय लगने वाली बात। परन्तु ये चारो समान रूप से स्वतन्त्र नही। स्मृति उतनी ही ग्रहणीय है जितनी कि श्रुति से समर्थित है, सदाचार उतना ही ग्रहणीय है जितना कि श्रुति और स्मृति से समर्थित है और अपनी प्रिय बात उतनी ही दूर तक स्वीकार्य है जितनी दूर तक वह श्रुति, स्मृति और सदाचार के अविरुद्ध हो। धर्म के अन्तिम तीन कारण श्रुति से मर्यादित हैं। मनु जिसे श्रुति समझते हैं उसमे ऐसी बहुत-सी बातो का समावेश नही रहा होगा जो नाट्य-वेद मे गृहीत हैं। इसलिये नाट्य-शास्त्र' के आरम्भ मे इसे श्रुति की मर्यादा दी गई है।

जब से नये ढग की शोध प्रथा प्रचलित हुई है तब से नाट्य वेद' के विषय मे आधुनिक ढग के पण्डितो मे अनेक प्रकार की जल्पना-कल्पना चल पड़ी है। यह भी विचार का विषय बना हुआ है कि 'नाट्य शास्त्र' को पांचवां वेद क्या कहा गया। वे कौनसी ऐसी बातें थी जो इस शास्त्र के प्रवर्तित होने के पहले वैदिक आर्यों मे प्रचलित थी और कौन-सी ऐसी बातें है जो नयी है ? फिर जो नयी हैं उनकी प्रेरणा कहाँ से मिली ? क्या यवन आदि विदेशी जातियो से भी कुछ लिया गया, या यहाँ की आर्येतर जातियो मे प्रचलित प्रथाओ से उन्ह ग्रहण किया गया ? इन जल्पना-कल्पनाओ का साहित्य काफी बड़ा और जटिल है। सबकी पुनरावृत्ति करना न तो यहाँ आवश्यक ही है और न उपयोगी ही। 'नाट्य शास्त्र' की कथा से इतना तो स्पष्ट ही है कि नाटको मे जो पाठ्य-अश होता है उसका मूल रूप 'ऋग्वेद' मे मिल जाता है, जो गेय अश है वह भी 'सामवेद' मे प्राप्त हो जाता है और जो रस है उसका मूल रूप 'अथर्व' वेद मे प्राप्त हो जाता है। कम-से कम 'नाट्य शास्त्र'

काल में गाने की प्रथा काफी प्रौढ हो चुकी थी। इतना ही नहीं, 'ऋग्वेद' १।९२।४ में ऐसी स्त्रियों का उल्लेख है जो उत्तम वस्त्र पहनकर नाचती थीं और प्रेमियों को आकृष्ट करती थीं। 'अथर्ववेद' में (७।१।४१) पुरुषों के भी नाचने और गाने का उल्लेख है। श्री ए० बी० कीथ ने कार्य-कारण-सम्बन्ध को देखते हुए इस बात में कोई कठिन आपत्ति उपस्थित होने की सम्भावना नहीं देखी कि ऋग्वेद-काल में लोग ऐसे नाटकीय दृश्यों को जानते थे जो धार्मिक हुआ करते थे और जिनमें ऋत्विक् लोग स्वर्गीय घटनाओं का पृथ्वी पर अनुकरण करने के लिए देवताओं और मुनियों की भूमिका ग्रहण करते थे।

नाटक में जो अंश पाठ्य होता है वह पात्रों का संवाद ही है। 'नाट्य-शास्त्र' के रचयिता ने जब यह संकेत किया था कि ब्रह्मा ने 'नाट्य-वेद' की रचना के समय 'पाठ्य-अंश' 'ऋग्वेद' से लिया था तो उनका तात्पर्य यही रहा होगा कि ऋग्वेद में पाए जाने वाले काव्यात्मक संवाद वस्तुतः नाटक के अंश ही हैं। ऐसा निष्कर्ष उन दिनों यज्ञादियों में प्रचलित नाटकीय दृश्यों को देखकर ही निकाला जा सकता है। आधुनिक काल के कई विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ऋग्वेदकालीन यज्ञों में वस्तुतः कुछ अभिनय हुआ करता था। सारे संसार की प्राचीन जातियों में नाच-गान और अभिनय का अस्तित्व पाया जाता है। प्रो० फान श्रेडर ने बताया था कि 'ऋग्वेद' में आए हुए संवाद प्राचीनतर भारोपीय काल के आर्यों में प्रचलित नाच, गान और अभिनय के उत्तरकालीन रूप होंगे। सारे संसार में सृष्टि-प्रक्रिया के रहस्य को प्रतीक-रूप में अभिनीत करने के लिए अनेक प्रकार के मैथुनिक अभिनय प्रचलित थे। प्राचीन ग्रीक लोगों में भी एक प्रकार का मिलन-नृत्य प्रचलित था, परन्तु इस प्रकार के अनुमान के लिये न तो मूल संहिताओं में ही कोई निश्चित सबूत पाया जाता है और न हजारों वर्षों की भारतीय परम्परा में ही कोई संकेत मिलता है। लुडविक, पिशेल और ग्राल्डेनबर्ग-जैसे विद्वानों ने यह बतलाने का प्रयत्न

किया है कि इन संवाद-मूलक पदों के बीच-बीच गद्य का भी समा हुआ करता था, जिसका कोई निश्चित रूप नहीं था। पद्य केवल स्थलों पर व्यवहृत होते थे जहां वक्ता का भावावेग तीव्र होता था। इन तीव्र भावावेग वाले स्थलों को ही इन संवाद-मूलक सूक्तों में संकलित कर लिया गया है। 'शकुन्तला' नाटक से गद्य वाले सभी अंश हटा दिए जाएँ और केवल पद्य अंश ही सुरक्षित रखे जाएँ तो उसकी वही स्थिति होगी जो बहुत-कुछ इन संवादमूलक सूक्तों की है। प्रो० पिशेल ने इस अनुमान को और भी आगे बढ़ाया है। उनका अनुमान है कि संस्कृत-नाटकों में जो गद्य और पद्य का विचित्र सम्मिश्रण मिलता है वह उसी पुरानी यज्ञ-क्रिया से सम्बद्ध नाटकीय तत्त्वों का परवर्ती रूप है। संस्कृत-नाटक में पात्र गद्य बोलते-बोलते जब भावावेश की स्थिति में आता है तब पद्य बोलने लगता है। परन्तु इस विषय में भी विशाल भारतीय परम्परा एकदम मौन है। जो हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि 'नाट्य-शास्त्र' के रचयिता के मन में 'ऋग्वेद' में नाटकों में पाए जाने वाले पाठ्य-तत्त्व के अस्तित्व के बारे में कोई सन्देह नहीं था। या तो, परम्परया यह प्रचलित था कि 'ऋग्वेद' के संवाद-मूलक पाठ्य-अंश किसी प्रकार के नाटकीय प्रदर्शन के अंश हैं, या उन्होंने स्वयं ही किसी धार्मिक उत्सव के अवसर पर इन नाट्य-अंशों को नाटकीय रूप में अभिनीत होते देखा था। भरत मुनि ने 'नाट्य-शास्त्र' के प्रथम अध्याय में 'रंग-दैवत पूजन' विधि को 'यज्ञ-सम्मत' कहा है- 'यज्ञेन सम्मतं ह्येतद् रंगदैवतपूजनम्'—(१-१२३)। यदि 'नाट्य-शास्त्र' के इस उल्लेख को परम्परा का इंगित मान लिया जाए तो प्रो० पिशेल का अनुमान सत्य सिद्ध हो सकता है। इतना तो निश्चित है कि 'नाट्य-शास्त्र' का यह कहना (१-१७) कि नाटक के पाठ्य-अंश 'ऋग्वेद' से लिए गए हैं, साधार और युक्तियुक्त है। भारतीय नाटकों के विकास में, हमें इस तत्त्व के लिये बहुत भटकने की जरूरत नहीं है। वह निश्चित रूप से संहिताओं में प्राप्त है।

। 'सामवेद' से गीत-भाग लिया गया, यह कहना ठीक ही है। ऋक् ऋच को साम की योनि कहा गया है। योनि अर्थात् उत्पत्ति-स्थल। आर्चिक और उत्तरार्चिक, ये सामवेद के दो भाग है। आर्चिक अर्थात् ऋचाओं का सग्रह। इसमे ५८५ ऋचाएँ हैं। विंटरनित्स ने कहा है कि इसकी तुलना एक ऐसी गान-पुस्तक से की जा सकती है जिसमे गान के केवल एक-एक ही पद्य लय या सुर की याद दिलाने के लिये सग्रह किये गए हो। दूसरी ओर उत्तरार्चिक ऐसी पुस्तक से तुलनीय हो सकता है जिसमे पूरे गान सगृहीत होते हैं और यह मान लिया गया होता है कि सुर या लय पहले से ही जाने हुए हैं। कहने का अर्थ है कि सामवेद एक अत्यधिक समृद्ध सगीत-परम्परा का परिचायक ग्रन्थ है। इसलिये शास्त्रकार का यह कहना कि 'नाट्यवेद' मे गीत सामवेद से लिए गए हैं, युक्तियुक्त और साधार है।

शास्त्र का दावा है कि 'नाट्य-वेद' मे जो अभिनय है वह 'यजुर्वेद' से लिया गया है। 'यजुर्वेद' अध्वर्युवेद कहलाता है। पतञ्जलि ने 'महाभाष्य' मे बताया है कि उसकी १०१ शाखाएँ थी। यज्ञ मे अध्वर्यु लोग 'यजुर्वेद' के मन्त्रो का पाठ करते हैं। इस वेद की पाँच शाखाएँ या पाँच विभिन्न पाठ प्राप्त हैं।

१ 'काठक' अर्थात् कठ लोगो की सहिता, (२) 'कपिष्ठल-कठ-सहिता' कुछ थोडी-सी भिन्न और अपूर्ण हस्तलिपियो मे ही प्राप्त हुई है, (३) 'मैत्रायणी सहिता' अर्थात् मैत्रायणीय परम्परा की सहिता, (४) 'तैत्तिरीय सहिता' या आपस्तम्ब सहिता (इन चारो मे बहुत साम्य है। इन्हें कृष्ण यजुर्वेद की शाखा कहते हैं।) तथा (५) 'वाजसनेयी सहिता' शुक्ल यजुर्वेद की सहिता कहलाती है। इसका नाम 'याज्ञवल्क्य वाजसनेयी' के नाम पर पडा। यही इस शाखा के आदि आचार्य थे। इसकी भी दो शाखाएँ प्राप्त हैं, कण्व और माध्यन्दिनीय।

'यजुर्वेद भाष्य' की भूमिका मे महीधर ने लिखा है कि व्यास के शिष्य वैशम्पायन ने अपने याज्ञवल्क्य इत्यादि शिष्यो को चारो वेद

पढ़ाए। एक दिन वैशम्पायन क्रुद्ध होकर याज्ञवल्क्य से बोले कि तू मुझसे जो कुछ पढ़ा है उसे छोड़ दे। गुरुसे से याज्ञवल्क्य ने भी जो पढ़ा था, सब उगल दिया, जिसे गुरु की आज्ञा से वैशम्पायन के शिष्यों ने तीतर बनकर खा लिया। यही उद्वान्त ज्ञान 'तैत्तिरीय संहिता' है। याज्ञवल्क्य ने तपस्या करके सूर्य से 'शुक्ल यजुर्वेद' प्राप्त किया। सूर्य से प्राप्त होने के कारण ही इसका नाम शुक्ल यजुर्वेद' पड़ा और इसके विरोध में तैत्तिरीय शाखा' का नाम 'कृष्ण यजुर्वेद' पड़ा। आधुनिक पण्डितों ने दोनों वेदों की विषय-वस्तु पर विचार करके बताया है कि शुक्ल का अर्थ है' सुसम्पादित, स्पष्ट और साफ़ जबकि कृष्ण का अर्थ है असम्पादित, अस्पष्ट और घिचिर-पिचिर। 'कृष्ण यजुर्वेद' में ऐसे बहुत-से अंश हैं जो ब्राह्मण-ग्रन्थों के अंश-से जान पड़ते हैं। शुक्ल में यह बात नहीं है। वह विशुद्ध मन्त्रों की संहिता है। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि रावण-कृत वेद भाष्य इसमें मिल गया है, इसलिये इसे कृष्ण या काला कहा गया है। 'शुक्ल यजुर्वेद' की 'माध्यन्दिनीय शाखा' ही सम्भवत पुराना और प्रामाणिक यजुर्वेद है। इसकी उक्त दोनों शाखाओं में अन्तर बहुत कम है। माध्यन्दिनीय शाखा पुरानी मानी जाती है, उसी का प्रचार भी अधिक है। आधुनिक पण्डितों का विश्वास है कि इसके ४० अध्यायों मे अन्तिम १५ (या २२) परवर्ती हैं, प्रथम भाग पुराना।

यजुर्वेद' में कुछ अंश ऐसे अवश्य मिल जाते है जो यज्ञ-क्रिया की विधियों को बताते हैं जिनमे थोड़े बहुत ऐसे काय होते हैं जो अभिनय की कोटि मे आ सकते हैं। आधुनिक ढंग के विद्वानों ने यज्ञ के सोम-विक्रय प्रकरण को और महाव्रत के विविध अनुष्ठानों को एक प्रकार का नाटकीय अभिनय ही माना है। इसी प्रकार अन्य याज्ञिक अनुष्ठानों म भी कुछ ऐसे अनुष्ठान मिल जाते हैं जो नाटकीय अभिनय की कोटि मे आ जाते हैं। यह सत्य है कि इन अनुष्ठानों को नाटक नहीं कहा जा सकता। विशुद्ध नाटक वह है जहाँ अभिनेता जान-बूझकर किसी दूसरे

व्यक्ति की भूमिका में उतरता है, स्वयं आनन्दित होता है और दूसरों को आनन्द देता है। 'यजुर्वेद' में इस श्रेणी का नाटक खोजना व्यर्थ का परिश्रम-मात्र है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि याज्ञिक क्रिया के अनुष्ठान में ऐसी कुछ बातें आ मिली हैं जो उन दिनों के साधारण जन-समाज में प्रचलित नाच-गान और तमाशों से ली गई होंगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे लोक-नृत्य और लोक-नाट्य उन दिनों प्रचलित अवश्य थे। 'कौशीतकी ब्राह्मण' (२४।५) में नृत्य-गीत आदि को कलाओं में गिनाया गया है। 'पारस्कर गृह्यसूत्र' में (२-७-३) द्विजातियों को यह सब करने की मनाही है। इसलिये यह सरलता से अनुमान किया जा सकता है कि उन दिनों लोक में बहुत से नृत्य, गीत, नाट्य प्रचलित थे। लोग उनकी कद्र भी करते थे, परन्तु अत्यन्त नैतिकतावादी ब्राह्मण उनसे बचने का भी प्रयत्न करते थे। वेदों का वातावरण पवित्रता का वातावरण है, और ब्राह्मण-विश्वास के अनुसार ऐसा कोई काम द्विजों को नहीं करना चाहिए जिससे चरित्रगत पतन की सम्भावना हो। इस-लिये यद्यपि नृत्य, नाट्य आदि की मनोरञ्जकता उन्होंने अस्वीकार नहीं की, किन्तु उन्हें भले आदमियों के योग्य भी नहीं माना। जो हो, शास्त्र में यह बताया गया है कि नाटकों में जो अभिनय-तत्त्व है वह 'यजुर्वेद' से लिया गया है। इस वक्तव्य को समझने के लिये जिस प्रकार यह आवश्यक है कि हम समझें कि यजुर्वेद क्या है, उसी प्रकार हम यह भी समझें कि नाट्य-शास्त्र ने 'अभिनय' किस वस्तु को कहा है।

'नाट्य-शास्त्र' में अभिनय शब्द बहुत व्यापक अर्थों में व्यवहृत हुआ है। इसमें नाटक के प्रायः सभी तत्त्व आ जाते हैं। वेश-विन्यास भी इससे अलग वस्तु नहीं और रंगमंच की सजावट भी उसके अन्तर्गत आ जाती है। वस्तुतः पाठ्य-गान और रस के अतिरिक्त जो-कुछ भी नाटक में किया जा सकता है वह सब अभिनय के अन्तर्गत आता है और पाठ्य-गान और रस के भी सभी आश्रय और उपादान अभिनय के अन्तर्गत आ जाते हैं, इसलिये नाट्य-शास्त्रीय परम्परा में जब अभिनय शब्द का

व्यवहार होता है तो वस्तुत कुछ भी छूटता नहीं।

कुछ लोगो ने 'नाट्य-शास्त्र' के अभिनय' शब्द का अर्थ 'इमिटेटर' (अनुकरण) और 'जेश्चर' (भाव-भंगी) किया है जो ठीक नही है। यह समझना भूल है कि अभिनय मे केवल अंगों की विशेष प्रकार की भंगिमाएँ ही प्रधान स्थान प्राप्त करती हैं। अभिनय के चारों अंगों—अर्थात् आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक—पर समान भाव से जोर दिया गया है। आंगिक अर्थात् देह-सम्बन्धी अभिनय उन दिनों चरम उत्कर्ष पर था। इसमें देह, मुख और चेष्टा के अभिनय शामिल थे। सिर, हाथ, कटि, वक्ष, पार्श्व और पैर इन अंगों के सैकड़ो प्रकार के अभिनय 'नाट्य शास्त्र' मे और 'अभिनय दर्पण' आदि ग्रन्थो में गिनाए गए हैं। 'नाट्य-शास्त्र' मे बताया गया है कि किस अंग या उपांग के अभिनय का क्या विनियोग है, अर्थात् वह किस अवसर पर अभिनीत हो सकता है। फिर नाना प्रकार की घूमकर नाचने-गाने वाली भंगिमाओं का भी विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। फिर वाचिक अर्थात् वचन-सम्बन्धी अभिनय को भी उपेक्षणीय नही समझा जाता था। 'नाट्य-शास्त्र' मे कहा गया है (१५-२) कि वचन का अभिनय बड़ी सावधानी से करना चाहिए, क्योकि यह नाट्य का शरीर है, शरीर और पोशाक के अभिनय वाक्यार्थ को ही व्यञ्जित करते हैं। उपयुक्त स्थलो पर उपयुक्त यति और काकु देकर बोलना, नाम-आख्यात-निपात उपसर्ग-समास तद्धित, विभक्ति-सन्धि आदि को ठीक-ठीक प्रकट करना छन्दो का उचित ढग से प्रयोग करना, शब्दो के प्रत्येक स्वर और व्यञ्जन का उपयुक्त रीति से उच्चारण करना, इत्यादि बातें अभिनय का प्रधान अंग मानी जाती थी। परन्तु यही सब-कुछ नही था। केवल शारीरिक और वाचिक अभिनय भी अपूर्ण माने जाते थे। आहार्य और वस्त्र अलङ्कारो की उपयुक्त रचना भी अभिनय का अंग समझी जाती थी। यह चार प्रकार की होती थी—पुस्त, अलङ्कार, अङ्ग-रचना और सर्ग। नाटक के स्टेज को आज के समान 'रियलिस्टिक' बनाने का ऐसा प्र-

पन तो नहीं था, परन्तु पहाड, रथ, विमान आदि को यथार्थ का कुछ रूप देने के लिये तीन प्रकार के पुस्त व्यवहृत होते थे। वे या तो बांस या सरकण्डे से बने होते थे, जिन पर कपडा या चमडा चढा दिया जाता था, या फिर यन्त्र आदि की सहायता से फर्जी बना लिए जाते थे, या फिर अभिनेता ऐसी 'चेष्टा' करता था जिसमे उन वस्तुओ का बोध प्रेक्षक को हो जाए (२३-५-७)। इन्हे क्रमश सन्धिम, व्यञ्जिम और वेष्टिम पुस्त कहते थे। अलङ्कार मे विविध प्रकार के माल्य, आभरण, वस्त्र आदि की गणना होती थी। अङ्ग-रचना मे पुरुष और स्त्रियो के बहुविध वेष-विन्यास शामिल थे। प्राणियो के प्रवेश को सजीव कहते थे (२३ १५२), परन्तु इन तीनो प्रकार के अभिनयों से कहीं अधिक महत्त्व-पूर्ण अभिनय सात्विक था। भिन्न-भिन्न रसो और भावो के अभिनय मे अभिनेता या अभिनेत्री की वास्तविक परीक्षा होती थी।

'यजुर्वेद सहिता' मे बताए हुए याज्ञिक विधानो मे नि सन्देह अभिनय के ऊपर बताए गए अनेक तत्त्व मिल जाएँगे। इसलिये शास्त्रकार ने अभिनय को 'यजुर्वेद' से गृहीत बताया है। क्योकि अथर्ववेद मे मारण, मोहन, वशीकरण आदि अभिचार पाए जाते हैं। इसमे जिन लोगो पर ये प्रयोग किए जाते हैं उनके स्थानापन्न किसी का अवधारण होता है जो नाटक के विभावादि के समान ही हैं और साथ ही इसमे मारणादि अभिचारो के समय सिहरन, कम्पन आदि अनुभाव तथा धृति, प्रमोद आदि सचारी भाव भी विद्यमान होते हैं। इस प्रकार विभाव अनुभाव-सचारी भाव का योग, जिससे रस निष्पत्ति हुआ करती है इसमे मिल जाता है। अभिनवगुप्त का मत है कि इसीलिये इसको अथर्ववेद से ग्रहण किया हुआ बताया गया है। 'अथर्ववेद' से रसो के ग्रहण करने का अनुमान भी उचित और सगत है।

विधि और शास्त्र

'नाट्य-वेद' के दो अग हैं—विधि और शास्त्र। भरत मुनि ने प्रथम

अध्याय के १२५वें श्लोक में स्पष्ट कहा है कि जो व्यक्ति 'यथाविधि' और 'यथाशास्त्र' पूजा करेगा वह शुभ फल प्राप्त करेगा और अन्त में स्वर्ग-लोक में जाएगा—

यथाविधि यथाशास्त्रं यस्तु पूजां करिष्यति ।
स लप्स्यते शुभानर्थान् स्वर्गलोकं गमिष्यति ॥ (१-१२५)

दूसरे से पाँचवें अध्याय तक विधि पर बड़ा ज़ोर है। विधि-दृष्ट-कर्म (२-६६) से सभी कार्यों को करने को कहा गया है। काष्ठ-विधि (२-७६), भित्ति-कर्म-विधि (२-८३), द्वार-विधि (३-२२), मन्त्र-विधान (३-४६), आसाग्नि विधि (४-२८२), वृत्ताभिनय-विधि (४-२९२), नृत्याभिनय-वादित सम्बन्धी वस्तुक विधि (४-२९४), ताण्डव-प्रयोग-विधि (४-३२१), गीतक-विधि (५-६०), रंगसिद्धि के पश्चात् काव्य-निरूपण विधि (५-१४०), पूर्व-रंग विधि, (५-१७२ और १७६) इत्यादि अनेक विधियों का उल्लेख है। दर्जनों स्थानों पर विधि-लिङ् की क्रिया का प्रयोग है। मीमांसकों के अनुसार श्रुति का तात्पर्य केवल विधि से है। जहाँ विधि लिङ् का प्रयोग होता है वहीं श्रुति होती है। नाट्य-शास्त्र इन विधियों पर बहुत ज़ोर देता है और स्थान-स्थान पर स्पष्ट रूप में निर्देश देता है कि यह विधि अवश्य करणीय है। जो इस विधि को छोड़कर अपनी इच्छा से इसका प्रयोग करता है वह तिर्यग् योनि को प्राप्त होता है और विनाश (अपचय) का शिकार होता है—

यश्चेमं विधिमुत्सृज्य यथेष्टं सम्प्रयोजयेत् ।
प्राप्नोत्यपचयं घोरं तिर्यग्योनिं च गच्छति ॥ (५-१७३)

और—

यस्त्वेवं विधिमुत्सृज्य यथेष्टं सम्प्रयोजयेत् ।
प्राप्नोत्यपचयं शीघ्रं तिर्यग्योनिं च गच्छति ॥ (३-९८)

पाँचवें अध्याय के बाद विधि शब्द कम आता है। अन्तिम अध्यायों में वह फिर बहुलता से आने लगता है। स्पष्ट ही 'नाट्य-वेद' का श्रुतित्व इन विधियों में है। कई स्थानों पर 'अनेनैव विधानेन'-जैसे

ाक्यांशों का प्रयोग आता है, जिसमे शास्त्रकार 'एव' पद देकर अन्य वेधियों का तिरस्कार करते हैं।

विधि के बाद जो बचता है, वह शास्त्र है। साधारणत इसके लिये नाट्यम्' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसमे युक्ति-तर्क और प्रयोग-पाठ्य ा निर्देश है। छठे और सातवे अध्याय मे रस और भावो को समझाया ाया है। इन अध्यायों म विधि शब्द का प्रयोग बहुत कम हुआ है। यह दावा तो नहीं किया जा सकता कि विधि और शास्त्र बिलकुल अलग करके दिखाए जा सकते हैं, पर इतना निश्चित जान पड़ता है कि विधि साधारणत अभिनेताओं को दृष्टि में रखकर निर्दिष्ट हुए हैं और शास्त्र अभिनेता, सामाजिक और कवि या नाटककार सबको ध्यान मे रखकर ाचित हुआ है।

३. नाट्य-वेद मे विस्तार

ब्रह्मा ने जब नाट्य-वेद की सृष्टि की तो उसमे स्वय ही इतिहास को जोड दिया और इन्द्र को आज्ञा दी कि इसका प्रयोग देवताओ से कराओ, लेकिन इन्द्र ने कहा कि इसके ग्रहण, धारण, ज्ञान और प्रयोग की शक्ति देवताओ मे नहीं है। केवल मुनि लोग ही ऐसा कर सकते हैं। इन्द्र के कथन का तात्पर्य यह था कि देवता भोग-योनि है, उस योनि मे क्रिया-शक्ति नहीं होती जबकि मनुष्य मे ग्रहण, धारण, ज्ञान और प्रयोग की शक्ति होती है। तात्पर्य यह है कि नाटक केवल अनुकरण मात्र नहीं , वह उससे अधिक है। उसमे मनुष्य की इच्छा, ज्ञान और कर्म-शक्ति की आवश्यकता होती है। ग्रहण की हुई वस्तु को धारण करना साधना ा सम्भव होता है। देवता का शरीर और मन सिद्ध होता है, साधक हीं। उसमे इच्छा-शक्ति का अभाव होता है, नाटक मे सकल्प होता है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया से मनुष्य शरीर त्रिपुटीकृत है। इसलिये इच्छा, ज्ञान और क्रिया मे त्रिधा अभिव्यक्ति ग्रहण करने वाली महा-शक्ति त्रिपुरा मनुष्य पिण्ड मे कुण्डलिनी-रूप मे प्रकाशित होती है, किन्तु

देवता में उसका अभाव है। इसीलिए नाटक, जो मनुष्य की सर्जनेच्छा या सिसृक्षा का उत्तम रूप है, देवता लोगों की शक्ति का विषय नहीं है। देवता सिद्धि दे सकता है, साधना नहीं कर सकता। नाटक साधना का विषय है। मनुष्य में जो सर्जनेच्छा या नया कुछ रचने की उत्कट आकांक्षा है, वह उसका विषय है। इन्द्र की बात सुनकर ब्रह्मा ने इतिहासयुक्त 'नाट्य-वेद' को भरत मुनि के जिम्मे किया जिन्होंने अपने सौ पुत्रों को उसका उपदेश दिया। इस प्रकार इतिहास 'नाट्य-वेद' में जोड़ा गया। पाठ्य, गीत, अभिनय और रस के साथ कथानक का योग हुआ। शास्त्र के अनुसार नाटक का प्रथम प्रयोग इन पांच वस्तुओं को लेकर ही हुआ। भरत मुनि ने इसमें तीन वृत्तियों का योग किया था। ये तीन वृत्तियां हैं, भारती, सात्वती और आरभटी। भारती वृत्ति "वाक्-प्रधाना, पुरुष-प्रयोज्या, स्त्रीवर्जिता, संस्कृत वाक्य युक्ता" वृत्ति है (२२-५)। इसे भरत-पुत्रों को प्रयोग करने में कठिनाई नहीं हुई, सात्वती "हर्षोत्कटा, संहृत-शोकभावा, वाग्भंगाभिनयवती, सत्वाधिकारयुक्ता" वृत्ति है (५२-३८, ३९)। इसे भी बिना कठिनाई के सम्हाल लिया गया, आरभटी कूद-फांद, इन्द्र-जाल, आक्रमण आदि को प्रकट करने वाली वृत्ति है (२२-५७, ५८), भरत-पुत्रों ने इसका प्रयोग भी आसानी से कर लिया। परन्तु चौथी वृत्ति जो कैशिकी है, वह उनके वश की नहीं थी। इसमें सुकुमार साज-सज्जा, स्त्री-सुलभ चेष्टाएं, कोमल शृंगारोपचार (२२-४७) की आवश्यकता थी। भरत-पुत्र इसका प्रयोग नहीं कर सके। ब्रह्मा ने इस कमी को महसूस किया और भरत-मुनि को आज्ञा दी कि कैशिकी वृत्ति को भी इसमें जोड़ो (१-४३)। भरत मुनि ने कहा कि यह वृत्ति तो पुरुषों के वश की नहीं है इसे तो केवल स्त्रियां ही कर सकती हैं। ब्रह्मा ने तब अप्सराओं की सृष्टि की, इस प्रकार 'नाट्य-वेद' में स्त्रियों का प्रवेश हुआ।

इन्द्र के ध्वजारोपण के अवसर पर प्रथम बार चारों वृत्तियों से संयुक्त नाटक खेला गया और प्रसन्न होकर देवताओं ने भरत मुनि को

नेक उपकरण दिए और रक्षा करने का आश्वासन भी दिया।

कथा से स्पष्ट है कि पहले नाटक में स्त्रियों का योग नहीं था। बाद में जब यह अनुभव किया गया कि नाटक की कुछ क्रियाएँ स्त्रियों के बिना असम्भव हैं तो नाटक में स्त्रियों के प्रवेश करने का विधान हुआ।

दैत्यों ने नाटक के समय उपद्रव शुरू किया। उनसे बचाव के लिये रंगपूजा की विधि का समावेश हुआ। इसकी बड़ी विस्तृत विधि 'नाट्य-शास्त्र' में बताई गई है। इस आडम्बरपूर्ण विधान से नाटक में यज्ञ का गौरव आ गया। पहले नगाड़ा बजाकर नाटक आरम्भ होने की सूचना देने का विधान है। फिर गायक और वादक लोग यथास्थान बैठ जाते थे, सम्मिलित गान आरम्भ होता था। मृदंग, वीणा, वेणु आदि वाद्यों के साथ नर्तकी का नूपुर झनकार कर उठता था और इस प्रकार नाटक के उत्थापन की विधि सम्पन्न होती थी। आधुनिक पण्डितों में इसके बारे में मतभेद है कि यह परदे के पीछे की क्रिया है या बाहर अर्थात् रंग-भूमि की। मतभेद का कारण सदा ग्रीक रंगमंच की बात सोच-सोचकर भारतीय रंगमंच को समझने की अवांछित चेष्टा है। शुरू में ही अव-तरण या रंगावतरण का उल्लेख होने से स्पष्ट है कि यह क्रिया रंगभूमि में ही होती थी। फिर सूत्रधार का प्रवेश होता था, उसके एक ओर गड्डए में पानी लिए भृङ्गारधर होता था और दूसरी ओर विघ्नों को जर्जर करने वाली पताका लिए जर्जरधर होता था। इन दो परि-पार्श्वकों के साथ सूत्रधार पाँच पग आगे बढ़ता था। परन्तु यह बढ़ना साधारण बात न थी, उसमें विशेष गौरवपूर्ण अभिनय हुआ करता था। फिर सूत्रधार भृङ्गार से जल लेकर आचमन, प्रोक्षण आदि करके पवित्र हो लेता था। फिर एक विशेष आडम्बरपूर्ण भंगिमा के साथ विघ्न को जर्जर करने वाले जर्जर नामक ध्वज को उत्तोलित करता था और इन्द्र तथा अन्य देवताओं की स्तुति करता था। वह दाहिने पैर के अभिनय से शिव को और वाम पैर के अभिनय से विष्णु को नमस्कार करता था।

पहला पुरुष का और दूसरा स्त्री का पद माना जाता था। एक नपुंसक पद का भी विधान है, इसमे दाहिने पैर को नाभि तक उत्क्षिप्त कर लेने का इस नपुंसक पद से निर्देश है। इस नपुंसक पद से वह ब्रह्मा को नमस्कार करता था, फिर यथाविधि वह चार प्रकार के पुष्पो से जर्जर की पूजा करता था। वह वाद्य-यन्त्रों की भी पूजा करता था और तब जाकर नान्दी-पाठ होता था। सब देवताओं को वह नमस्कार करता था और उनसे कल्याण की प्रार्थना करता था। वह राजा की विजय-कामना करता था, दर्शको मे धर्म-वृद्धि होने की शुभाशंसा करता था, कवि या नाटककार के यशोवर्धन की भी वह कामना करता था। प्रत्येक शुभ कामना के बाद पारिपार्श्वक लोग 'ऐसा ही हो' (एवमस्तु) कहकर प्रतिवचन देते थे और इस प्रकार नान्दी-पाठ का आडम्बरपूर्ण कार्य सम्पन्न होता था।

इस प्रसंग मे हम 'नाट्य-शास्त्र' मे से केवल मुख्य मुख्य क्रियाओं का संग्रह कर रहे हैं। नान्दी-पाठ तक की क्रिया बहुत विस्तृत है। इस नान्दी-पाठ को 'नाट्य-शास्त्र' बहुत महत्त्व देता है। अस्तु, जब नान्दी-पाठ हो जाता था तो फिर शुष्कावकृष्टा विधि के बाद सूत्रधार एक ऐसा श्लोक-पाठ करता था जिसमे अवसर के अनुकूल बातें होती थी, अर्थात् वह या तो जिस देवता-विशेष की पूजा के अवसर पर नाटक खेला जा रहा हो उस देवता की स्तुति का श्लोक होता था, या फिर जिस राजा के उत्सव पर अभिनय हो रहा था उसकी स्तुति का। या फिर वह ब्रह्मा की स्तुति का पाठ करता था, फिर जर्जर के सम्मान के लिये भी वह एक श्लोक पढ़ता था और फिर चारी नृत्य शुरू होता था। इसकी विस्तृत व्याख्या और विधि 'नाट्य-शास्त्र' के बारहवें अध्याय मे दी हुई है। यह चारी का प्रयोग पार्वती की प्रीति के उद्देश्य से किया जाता था, क्योंकि पूर्वकाल मे शिव ने इस विशेषभंगी से ही पार्वती के साथ क्रीडा की थी। इस सविलास अंगविचेष्टता-रूप चारी के बाद महाचारी का विधान भी 'नाट्य-शास्त्र' मे दिया हुआ है। इस समय सूत्रधार जर्जर या ध्वजा को पारिपार्श्विकों के हाथ मे दे देता था। फिर भूतगण की

गीति के लिए ताण्डव का भी विधान है। फिर विदूषक आकर कुछ ऐसी ऊल-जलूल बातें करता था जिससे सूत्रधार के चेहरे पर स्मित हास्य छा जाता था और फिर प्ररोचना होती थी, जिससे नाटक के विषय-वस्तु अर्थात् किसकी कौनसी हार या जीत की कहानी अभिनीत होने वाली है, ये सब बातें बता दी जाती थी, और तब वास्तविक नाटक शुरू होता था। शास्त्र मे ऊपर लिखी गई बातें विस्तारपूर्वक कही गई हैं। परन्तु साथ ही यह भी कहा गया है कि इस क्रिया को सक्षेप म भी किया जा सकता है। अगर इच्छा हो तो और भी विस्तारपूर्वक करने का निर्देश देने में भी शास्त्र चूकता नहीं। ऊपर बतायी गई क्रियाओ से यह विश्वास किया जाता था कि अप्सराएँ, गन्धर्व, दैत्य, दानव, राक्षस, गुह्यक, यक्ष या अन्यान्य देवगण और रुद्रगण प्रसन्न होते है और नाटक निर्विघ्न समाप्त होता है। 'नाट्य शास्त्र' के बाद के इसी विषय के लक्षण-ग्रन्थो में यह विधि इतनी विस्तारपूर्वक नहीं कही गई है। 'दशरूपक' तथा 'साहित्यदर्पण' आदि मे तो बहुत सक्षेप मे इसकी चर्चा भर कर दी गई है।[1] इस बात से यह अनुमान होता है कि बाद को इतने विस्तार और

[1] उदाहरण के लिए दशरूपक को लिया जा सकता है। वहाँ पूर्वरंग का तो नाममात्र से उल्लेख है। पूर्वरंग का विधान करके जब सूत्रधार चला जाता है तो उसी के समान वेश वाला नट (स्थापक) काव्यार्थ की स्थापना करता है। उसकी वेश-भूषा कथावस्तु के अनुरूप होती है, अर्थात् यदि कथावस्तु दिव्य हुई तो वेश भी दिव्य और मर्त्य-लोक की हुई तो वेश भूषा भी तदनुरूप। सर्वप्रथम उसे काव्यार्थ-सूचक मधुर श्लोकों से रंग स्थल के सामाजिकों की स्तुति करनी चाहिए। फिर उसे किसी ऋतु के वर्णन द्वारा भारती वृत्ति का प्रयोग करना चाहिए। भारती वृत्ति संस्कृत-बहुल वाग्व्यापार है। इसके चार भेद होते हैं—(१) प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख या प्रस्तावना। वीथी और प्रहसन तो रूपकों के भेद हैं। वैसे, वीथी मे बताये हुए सभी अंग आमुख मे भी उपयोगी हैं।

आडम्बर के साथ यह क्रिया नहीं होती होगी। विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण' से इतना स्पष्ट ही हो जाता है कि उनके जमाने में इतनी दि.गुत

प्ररोचना, नाटक में खेले जाने वाले अर्थ की प्रशंसा है, उसका उद्देश्य होता है सामाजिकों को नाटकीय कथावस्तु की ओर उन्मुख करना। आमुख या प्रस्तावना में सूत्रधार (या स्थापक) नटी, मार्ष (पारिपार्श्विक) या विदूषक से ऐसी विचित्र उक्तियों में बात करता है जिससे नाटक का प्रस्तुत विषय अनायास खिंच आता है। तीन प्रकार से यह बात होती है। सूत्रधार या स्थापक कोई ऐसी बात कह देता है जिसका साम्य नाटक की प्रस्तावित वस्तु से होता है कि कोई पात्र उसी वाक्य को कहता हुआ रंगमंच पर आ जाता है (कथोद्घात), या वह ऋतु-वर्णन के बहाने श्लेष से ऐसा कुछ कहत है जिससे पात्र के आगमन की सूचना मिल जाती है (प्रवृत्तक' या वह कहता है—'यह देखो वह आ गया', और पात्र मंच पर जाता है (प्रयोगातिशय)। फिर वह वीथी के बताए हुए तेरह । का भी सहारा लेता है। ये तेरह अंग विशेष प्रकार की उक्तिय हैं। ये हैं—

(१) उद्घातक (गूढ़ प्रश्नोत्तर), (२) अवलगित (एक-दूसरे से सटे ुए कार्यों के सूचक वाक्य), (३) प्रपंच (हँसाने वाली पारस्परिक मिथ्या स्तुति), (४) त्रिगत (शब्द साम्य से अनेक अर्थों की योजना), (५) छलन (चिकनी-चुपडी से बहकाना), (६) वाक्केली (आधा कहकर बाकी को भाँप लेने योग्य छोड़ देना), (७) अधिबल (बढ़-बढ़कर बातें करना), (८) गण्ड (सम्बद्ध से भिन्न का उपस्थित हो जाना), (९) अवस्कन्दित (सरस बात कहकर मुकरने का प्रयत्न), (१०) नालिका (गूढ़ वचन), (११) असत्प्रलाप (ऊट-पटाँग, ढकोसला), (१२) व्याहार (हँसाने के लिए कुछ का कुछ कह देना) और (१३) मृदव (दोष को गुण और गुण को दोष बता देना)।

क्रिया नही होती थी। जो हो, सन् ईस्वी के पहले और बहुत बाद भी इस प्रकार की विधि रही जरूर है।

यहाँ तक 'नाट्यवेद' सीधा-सादा ही था। 'नाट्य-शास्त्र' के चौथे अध्याय मे इसमे एक और क्रिया के जोडने की कथा है। वेदो से गृहीत पाठ्य, गीत, अभिनय और रस वाले 'नाट्य-वेद' मे ब्रह्मा ने पहली बार इतिहास जोडा, दूसरी बार कैशिकी वृत्ति के साथ स्त्रियो का प्रवेश हुआ और तीसरी बार दैत्यजनित बाधा को दूर करने के उद्देश्य से रग-पूजा की विधि जोडी गई। अब इतना हो जाने के बाद भरत ने 'अमृत-मन्थन' का नाटक खेला। 'नाट्य-शास्त्र' की कुछ प्रतियो मे इसे 'समवकार' कहा गया है, कुछ मे नही कहा गया है। ब्रह्मा ने फिर इस नाट्य-प्रयोग को शिवजी को दिखाने के लिए कहा। शिवजी ने देखा और प्रसन्न हुए। उन्होने ब्रह्मा से कहा कि तुमने जो इस नाट्य की सृष्टि की है वह यशस्य है, शुभ है, पुण्य है और बुद्धि विवर्धक भी है। परन्तु मैंने सन्ध्या-काल मे नृत्य करते समय 'नृत्त' को स्मरण किया है, जो अनेक करणो से सयुक्त है और अगहारो से विभूषित है। पूर्वरग की तुम्हारी विधि शुद्ध है, इसमे इस नृत्त को जोड दोगे तो वह 'चित्र' हो जाएगा, अर्थात् उसमे वैचित्र्य आ जाएगा। फिर शिव ने करणो और अगहारो की विधि बताई और ब्रह्मा ने ताण्डव-नृत्य का भी नाटक मे समावेश किया। यह चौथा सस्कार था। भारतीय परम्परा के अनुसार इन चार कक्षाओ का अतिक्रमण करने के बाद 'नाट्य-शास्त्र' पूर्णाङ्ग हुआ। इसे ऐतिहासिक विकास कहा जा सकता है।

४. नाट्य-शास्त्र किसके लिए ?

भारतीय 'नाट्य शास्त्र' तीन प्रकार के लोगो को दृष्टि मे रखकर लिखा गया है। 'दशरूपक' आदि परवर्ती ग्रन्थो की तरह वह केवल नाटक लिखने वाले कवियो के लिये मार्गदर्शक ग्रन्थ-मात्र नही है। सच पूछा जाए तो वह अभिनेताओ के लिये ही अधिक है, नाटककारो और

नाटक समझने वाले सहृदयों के लिये कम । जब तक 'नाट्य-शास्त्र' के इस रूप को नही समझा जाएगा, तब तक इस विशाल ग्रन्थ के महत्व का अनुभव नही किया जा सकेगा । सबसे पहले 'नाट्य-शास्त्र' नाटक के अभिनेताओं को दृष्टि मे रखकर लिखा गया । इस ग्रन्थ में करण, अगहार, चारी आदि की विधियाँ, जो विस्तारपूर्वक समझायी गई है नृत्य, गीत और वेश-भूषा का जो विस्तृत विवेचन है, वह भी अभिनेताओं को ध्यान मे रखकर किया गया है । रगमच का विधान अभिनेताओ की सुविधा को ही दृष्टि म रखकर किया जाता था । साधारणत रगमच या प्रेक्षागृह तीन प्रकार के होते थ । जो बहुत बडे होते थे वे देवताओं के प्रेक्षागृह कहलाते थे और १०८ हाथ लम्बे होते थे दूसरे राजाओ के प्रेक्षागृह होते थे जो ६४ हाथ लम्बे और इतने ही चौड होते थे तीसरे प्रकार के प्रेक्षागृह त्रिभुजाकार होते थे और उनकी तीनों भुजाओं की लम्बाई ३२ हाथ होती थी । सम्भवत दूसरी श्रेणी के प्रेक्षागृह ही अधिक प्रचलित थ । ऐसा जान पडता है कि राजभवनो म और बडे बडे समृद्धिशाली भवनो मे ऐसे प्रेक्षागृह स्थायी हुआ करते थे । 'प्रतिमा नाटक' के आरम्भ मे ही राजभवन म नेपथ्यशाला की बात आई है । राजा रामचन्द्र के अन्त पुर मे एक नेपथ्यशाला थी, जहाँ रगभूमि के लिए वल्कल आदि सामग्री रखी हुई थी । साधारण नागरिक विवाह तथा अन्य उत्सवो के समय अस्थायी रूप से छोटी-छोटी प्रेक्षणशालाएँ, जो तीसरी श्रेणी की हुआ करती थी, बनवा लिया करते थे । प्रेक्षणशालाओ का निर्माण अभिनेता की सुविधा के लिए हुआ करता था । इस बात का ध्यान रखा जाता था कि रगभूमि मे अभिनय करने वालो की आवाज अन्तिम किनारों तक अनायास पहुँच सके और सहृदय दर्शकगण उनकी प्रत्येक भाव-भगिमा को आसानी से देख सकें ।

अभिनव भारती से पता चलता है कि नाट्य-शास्त्र के पूर्ववर्ती टीकाकार ऐसा ही मानते थे कि यह शास्त्र अभिनेता, कवि और सामाजिक

को शिक्षा देने के लिए लिखा गया है। पर स्वयं अभिनवगुप्त ऐसा नहीं मानते। उनका कहना है कि नाट्य-शास्त्र केवल कवियों और अभिनेताओं को शिक्षित करने के उद्देश्य से ही बना था। उनका मत आरम्भ के पांच प्रश्नों के विश्लेषण पर आधारित है। लेकिन पूरे नाट्य-शास्त्र को पढ़ने पर पूर्ववर्ती टीकाकारों की बात ही मान्य जान पड़ती है।

'नाट्य-शास्त्र' रंगमंच के निर्माण को बहुत महत्त्व देता है। भूमि-निर्वाचन से लेकर रंगमंच की क्रिया तक वह बहुत सावधानी से सँभाला जाता था। सम, स्थिर और कठिन भूमि तथा काली या गौर वर्ण की मिट्टी शुभ मानी जाती थी। भूमि को पहले हल से जोता जाता था। इसमें से अस्थि, कील, कपाल, तृण, गुल्मादि को साफ किया जाता था, उसे सम और पटसर बनाया जाता था और तब प्रेक्षागृह के नापने की विधि शुरू होती थी। 'नाट्य-शास्त्र' को देखने से पता चलता है कि प्रेक्षागृह का नापना बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य समझा जाता था। माप के समय सूत्र का टूट जाना बहुत अमंगल-जनक समझा जाता था। सूत ऐसा बनाया जाता था, जो सहज ही न टूट सके। वह या तो कपास से बनता था या बेर की छाल से बनता था या मूंज से बनता था और किसी वृक्ष की छाल की मजबूत रस्सी भी काम में लाई जा सकती थी। ऐसा विश्वास किया जाता था कि यदि सूत आधे से टूट जाए तो स्वामी की मृत्यु होती है, तिहाई से टूट जाए तो राज-कोप की आशंका होती है, चौथाई से टूटे तो प्रयोक्ता का नाश होता है? हाथ-भर से टूटे तो कुछ सामग्री घट जाती है। इस प्रकार सूत्र-धारण का काम बहुत ही महत्त्व का कार्य समझा जाता था। तिथि, नक्षत्र, करण आदि की शुद्धि पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता था और इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता था कि कोई कषाय वस्त्रधारी, हीन वपु, वा विकलांग पुरुष मण्डप-स्थापना के समय अचानक आकर अशुभ फल न उत्पन्न कर दे। खम्भा गाड़ने में भी बड़ी सावधानी बरती जाती थी। खम्भा हिल गया, खिसक गया, या काँप गया तो अनेक प्रकार के उपद्रवों की सम्भावना मानी

जाती थी। रंगशाला के निर्माण की प्रत्येक क्रिया में सावधानी का डर लगा रहता था। पद-पद पर पूजा, प्रायश्चित्त और ब्राह्मण-भोजन की आवश्यकता पड़ती थी। भित्ति-कर्म, माप-जोख, चूना पोतना, चित्र-कर्म, खम्भा गाड़ना, भूमि-शोधन प्रभृति सभी क्रियाएँ बड़ी सावधानी से और आशंका के साथ की जाती थीं। इन बातों को जाने बिना यह समझना बड़ा कठिन होगा कि सूत्रधार का पद इतना महत्वपूर्ण क्यों है। उसकी जरा-सी असावधानी अभिनेताओं के सर्वनाश का कारण हो सकती है। नाटक की सफलता का दारमदार सूत्रधार पर रहता है।

राजाओं की विजय-यात्राओं के पड़ाव पर भी अस्थायी रंगशालाएँ बना ली जाती थीं। इन शालाओं के दो हिस्से हुआ करते थे। एक तो जहाँ अभिनय हुआ करता था वह स्थान और दूसरा दर्शकों का स्थान जिसमें भिन्न-भिन्न श्रेणियों के लिए उनकी मर्यादा के अनुसार स्थान नियत हुआ करते थे। जहाँ अभिनय होता था, उसे रंगभूमि (या संक्षेप में 'रंग') कहा करते थे। इस रंगभूमि के पीछे तिरस्करणी या परदा लगा दिया जाता था। परदे के पीछे के स्थान को नेपथ्य कहा करते थे। यहीं से सज-धजकर अभिनेतागण रंगभूमि में उतरते थे। 'नेपथ्य' शब्द (नि+पथ्+य) में 'नि' उपसर्ग को देखकर कुछ पण्डितों ने अनुमान किया है कि नेपथ्य का धरातल रंगभूमि की अपेक्षा नीचा हुआ करता था, पर वस्तुतः यह उल्टी बात है। असल में नेपथ्य पर से अभिनेता रंगभूमि में उतरा करते थे। सर्वत्र इस क्रिया के लिये 'रंगावतार' (रंगभूमि में उतरना) शब्द ही व्यवहृत हुआ है।

५. नाट्यधर्मी और लोकधर्मी रूढ़ियाँ

'नाट्य-शास्त्र' नाट्यधर्मी रूढ़ियों का विशाल ग्रन्थ है। इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि बहुत दीर्घकाल से प्रचलित अनेक प्रकार की रूढ़ियाँ इसमें संगृहीत हुई हैं। इसीलिये 'नाट्य-शास्त्र' का जो

लक्ष्यीभूत श्रोता है उसे लोक और शास्त्र का बहुत अच्छा ज्ञाता होना चाहिए। उसे बहुत-से इंगितों का इतना सूक्ष्म ज्ञान होना चाहिए कि वह अभिनेता की एक-एक अंगुली के घुमाव का संकेत ग्रहण कर सके। उसे 'रसशास्त्र' के नियमों का बहुत अच्छा ज्ञान होना चाहिए। अभिनेताओं को विविध प्रकार के अभिनय समझाने के बहाने 'नाट्य-शास्त्र' का रचयिता अपने लक्ष्यीभूत श्रोताओं को कितनी ही बातें बता जाता है। पन्द्रहवें अध्याय में दो रूढ़ियों की चर्चा है—एक नाट्य-धर्मी, दूसरी लोकधर्मी या लौकिकी (१५-६६)। लोकधर्मी, लोक का शुद्ध और स्वाभाविक अनुकरण है। इसमें विभिन्न भावों का संकेत करने वाली आंगिक अभिनय-भंगिमाओं का समावेश नहीं किया जाता (अंग-लीला विवर्जितम्)। परन्तु अत्यन्त सांकेतिक वाक्य और क्रियाएँ, लीलागहार, नाट्योक्त रूढ़ियाँ—जैसे जनान्तिक, स्वगत, आकाशभाषित आदि, शैल, यान, विमान, ढाल, तलवार आदि के संकेत देने वाली रूढ़ियाँ—तथा अमूर्त भावों का संकेत करने वाले अभिनय नाट्यधर्मी हैं। लोक का जो सुख-दुःख-क्रियात्मक आंगिक अभिनय है वह भी नाट्यधर्मी है। संक्षेप में रंगमंच पर किए जानेवाले वे संकेतमूलक आंगिक अभि-नय नाट्यधर्मी हैं जो सीधे अनुकरण के विषय नहीं हैं।

संस्कृत-नाटकों में 'अभिरूपभूयिष्ठा' और 'गुणग्राहिणी' कहकर दर्शक-मण्डली का जो परिचय दिया गया है वह दर्शकों में इन्हीं नाट्य-धर्मी गूढ़ अभिप्रायों को समझने की योग्यता को लक्ष्य करके। ये दर्शक शिक्षित होते थे तब तो निस्सन्देह अभिनय की सभी बारीकियों को समझ सकते थे। परन्तु जो पढ़े लिखे नहीं होते थे वे भी इन रूढ़ियों को आसानी से समझ लेते थे। भारतवर्ष की यह विशेषता रही है कि ऊँची-से ऊँची चिन्तन धारा अपने सहज रूप में सामाजिक जीवन में बद्धमूल हो जाया करती थी। शास्त्रीय विचार और तर्क-शैली तो सीमित क्षेत्रों में ही प्रचलित होती थी, किन्तु मूल सिद्धान्त साधारण जनता में भी ज्ञात होते थे। यही कारण है कि भारतवर्ष में निरक्षर व्यक्ति भी

ऊंचे तत्त्व-ज्ञान की बात आसानी से समझ लेता था। मध्यकाल के निरक्षर सन्तों ने तत्त्व-ज्ञान की जो बातें कही हैं उन्हें देखकर आधुनिक शिक्षित व्यक्ति भी चकित हो जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि जिन दिनों 'नाट्य-शास्त्र' की रचना हुई थी उन दिनों नाट्यधर्मी रूढ़ियां साधारण दर्शकों को भी ज्ञात थीं। आजकल जिसे 'क्रिटिकल आडिएन्स' कहते हैं वही 'नाट्य-शास्त्र' का लक्ष्यीभूत श्रोता है। २७वें अध्याय में 'नाट्य-शास्त्र' में स्पष्ट कहा गया है कि नाटक का लक्ष्यीभूत श्रोता कैसा होना चाहिए। उसकी सभी इन्द्रियां दुरुस्त होनी चाहिए, जो व्यक्ति शोकावह दृश्य को देखकर शोकाभिभूत न हो सके और आनन्दजनक दृश्य देखकर उल्लसित न हो सके, जो इतना संवेदनशील न हो कि दैन्य-भाव के प्रदर्शन के समय दीनत्व का अनुभव कर सके, उसे नाट्य-शास्त्र प्रेक्षक की मर्यादा नहीं देना चाहता। उसे देश-भाषा के विधान का जानकार होना चाहिए, कला और शिल्प का विचक्षण होना चाहिए, अभिनय की बारीकियों का ज्ञाता होना चाहिए, रस और भाव का समझदार होना चाहिए, शब्द-शास्त्र और छन्द-शास्त्र के विधानों से परिचित होना चाहिए, समस्त शास्त्रों का ज्ञाता होना चाहिए। 'नाट्य-शास्त्र' यह मानता है कि सबमें सभी गुण हों, यह सम्भव नहीं है। वयस्, सामाजिक स्थिति और शास्त्र-ज्ञान का कम-बेशी होना स्वाभाविक है। फिर भी इसमें अधिक से-अधिक गुणों का समावेश होना चाहिए। जवान आदमी शृंगार-रस की बातें देखना चाहता है, वृद्ध लोग धर्माख्यान और पुराणों का अभिनय देखने में रस पाते हैं। 'नाट्य-शास्त्र' इस रुचि-भेद को स्वीकार करता है। फिर भी वह आशा करता है कि प्रेक्षक इतना सहृदय होगा कि अभिनय के अनुकूल अपने को रसग्राही बना सकेगा।

६. नाट्य-प्रयोग का प्रमाण लोक-जीवन है

यद्यपि 'नाट्य-शास्त्र' नाट्यधर्मी रूढ़ियों का विशाल संग्रह-ग्रन्थ है,

तो भी वह मानता है कि नाटक की वास्तविकता प्रेरणा भूमि और वास्तविक कसौटी भी लोक-चित्त ही है। परवर्ती काल के अलंकार-शास्त्रियों ने इस तथ्य को भुला दिया। परन्तु भरत मुनि ने इस तथ्य पर बड़ा ज़ोर दिया। छब्बीसवें अध्याय में उन्होंने विस्तारपूर्वक अभिनय-विधियों का निर्देश किया है। परन्तु साथ ही यह भी बता दिया गया है कि दुनिया यहीं नहीं समाप्त हो जाती। इस स्थावर-जंगम चराचर सृष्टि का कोई भी शास्त्र कहाँ तक हिसाब बता सकता है। लोक में न जाने कितनी प्रकार की प्रकृतियाँ हैं। नाटक चाहे वेद या अध्यात्म से उत्पन्न हो तो भी वह तभी सिद्ध होता है जब वह लोक सिद्ध हो, क्योंकि नाटक लोक-स्वभाव से उत्पन्न होता है। इसलिये नाट्य-प्रयोग में लोक ही सबसे बड़ा प्रमाण है

वेदाध्यात्मोपपन्नं तु शब्दच्छन्द समन्वितम्।
लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम्।
तस्मात् नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते। (२६-११३)

उन्होंने यहाँ तक कहा है कि जो शास्त्र, जो धर्म, जो शिल्प और जो क्रियाएं लोकधर्मप्रवृत्त हैं, वे ही नाट्य कही जाती हैं

यानि शास्त्राणि ये धर्मा यानि शिल्पानि या क्रिया।
लोकधर्मप्रवृत्तानि तानि नाट्यं प्रकीर्तितम्॥

इसलिए लोक प्रवृत्ति नाटक की सफलता की मुख्य कसौटी है। फिर भी अभिनेता को उन बारीक विधियों का ज्ञान होना चाहिए जिनके द्वारा वह सहृदय श्रोता के चित्त में आसानी से विभिन्न शीलों और प्रकृति की अनुभूति करा सके। इसलिये जहाँ तक अभिनेता का प्रश्न है उसे 'प्रयोगज्ञ' अवश्य होना चाहिए। वाचिक, नेपथ्य-सम्बन्धी और आंगिक जितने भी अभिनय शास्त्र में बताए गए हैं वे अभिनेता को प्रयोगज्ञ बनाने की दृष्टि से। क्योंकि जो अच्छा प्रयोग नहीं जानता वह सिद्धि भी नहीं प्राप्त कर सकता। शास्त्रकार ने कहा है

गेयास्त्वभिनयाह्यॆते शाङ्नेपथ्यार्थसंश्रयाः ।
प्रयोगे येन कर्तव्या नाटके सिद्धिमिच्छता ॥ (२६-१२२)

कभी-कभी अभिनेताओं में अपने-अपने अभिनय-कौशल की उत्कृष्टता के सम्बन्ध में कलह उपस्थित हो जाता था। साधारणतः ये विवाद दो श्रेणियों के होते थे—शास्त्रीय और लौकिक। शास्त्रीय विवाद का एक सरल उदाहरण कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' में है। इसमें रस, भाव, अभिनय, भगिमा, मुद्राएं आदि विचारणीय होती थीं। कुछ दूसरे विवाद ऐसे होते थे जिनमें लोक-जीवन की चेष्टाओं के उपस्थान पर मतभेद हुआ करता था। ऐसे अवसरों पर 'नाट्य-शास्त्र' प्राश्निक (असेसर) नियुक्त करने का विधान करता है। प्राश्निक के लक्षण 'नाट्य-शास्त्र' में दिए हुए हैं। यदि वैदिक क्रिया-कलाप-विषयक कोई विवाद होता था तो यज्ञविद् कर्मकाण्डी निर्णायक (प्राश्निक) नियुक्त होता था। यदि नाच की भगिमा में विवाद हुआ तो नर्तक निर्णायक होता था। इसी प्रकार छन्द के मामले में छन्दोविद्, पाठ-विस्तार के मामले में वैयाकरण, राजकीय आचरण के विषय में हो तो राजा स्वयं निर्णायक होता था। राजकीय विभव या राजकीय अन्तःपुर का आचरण या नाटकीय सौष्ठव का मामला होता था तो राजकीय दरबार के अच्छे वक्ता बुलाए जाते थे। प्रणाम की भगिमा, आकृति और उसकी चेष्टाएँ, वस्त्र और आचरण का योजना तथा नेपथ्य-रचना के प्रसग में चित्रकारों को निर्णायक बनाया जाता था, और स्त्री-पुरुष के परस्पर-आकर्षण वाले मामलों में गणिकाएँ उत्तम निर्णायक समझी जाती थीं। भृत्य के आचरण के विषय में विवाद उपस्थित हुआ तो राजा के भृत्य प्राश्निक होते थे (२७-६२-६७)। अवश्य ही जब शास्त्रीय विवाद उपस्थित हो जाता था तो शास्त्र के जानकारों की नियुक्ति होती थी। इस प्रकार 'नाट्य-शास्त्र' ने स्पष्ट रूप से निर्देश किया है कि लोकधर्मी विधियों की कसौटी लोक-जीवन ही है।

७. शास्त्र के विभिन्न अंग

जैसा कि ऊपर बताया गया है कि नाट्य-वेद में दो वस्तुएँ हैं— विधि और शास्त्र। पाँचवें अध्याय तक पूर्वरंग की विधि विस्तारपूर्वक बतायी गई है। छठे अध्याय में पूर्वरंग विधि के सुन लेने के बाद मुनियों के पाँच प्रश्नों का उल्लेख है।

१. रस क्या है, और रसत्व का कारण क्या है ?
२. भाव क्या हैं और वे किस वस्तु को भावित करते हैं ?
३. संग्रह किसे कहते हैं ?
४. कारिका क्या है ?
५. निरुक्ति किसे कहते हैं ?

भरत मुनि ने उत्तर में बताया, चूँकि ज्ञान और शिल्प अनन्त हैं इसलिए नाट्य का कोई अन्त नहीं है। लेकिन संक्षेप में सूत्ररूप में नाट्य का रसभावादि संग्रह मैं आप लोगों को बताऊँगा। उन्होंने बताया कि सूत्र और भाष्य में जो अर्थ विस्तारपूर्वक कहे गए हैं उनका संक्षेप में निबन्धन संग्रह कहलाता है और सम्पूर्ण नाट्य-शास्त्र का संग्रह उन्होंने एक श्लोक में बताया। वह श्लोक है :

> रसाभावाह्यभिनया धर्मीवृत्तिप्रवृत्तय.।
> सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रंगं च संग्रहः ॥

अर्थात् नाट्य-शास्त्र के संक्षेप में इतने अंग हैं

१. रस, २ भाव, ३ अभिनय, ४ धर्मी, ५ वृत्ति, ६ प्रवृत्ति, ७ सिद्धि; ८ स्वर; ९ आतोद्य, १०. गान और ११ रंग।

इस संग्रहश्लोक में भरत मुनि ने नाट्य-शास्त्र के ११ अंगों का निर्देश किया है। प्रारम्भ में इनका संक्षेप में विवरण दिया है और बाद में विस्तारपूर्वक व्याख्या की है। वस्तुतः इन ११ विषयों का विवेचन ही शास्त्र है। स्पष्ट जान पड़ता है कि इन श्लोकों के लिखे जाने के पूर्व इन विषयों पर सूत्र, कारिका और भाष्य लिखे जा चुके थे और इन शब्दों की निरुक्ति भी बताई जा चुकी थी। छठे, सातवें

और आठवें अध्याय मे सूत्र भी हैं और कारिकाएँ भी है, प्रत्येक शब्द की निरुक्ति भी बतायी गई है। गद्य मे इन विषयो की जो व्याख्या की गई है वह बहुत-कुछ भाष्य की शैली पर है। कई श्लोको को आनुवश्य कहा गया है। आनुवश्य अर्थात् वश-परम्परा से प्राप्त। स्पष्ट ही नाट्य-शास्त्र अपने पूर्व के एक विशाल नाट्य-साहित्य की स्थिति की सूचना देता है। विस्तारपूर्वक व्याख्या करने के पहले शास्त्रकार ने सक्षेप मे इनकी चर्चा कर दी है। उन्होने बताया है कि शृङ्गार, हास्य आदि आठ रस हैं रति-हास आदि आठ स्थायी भाव हैं इनके अतिरिक्त स्वेद, स्तम्भ आदि आठ सात्त्विक भाव हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर भावो की सख्या ४६ है। काव्य रसिको के निकट य भाव काफी परिचित हैं, अतएव हम उनका नाम नहीं गिना रहे हैं। आगे बताया गया है कि अभिनय चार प्रकार के होते हैं—१ आगिक, २ वाचिक, ३ आहार्य, और ४ सात्त्विक, धर्मी दो हैं—१ लोकधर्मी, २ नाट्यधर्मी, जिन वृत्तियो मे नाट्य प्रतिष्ठित होता है वे चार है—भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी, प्रवृत्तियाँ पाँच है—अवन्ती, दाक्षिणात्या, मागधी, पाचाली और मध्यमा,—सिद्धियाँ दो प्रकार की हैं—दैविकी और मानुषी, षड्ज प्रभृति सात स्वर हैं जो मुख और वेणु दोनो ही से निकलते हैं, आतोद्य चार प्रकार के हैं—तत, अवनद्ध, घन और सुषिर। इनमे तार वाले बाजे तत हैं, मृदगादि अवनद्ध हैं, ताल देने वाले घन हैं और वशी सुषिर (छिद्रयुक्त) हैं। गान पाँच प्रकार के होते हैं—प्रवेश, आक्षेप निष्क्राम्य, प्रासादिक और ध्रुवावेग। रगमच तीन प्रकार के होते है—चतुरस्र, विकृष्ट और मिश्र। सक्षेप मे यही शास्त्र के विषय हैं—

'एवमेषोऽल्पसूत्रार्थो व्यादिश्ये नाट्यसग्रह ।'

इन्ही ११ विषयो के विस्तृत विवेचन को नाट्य-वेद या शास्त्र-प्रथ कहा गया है। यह विधि से भिन्न है। इनके अनेक भेदापभेदो का ज्ञान कराया गया है और युक्तिपूर्वक बताया गया है कि इनका प्रयोग

कब, क्यों और कैसे किया जाना चाहिए। विधि अवश्य करणीय है। उसमें तर्क नहीं किया जा सकता। किन्तु शास्त्र तर्क और ऊहापोह में युक्त है। उसमें शंका और समाधान के लिये स्थान है और बौद्धिक विवेचन की गुञ्जाइश है।

८. वर्तमान नाट्य-शास्त्र

नाट्य-शास्त्र के कई संस्करण प्रकाशित हुए। 'हाल' ने सन् १८६५ में अपने सम्पादित 'दशरूपक' के परिशिष्ट में नाट्य शास्त्र के १८वें, २०वें और ३४वें अध्याय का प्रकाशन कराया था। पी० रेगनाड ने भी नाट्य-शास्त्र के १६वें और १७वें अध्याय और सन् १८८४ में 'रैटोरिके संस्कृते' में ६ठें और ७वें अध्याय का प्रकाशन कराया। 'निर्णयसागर' प्रेस से काव्यमाला सीरीज में पूरा नाट्य-शास्त्र प्रकाशित हुआ और फिर उसके कुछ दिन बाद १९३६ में काशी में पं० बटुकनाथ शर्मा और पं० बलदेव उपाध्याय ने 'काशी संस्कृत सीरीज' (जो प्राय: चौखम्बा संस्कृत सीरीज के नाम से प्रसिद्ध है) में नाट्य-शास्त्र का एक दूसरा संस्करण प्रकाशित कराया। सन् १९२६ में श्री रामकृष्ण कवि ने अभिनवगुप्त की महत्त्वपूर्ण टीका 'अभिनव-भारती' के साथ नाट्य-शास्त्र के प्रथम सात अध्यायों का सम्पादन करके 'गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज' में प्रकाशित कराया। ८वें से १८वें तक के अध्यायों की दूसरी जिल्द सन् १९३४ में प्रकाशित हुई और तीसरी जिल्द भी अब प्रकाशित हो गई है। श्री कवि ने नाट्य-शास्त्र के विभिन्न संस्करणों का तुलनात्मक विवरण अपनी पुस्तक की भूमिका में दिया है। उस भूमिका में और महामहोपाध्याय पं० सी० वी० काने ने अपने 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स' में विस्तारपूर्वक इन संस्करणों में पाए जाने वाले विभिन्न रूपों और पाठ भेदों की चर्चा की है। उससे लगता है कि नाट्य-शास्त्र के पाए जाने वाले विभिन्न रूपों में बहुत अन्तर है।

वर्तमान नाट्य-शास्त्र से यह स्पष्ट है कि नाट्य-शास्त्र की परम्परा बहुत पुरानी है। ६ठे, ७वें तथा अन्य अध्यायों मे भी लम्बे-लम्बे गद्यांश आए हैं, जो निरुक्त और महाभाष्य की शैली मे लिखे गए हैं। कम-से-कम १५ श्लोक और १६ आर्याएं आनुवंश्य अर्थात् वंशानुक्रम से प्राप्त बतायी गई है। कुछ सूत्रानुबद्ध आर्याएं हैं, जो श्लोकरूप मे लिखे हुए सूत्रो की व्याख्या हैं। इन्हें सूत्रानुबद्ध या सूत्रानुविद्ध आर्या कहा गया है। लगभग सौ पद्य ऐसे हैं जिन्हें 'अत्र श्लोका' या 'अत्रार्या' कहकर उद्धृत किया गया है और जिनके बारे मे अभिनव गुप्त ने कहा है कि ये प्राचीन आचार्यों के कहे हुए श्लोक हैं।[1] इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि वर्तमान नाट्य-शास्त्र मे पूर्व-परम्परा के अनेक तत्त्व मिलते हैं। नाट्य-शास्त्र मे कुछ अंश निश्चय ही बहुत पुराना है। उपलब्ध नाट्य-शास्त्र का लेखक स्वीकार करता है कि वह परम्परागत सूत्रो का हवाला दे रहा है, जबकि आरम्भिक अध्यायो मे यह भी कहता है कि यह सबसे पहला प्रयास है। पाणिनि ने अपनी 'अष्टाध्यायी' मे कृशाश्व और शिलालि नाम के दो सूत्र-कर्ताओं का उल्लेख किया है। यह आश्चर्य की बात है कि वर्तमान नाट्य-शास्त्र मे मानो प्रयत्न-पूर्वक इन दो आचार्यों का नाम छोड दिया गया है। सम्भवतः वर्तमान रूप के लेखक या सम्पादक को इस शास्त्र की सर्वप्रथमता सिद्ध करने के लिये यह आवश्यक लगा हो (भाव-प्रकाशन मे वासुकि नाम के एक प्राचीन आचार्य का यह मत उद्धृत किया गया है कि इन्होने भी भावो से उसका उत्पन्न (रस-सम्भव') होना बताया है और प्रमाण-स्वरूप नाट्य-शास्त्र का एक श्लोक उद्धृत किया है,[2] जो वर्तमान नाट्य-शास्त्र मे 'भवन्ति चात्रश्लोका' कहकर उद्धृत किया है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि किसी वासुकि नाम के आचार्य की किसी कृति से वर्तमान नाट्य-शास्त्र का लेखक परिचित अवश्य था,

१. 'अभिनव भारती', जिल्द १, ६, पृ० ३२८।

२ भा० प्र०, पृ० ३६-३७।

परन्तु उनका नाम देना किसी कारणवश उचित नहीं समझा। पाणिनि ने जिन दो आचार्यों का उल्लेख किया है उनकी कुछ बातें भी इन परम्परा-प्राप्त कारिकाओं या सूत्रों में आई हैं या नहीं, यह कहना कठिन है। नन्दिकेश्वर, तण्डु (यह भी अभिनव गुप्त के मत से नन्दिकेश्वर का ही दूसरा नाम है), कोहल आदि आचार्यों का नाम लेकर उल्लेख है और 'गन्धर्ववेद' नामक शास्त्र की भी चर्चा है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वर्तमान नाट्य शास्त्र का लेखक ऐसे लोगों का नामत उल्लेख करने में नहीं हिचकता, जिनकी प्रसिद्धि देव-कोटि के लेखकों में है, परन्तु मनुष्य-कोटि के लेखकों का वह जान-बूझकर नाम नहीं लेना चाहता। उद्देश्य है, शास्त्र की सर्वप्रथमता खण्डित न होने देना। कोहल को मनुष्य-कोटि का आचार्य माना गया है, इस-लिए भविष्यवाणी के रूप में[1] इनका उल्लेख किया गया है और प्रथम अध्याय में इन्हें भरत के पुत्रों में गिनाया गया है।

ऐसा जान पड़ता है कि नाट्य-शास्त्र का कुछ अंश काफी पुराना है। महामहोपाध्याय डॉ० पी० वी० काने का अनुमान है कि वर्तमान नाट्य-शास्त्र का छठा और सातवाँ अध्याय (रसभाव-विवेचन), ८वें से १४वें तक के अध्याय (जिनमें अभिनय का सविस्तर विवेचन है) तथा १७वें से ३५वें तक के अध्याय किसी एक समय ग्रथित हुए थे। छठे और सातवें अध्याय के गद्य-अंश और आर्याएँ सन् ईसवी के दो सौ वर्ष पूर्व लिखी जा चुकी थीं। वर्तमान नाट्य शास्त्र को जब अन्तिम रूप दिया गया तब ये जोड़ी गईं[2]। आगे चलकर उन्होंने बताया है कि सन् ईसवी की तीसरी या चौथी शताब्दी में नाट्य-शास्त्र को नये सिरे से सजाया गया और उसमें सूत्रभाष्य शैली के गद्य, पुरानी आर्याएँ तथा श्लोक और जोड़े गए और नवीन रूप देने वाले सम्पादक ने भी कुछ

---

१ पृ० ३६-६५।

२. पृ० १८।

व्याख्यात्मक कारिकाएँ लिखकर जोड़ी।[1] डॉ० काने ने इसके पक्ष में अनेक प्रमाण दिए हैं जिनको स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं होगी।

ऊपर की विवेचनाओं से यह भी स्पष्ट है कि भरत के नाट्य-शास्त्र का वर्तमान रूप अनेक परम्परा-प्राप्त शास्त्रों का समन्वित रूप है और कुछ परवर्ती भी है। इसका अन्तिम सम्पादन कब हुआ था यह कहना कठिन है, परन्तु सन् ईस्वी की तीसरी शताब्दी तक उसने यह रूप अवश्य ही ले लिया होगा, क्योंकि कालिदास-जैसे नाटककार को इस शास्त्र का जो रूप प्राप्त था वह बहुत-कुछ इसी प्रकार का था। इस बात के लिये विद्वानों ने प्रमाण दिए हैं।

६. नाट्य-शास्त्र के लक्ष्यीभूत पाठक

वर्तमान नाट्य-शास्त्र मूलतः तीन प्रकार के पाठकों को ध्यान में रखकर लिखा गया है। प्रथम (१) और मुख्य लक्ष्य तो अभिनेताओं को शिक्षा देने का है। इन लोगों को नाट्य-शास्त्र में भरत-पुत्र कहता है। नाट्य-शास्त्र का यह भी प्रयत्न है कि अभिनेताओं को सामाजिक दृष्टि से ऊँची मान्यता प्राप्त हो। दूसरे (२) लक्ष्यीभूत श्रोता, प्रेक्षक या सामाजिक हैं। भारतीय नाट्य-शास्त्र प्रेक्षकों में अनेक गुणों की आशा रखता है। संस्कृत-नाटकों और शास्त्रीय संगीत और अभिनय के द्रष्टा को कैसा होना चाहिए, इस विषय में नाट्य-शास्त्र ने स्पष्ट रूप में कहा है (२७-८१ और आगे) कि उसकी सभी इन्द्रियाँ दुरुस्त होनी चाहिएँ, ऊहापोह में उसे पटु होना चाहिए (अर्थात् जिसे आजकल 'क्रिटिकल फ़ाइएस' कहते हैं, वैसा होना चाहिए), दोष का जानकार और रागी होना चाहिए। जो व्यक्ति शोक से शोकान्वित न हो सके और आनन्द-जनक दृश्य देखकर आनन्दित न हो सके, अर्थात् जो संवेदनशील न हो उसे नाट्य-शास्त्र प्रेक्षक या दर्शक का पद नहीं देना चाहता। इस

१. पृ० २२।

उद्देश्य की सिद्धि के लिए नाट्य-शास्त्र अनेक प्रकार की नाट्य-रूढ़ियों का विवेचन करता है और ऐसे इंगित बताता है जिससे दर्शक रंगमंच पर अभिनय करने वाले व्यक्तियों के आकार, इंगित, चेष्टा और भाषा द्वारा बहुत-कुछ अनायास ही समझ ले। नाट्य-शास्त्र में ऐसी नाट्य-रूढ़ियों का विस्तारपूर्वक संग्रह किया गया है जो दर्शक को रसानुभूति में सहायता पहुँचा सकती हैं। जैसा कि ऊपर बताया गया है, अभिनव-गुप्त सामाजिक को नाट्य-शिक्षा का उपयुक्त पात्र नहीं मानते। पर यह बात संगत नहीं जान पड़ती। तीसरा (३) लक्ष्यीभूत श्रोता कवि या नाटककार है। शास्त्रकार नाटकों के निबन्धन की विधियाँ बताता है और कथा के विभिन्न अवयवों और अभिनय की विभिन्न चेष्टाओं के प्रयोग से चरित्र और घटना-प्रवाह के परस्पर आघात-प्रत्याघात द्वारा विकसित होने वाले नाटकीय रसानुभूति के सूक्ष्म कौशलों का परिचय कराता है। वह आशा करता है कि कवि या नाटककार इन सूक्ष्म कौशलों का अच्छा जानकार होगा और कथा का ऐसा निबन्धन करेगा कि कुशल अभिनेता और सहृदय पाठक-प्रेक्षक दोनों को रस ग्रहण करने में आसानी होगी। परवर्ती-काल में नाट्य-शास्त्र के बताए हुए विस्तृत नियमों का संक्षेपीकरण हुआ और अभिनेता तथा पाठक की अपेक्षा कवि या नाटककार को ही ध्यान में रखकर छोटे-छोटे ग्रन्थों की रचना की गई है। 'दश-रूपक' ऐसा ही ग्रन्थ है। उसका मुख्य उद्देश्य नाटककारों को नाट्य-निबन्धन की विधि बताना है। अभिनेता उसकी दृष्टि में बहुत कम है और सहृदय प्रेक्षक बहुत गौण रूप से हैं। आगे इसी संक्षेपी-करण की प्रवृत्ति पर विचार किया जाएगा।

१०. परवर्ती नाट्य-ग्रन्थ

कई परवर्ती आचार्यों ने नाट्य-शास्त्र की टीका या भाष्य लिखे थे। इनमें अभिनवगुप्त की 'अभिनव-भारती' प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ अब प्रकाशित हो चुका है। कीर्तिधर, मातृगुप्त, उद्भट, शङ्कुक आदि की

टीकाओं की चर्चा तो मिल जाती है, पर वे अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं।

नाट्य-शास्त्र (चौखम्भा संस्करण) के बीसवें अध्याय में दशरूप-विधान इक्कीसवें में सन्धियाँ और उनके अंगों तथा बाईसवें अध्याय में वृत्तियों का विस्तारपूर्वक उल्लेख है। इन अध्यायों से सामग्री लेकर कई आचार्यों ने ग्रन्थ लिखे थे। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध है, धनंजय का 'दशरूपक', जिस पर उनके भाई धनिक की व्याख्या (वृत्ति) है। ये दोनों आचार्य भाई थे और सन् ईसवी की दसवीं शताब्दी के अन्त में हुए थे। इनके अतिरिक्त सागर नंदी का 'नाटक लक्षण रत्नकोश' (११वीं शताब्दी) रामचन्द्र और गुणचन्द्र का 'नाट्यदर्पण' (१२वीं शताब्दी का अन्त्य भाग), शारदातनय का 'भाव प्रकाशन' (१३वीं शती), शिंगभूपाल की 'नाटक-परिभाषा' (१४वीं शताब्दी), रूप गोस्वामी की 'नाटक-चन्द्रिका' (१५-१६वीं शताब्दी), सुन्दर मिश्र का 'नाट्य-प्रदीप' (१७वीं शताब्दी) आदि ग्रन्थ हैं। इन सबका आधार भरत मुनि का नाट्य-शास्त्र ही है। भोजराज (११वीं शताब्दी) ने 'शृंगार प्रकाश' और 'सरस्वती कण्ठाभरण' में अन्य काव्यांगों के साथ नाटक का भी विवेचन किया है। हेमचन्द्राचार्य के 'काव्यानुशासन' में भी कुछ नाटकों की विवेचना है। विद्यानाथ के 'प्रतापरुद्र यशोभूषण' और विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' में काव्य के अन्य अंगों के विवेचन के साथ नाट्य-विवेचन है। अन्तिम ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध है।

इन सभी ग्रन्थों का मुख्य उद्देश्य कवि को नाटक लिखने की विधि बताना है। इनमें कथावस्तु, नायक-नायिका, रस-विचार, रूपक-लक्षण आदि का विस्तार है। यद्यपि इन सबका मूल भरत का नाट्य-शास्त्र ही है तथापि इनमें परस्पर मतभेद भी कम नहीं है। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध है 'दशरूपक'।

११. दशरूपक

'दशरूपक' के लेखक विष्णु-पुत्र धनञ्जय हैं जो मुञ्जराज (९७४-९९५ ई०) के सभासद थे। 'भरत के नाट्य-शास्त्र की अति विस्तीर्ण

सम्भवतः इन्होंने इस ग्रन्थ में नाट्य-शास्त्रीय उपयोगी बातों को संक्षिप्त करके कारिकाओं में यह ग्रन्थ लिखा। कुछ अपवादों को छोड़ दिया जाए तो अधिकांश कारिकाएँ अनुष्टुप् छन्दों में लिखी गई हैं। संक्षेप में लिखने के कारण ये कारिकाएँ दुरूह भी हो गई थीं। इसीलिये उनके भाई धनिक ने कारिकाओं का अर्थ स्पष्ट करने के उद्देश्य से इस ग्रन्थ पर 'अवलोक' नामक वृत्ति लिखी। यह वृत्ति न होती तो धनञ्जय की कारिकाओं का समझना कठिन होता। इसलिये पूरा ग्रन्थ वृत्ति-सहित कारिकाओं को ही समझना चाहिए। धनञ्जय और धनिक दोनों का ही महत्त्व है।

भरत मुनि के नाट्य शास्त्र के बीसवें अध्याय को 'दशरूप विकल्पन' (२०.१) या 'दशरूप विधान' कहा गया है। इसी आधार पर धनञ्जय ने अपने ग्रन्थ का नाम 'दशरूपक' दिया है। नाट्य शास्त्र में निम्नलिखित दस रूपकों का विधान है—नाटक, प्रकरण, अंक (उत्सृष्टिकांक), व्यायोग, भाण, समवकार, वीथी, प्रहसन, डिम और ईहामृग। एक ग्यारहवें रूपक 'नाटिका' की चर्चा भी भरत के नाट्य-शास्त्र और दशरूपक में आई है। परन्तु उसे स्वतन्त्र रूपक नहीं माना गया है। भरत ने नाटिका को नाटक और प्रकरण में अन्तर्भुक्त कर दिया है (२०.६४)। परवर्ती आचार्यों में रामचन्द्र और गुणचन्द्र ने अपने नाट्य-दर्पण में नाटिका और प्रकरणिका को दो स्वतन्त्र रूपक मानकर रूपकों की संख्या १२ कर दी है तथा विश्वनाथ ने नाटिका और प्रकरणी को उपरूपक मानकर रूपकों की संख्या दस ही मानी है। धनञ्जय ने भरत का अनुसरण करते हुए नाटिका का उल्लेख तो कर दिया है पर उसे स्वतन्त्र रूपक नहीं माना। रूपकों के भेदक तत्त्व हैं वस्तु, नायक और रस। नाटिका में ये तीनों नाटक और प्रकरण से भिन्न नहीं हैं, इसलिए भरत मुनि ने (२०, ६२-६४) में इसे नाटक और प्रकरण के भावों पर आश्रित कर दिया था। धनञ्जय ने उसी का अनुसरण किया है। इस प्रकार रूपकों की संख्या दस बताए रखकर वे मंगलाचरण में विष्णु के

दस (प्रकार) रूपों के साथ समानता बताकर श्लेष करने का प्रयास भी पा गए है।

१२. रूपकों के भेदक तत्त्व

जैसा कि ऊपर बताया गया है, धनञ्जय ने कथावस्तु, नायक और रस को रूपकों का भेदक तत्त्व माना है। उन्होंने अपने ग्रन्थ को चार प्रकाशों मे विभक्त किया है। इनमे प्रथम मे कथावस्तु का विवेचन है, दूसरे मे नायक, तीसरे मे पूर्वांग और भारती आदि वृत्तियों और चौथे मे रस का विवेचन किया गया है।

यदि वस्तु, नेता और रस की दृष्टि से रूपकों के भेद की कल्पना की जाय तो स्पष्ट ही बहत्तर मोटे भेद स्वीकार करने पड़ेंगे। क्योंकि धनञ्जय के मत से कथावस्तु तीन प्रकार की होती है—(१) प्रख्यात (इतिहास-गृहीत), (२) उत्पाद्य (कल्पित) और (३) मिश्र, नेता या नायक भी तीन प्रकार के होते है—(१) उत्तम, (२) मध्यम और (३)नीच। स्वभाव से ये चार प्रकार के भी कहे गए हैं—(१)उदात्त, (२) उद्धत, (३) ललित और (४) प्रशान्त। पर तीन भेद—उत्तम, मध्यम, नीच—प्राथमिक है। रस आठ हैं—शृंगार, वीर, करुण, बीभत्स, रौद्र, हास्य, अद्‌भुत और भयानक। धनञ्जय शान्त रस को नाटक मे नहीं स्वीकार करते। इस प्रकार वस्तु, नायक और रस-भेद से ३×३×८=७२ भेद हो जाते हैं। परन्तु भरत व्यावहारिक नाट्य-प्रयोग के विवेचक थे। उन्होंने उन्ही दस रूपको की विवेचना की है जो उनके समय मे प्रचलित थे। और किसी ने भी इस प्रकार रूपक का विभाजन नही किया।

१३. विभिन्न रूपकों की कथावस्तु

कोई भी रूपक हो, उसमे एक कथा होगी। धनञ्जय ने अपने ग्रन्थ के प्रथम प्रकाश के उपसंहार मे रूपक को 'नेतृ-रसानुगुण्या कथा'

कहा है। रस मुख्य है, रस और नेता के अनुकूल ही कथा होती है। कवि कथा को या तो रामायण, महाभारत आदि प्रख्यात ग्रन्थों से लेता है या कल्पना द्वारा स्वयं रच लेता है। इस प्रकार प्रख्यात और उत्पाद्य (कल्पित) ये दो भेद हो जाते हैं। कभी कुछ अंश तो इतिहास-गृहीत होता है और कुछ कल्पित। उस हालत में कथा 'मिश्र' कही जाती है। कथा का इस प्रकार तीन श्रेणियों में विभाजन करना आवश्यक है, क्योंकि कवि (नाटककार) के लिये यह बात महत्त्व की है। प्रख्यात कथा में वह बहुत-कुछ बन्धन में होता है। कल्पित कथा में ये बन्धन नहीं होते। दोनों के संचालन के कौशल में भेद होता है। मिश्र कथा में भी बन्धन कुछ-न-कुछ रहता ही है। रूपकों की कथावस्तु इस प्रकार अलग-अलग किस्म की हो जाती है—

रूपक का नाम	कथावस्तु का प्रकार
नाटक	प्रख्यात
प्रकरण	उत्पाद्य
नाटिका	कथा उत्पाद्य, किन्तु नायक प्रख्यात
भाण	उत्पाद्य
प्रहसन	उत्पाद्य
डिम	प्रख्यात
व्यायोग	प्रख्यात
समवकार	प्रख्यात
वीथी	उत्पाद्य
उत्सृष्टिकाङ्क	प्रख्यात
ईहामृग	मिश्र

१४. आधिकारिक और प्रासंगिक कथा

एक बार नाटककार जब कथा का आहरण या उपकल्पन कर लेता है तो उसे सरल या जटिल कथा-रूपों में परिणत कर देता है। यह ज़रूरी

नहीं है कि सभी कथा-वस्तुएँ जटिल ही हों। पर जो जटिल होती हैं उनमें एक या एकाधिक कथाएँ मुख्य कथा से जुड़ जाती हैं। मुख्य कथा को आधिकारिक और सहायक कथाओं को प्रासंगिक कहते हैं। बहुत-से रूपकों का गठन ऐसा होता है कि उनमें प्रासंगिक कथा आ ही नहीं पाती। ये प्रासंगिक कथाएँ भी दो प्रकार की होती हैं—एक तो वे जो आधिकारिक कथा के समानान्तर दूर तक चलती रहती है, जैसे रामायण में सुग्रीव की कथा, दूसरी वे जो थोड़ी दूर तक चलकर विरत हो जाती हैं, जैसे रामायण में शबरी या जटायु का प्रसंग। पहली को पताका कहते हैं, दूसरी को प्रकरी। पताका और प्रकरी में एक और भेद है। पताका के नायक का कुछ अपना स्वार्थ भी होता है किन्तु प्रकरी के नायक या नायिका का अपना कोई स्वार्थ नहीं होता। इस प्रकार कथावस्तु के दो सहायक अंग हैं। इनकी स्थिति केवल जटिल कथावस्तु में ही होती है।

१५. अर्थप्रकृतियाँ

अर्थप्रकृतियाँ पाँच हैं—(१) बीज, (२) बिन्दु, (३) पताका, (४) प्रकरी और (५) कार्य। इनमें पताका और प्रकरी की चर्चा ऊपर हो चुकी है। धनञ्जय ने रूपक की कथावस्तु के आरम्भ की उस स्वल्पोद्दिष्ट बात को बीज बताया है जो रूपक के फल का हेतु होता है जैसे भीम के क्रोध से परिपुष्ट युधिष्ठिर का उत्साह बीज है, जिसका फल है द्रौपदी का केश-संयमन रूपी कार्य। इस प्रकार बीज आरम्भ में थोड़े में कहा हुआ कथावस्तु का वह अंग है जो आगे चलकर फलसिद्धि का हेतु बनता है। बीज हेतु है, कार्य फल। बिन्दु को धनञ्जय ने इस प्रकार समझाया है कि अवान्तर अर्थ का जब विच्छेद होता है तो मूल कथा से जोड़ने का काम बिन्दु करता है। यह परिभाषा कुछ स्पष्ट नहीं है। कई लोग इससे भ्रम में पड़ जाते हैं और अनेक प्रकार की कल्पना-जल्पना करने लगते हैं। धनिक की वृत्ति में कहा गया है कि

अर्थप्रकृतियाँ प्रयोजन-सिद्धि का हेतु हुआ करती हैं। रामचन्द्र-गुणचन्द्र के नाट्य-दर्पण में इन अर्थप्रकृतियों को 'उपाय' कहा गया है। इन पाँच उपायों में दो—बीज और कार्य—अचेतन हैं, तीन—बिन्दु, पताका और प्रकरी—चेतन हैं। नाट्यदर्पणकारों ने स्पष्ट रूप से कहा है कि न तो ये उस क्रम से आते हैं जिस क्रम से उनको गिनाया गया है और न अवश्यम्भावी या अपरिहार्य ही हैं। इनका सन्निवेश यथारुचि किया जाना चाहिए। बहुत से ऐसे कथानक हो सकते हैं जिनमें पताका या प्रकरी हो ही नहीं, बहुत-से ऐसे होंगे जिनमें इनका क्रम उलटा हो सकता है। वस्तुत ये अर्थप्रकृतियाँ कथावस्तु के उपाय हैं और आरम्भ आदि आगे बताई जाने वाली अवस्थाएँ नायक के व्यापार हैं।

निम्नलिखित सारणी से अर्थप्रकृतियों का स्वरूप समझ में आ जाएगा—
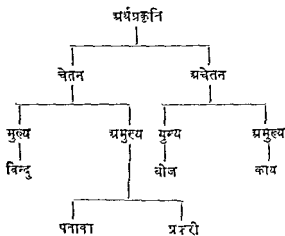
इस प्रकार ये अर्थप्रकृतियाँ 'फल' अर्थात् मुख्य साध्य के हेतुभूत कवि निबद्ध उपाय हैं। इनमें 'बीज' नाटक के इतिवृत्त या कथावस्तु का उपाय है। यह मुख्य है, क्योंकि यही क्रमश अंकुरित-पल्लवित होकर फलरूप में परिणत होता है। आमुख में नट बीजभूत उक्तियों को कह देता है और बाद में मुख्य कथा का कोई प्रमुख पात्र उसे दुहराता है।

यह कथा की वह स्थिति है जो घटनाओं के संघट्ट से मुख्य पात्र के सम्मुख किसी के द्वारा उपस्थित कर दी गई होती है। वह सोच-विचार कर प्रयत्नपूर्वक किया हुआ पात्र-विशेष का कार्य न होने से उसे अचेतन माना जाता है। फल इस बीज के पल्लवित-पुष्पित होने से उपस्थित होता है। बीज मुख्य है, फल अमुख्य। पताका, प्रकरी और बिन्दु चेतन प्रयत्न हैं, समझ-बूझकर नाटककार द्वारा संयोजित होते हैं। इनमें भी बिन्दु मुख्य होता है। नाटक का घटना-प्रवाह जब-जब अभीष्ट दिशा से हटकर दूसरी ओर मुड़ने लगता है, अलग होने लगता है, तब-तब नाटककार नायक, प्रतिनायक सहकारी आदि पात्रों की सहायता से उसे अभीष्ट दिशा की ओर ले जाने का प्रयत्न करता है। इसीलिये यह सारे कथाभाग में विद्यमान रहता है। पताका, प्रकरी और बिन्दु, कवि के अनुध्यात लक्ष्य तक ले जाने वाले साधन हैं, इसीलिये इन्हें 'चेतन' माना गया है। पताका और प्रकरी कथानक में रहें ही यह आवश्यक नहीं है, पर बिन्दु रहता है। वस्तुतः बीज बिन्दु और कार्य, ये तीन आवश्यक अर्थप्रकृतियाँ हैं। बीज पर कवि का नियन्त्रण नहीं होता, परन्तु बिन्दु उसके उस यत्नपूर्वक नियन्त्रण का ही नामान्तर है जो कथानक को अभीष्ट दिशा में मोड़ता रहता है। ये दो मुख्य हैं।

बिन्दु पात्रों की कवि-निबद्ध चेतन चेष्टाएँ हैं, पर कार्य अचेतन साधन, जैसे सैन्य-सामग्री, दुर्ग कोश धन आदि। किसी वृक्ष का उपमान लें तो बीज बीज है बिन्दु, उसे सुरक्षित, पल्लवित, पुष्पित करने का सोद्देश्य प्रयत्न है कार्य, कुदाल, खाद आदि हैं, पताका, किसी स्वार्थसिद्धि के प्रतिदान में नियुक्त माली है और प्रकरी, क्वचित्-कदाचित् अनायास उपस्थित होकर सहायता कर जाने वाला किसान।

१६. पाँच अवस्थाएँ और पाँच सन्धियाँ

धनञ्जय के अनुसार फल की इच्छा वाले नायक आदि के द्वारा प्रारम्भ किए गए कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती हैं—प्रारम्भ, प्रयत्न,

प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। दूसरे आचार्य इन्हें नेता के चरित्र (वृत्त) की पांच अवस्था कहते हैं। भरत ने इन्हें साधक के व्यापार की अवस्थाएँ कहा है (२१ ७)। धनंजय ने भरत का ही अनुसरण किया है। वस्तुत वृत्त और व्यापार मे कोई विशेष अन्तर नहीं है। पात्र जो कुछ करता है (व्यापार, कार्य) वही उसका चरित है। नायक के व्यापार की ये पांच अवस्थाएँ हैं जो कथावस्तु मे रूप ग्रहण करती हैं। ये स्वयं कथावस्तु नहीं हैं, कथावस्तु मे क्रमश विकसित होने वाले नायक-व्यापार या नायक के कार्य के सिवा और भी बहुत-सी बातें होती हैं।

इस प्रकार अर्थप्रकृतियां कथानक के अभीष्ट लक्ष्य तक ले जाने के लिए नाटककार द्वारा निबद्ध उपाय हैं और अवस्थाएँ नायक के व्यापार हैं। नेता या नायक के मन मे फल-प्राप्ति के लिये औत्सुक्य (प्रारम्भ), उसके लिये प्रयत्न (प्रयत्न), उसके प्राप्त होने की आशा (प्राप्त्याशा), विघ्नों के समाप्त हो जाने से उसके प्राप्त होने की निश्चितता (नियताप्ति) और उसकी प्राप्ति (फलागम), ये पांच अवस्थाएँ होती हैं। ये नाटक को विचित्र भाव और घटनाओं से समृद्ध करती हैं। किन्तु कवि या नाटककार का सबसे बड़ा कौशल बिन्दु की योजना मे प्रकट होता है। इसी उपाय के द्वारा वह कथा को अवान्तर प्रसंगों मे बहकने से रोकता है और नायक की प्रयत्नादि अवस्थाओं को जागरूक बनाए रखता है। नाटक-रचना कठिन काम है। बिन्दु-विधान भी कठिन साधना है। जरा भी कथा बहकी तो सँभालना मुश्किल हो जाता है। जरूरत पड़ने पर नाटककार पताका और प्रकरी-जैसे चेतन उपायों का आश्रय लेता है और कार्य-जैसे अचेतन उपादान (सैन्य, कोष आदि) का भी सहारा लेता है। पर बिन्दु-विधान सर्वत्र आवश्यक होता है। 'अर्थ-प्रकृति' में अर्थ शब्द का तात्पर्य है पूरा नाट्यार्थ और 'प्रकृति' शब्द का तात्पर्य है प्रकार या उपाय। धनञ्जय की अपेक्षा रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इसे अधिक स्पष्टता से समझाया है।

१७. पाँच सन्धियाँ

भरत ने नाट्य-शास्त्र में कहा है कि इतिवृत्त काव्य का शरीर होता है और पाँच सन्धियाँ उसके पाँच विभाग हैं। धनजय के अनुसार किसी एक प्रयोजन द्वारा अन्वित कथा-भागों को किसी दूसरे प्रयोजन से युक्त करने वाला सम्बन्ध सन्धि कहलाता है। ये पाँच हैं, (१) मुख (नाना अर्थों और रसों की हेतुभूता बीजोत्पत्ति), (२) प्रतिमुख (बीज का उद्भेद या फूटना), (३) गर्भ, छिपकर अदृष्ट हो गए बीज का अन्वेषण, (४) अवमर्श या विमर्श (बीज अर्थ का पुन प्रकट होना), और (५) उपसहृति या निर्वहण (बिखरे अर्थों का एक उद्देश्य की ओर उपसहरण)। धनजय ने एक विवादास्पद कारिका में कहा है कि पाँचों अर्थप्रकृतियाँ, पाँचों अवस्थाओं से समन्वित होकर क्रमश पाँच सन्धियाँ बन जाती है।[1] यह बात भ्रम पैदा करने वाली सिद्ध हुई है। अर्थप्रकृतियों का अवस्थाओं के साथ 'यथाक्रम' गठबन्धन ठीक नहीं बैठता। पताका एक अर्थप्रकृति है, प्रकरी दूसरी। पताका के बाद प्रकरी को गिनाया गया है। पताका का उदाहरण है रामायण में सुग्रीव की कथा, प्रकरी का उदाहरण है वही शबरी की कथा। लेकिन रामायण में पताका बाद में आती है, प्रकरी पहले। क्रम कहाँ रहा ? बिन्दु एक अर्थप्रकृति है। वह नाटक में सर्वत्र रहता है। उसे किसी एक अवस्था के साथ कैसे बाँधा जा सकता है। भरत के नाट्य-शास्त्र में ऐसा कुछ नहीं कहा गया है। सन्धियों को अवस्था का अनुगामी अवश्य बताया गया है। अर्थप्रकृतियों से उनका सम्बन्ध नहीं है। सच तो यह है कि पताका में भी सन्धियाँ होती हैं। नाट्यदर्पणकार ने उन्हें अनुसन्धि कहा है और स्वय धनजय ने भी अन्यत्र उन्हें अनुसन्धि कहा है। इसलिए धनजय की उक्त कारिका, जिसमें अर्थप्रकृतियों और

१. अर्थप्रकृतयः पञ्च, पञ्चावस्था समन्विताः,
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च सन्धय।
—दशरूपक १, २२-२३

ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक वर्णन है। नीचे की तालिका में इन सन्धियों और सन्ध्यंगों का सामान्य परिचय हो जाएगा—

सन्धियाँ	अंग
मुख	१. उपक्षेप, २ परिकर ३ परिन्यास ४ विलोभन, ५ युक्ति, ६ प्राप्ति, ७. समाधान, ८ विधान, ९ परिभावना, १० उद्भेद ११ भेद, १२ करण।
प्रतिमुख	१३ विलास १४. परिसर्प, १५ विधूत, १६ शम, १७ नर्म, १८ नर्मद्युति, १९ प्रगमन २० निरोध, २१. पर्युपासन २२ वज्र, २३ पुष्प, २४ उपन्यास, २५ वर्णसंहार।
गर्भ	२६ अभूताहरण २७ मार्ग २८ रूप २९ उदाहरण, ३० क्रम ३१ संग्रह, ३२ अनुमान, ३३ तोटक, ३४ अधिबल ३५ उद्वेग ३६ संभ्रम, ३७ आक्षेप।
विमर्श (अवमर्श)	३८ अपवाद ३९ संफेट, ४० विद्रव ४१ द्रव ४२ शक्ति ४३ द्युति, ४४ प्रसंग, ४५ छलन, ४६ व्यवसाय, ४७ विरोधन, ४८ प्ररोचना ४९ विचलन, ५० आदान।
निर्वहण	५१ सन्धि, ५२ विबोध ५३. ग्रथन, ५४ निर्णय, ५५ परिभाषण, ५६ प्रसाद, ५७ आनन्द, ५८ समय, ५९. कृति ६०. भाषा, ६१ उपगूहन ६२ पूर्वभाव, ६३ उपसंहार ६४ प्रशस्ति।

गोपनीय की गुप्ति, प्रकाशन, राग और प्रयोग का आश्चर्य । इससे यह बात अनुमित होती है कि जहाँ उचित हो वहीं इनका प्रयोग करना चाहिए ।

वस्तुतः रूपक के कथानक की योजना नेता के स्वभाव और रस के अनुकूल होती है । व्यायोग का नेता या नायक उद्धत नायक होता है । शृंगार रस उसका लक्ष्य नहीं है । दीप्त रस उसके लक्ष्य हैं । उद्धत स्वभाव का यह नायक प्रारम्भ के बाद यत्न करता है और तुरन्त फल-प्राप्ति के लिए अधीर हो जाता है । प्राप्त्याशा और नियताप्ति-जैसी उलझनों में वह नहीं पड़ता । उसे तुरन्त फलागम चाहिए । उसके कथानक की योजना उसके हड़बड़ी वाले स्वभाव को ध्यान में रखकर ही करनी होगी, नहीं तो रस में व्याघात पहुँचेगा । यही कारण है कि उस कथानक में गर्भ और विमर्श संधियाँ नहीं आ सकतीं । नीचे की सारणी से स्पष्ट होगा कि किस प्रकार के रूपक में किन अवस्थाओं और किन संधियों की आवश्यकता नहीं समझी जाती ।

रूपकों के नाम	कौन-कौन अवस्थाएँ होती हैं	कौन-कौन संधियाँ होती हैं	कौन-कौन संधियाँ नहीं होतीं
१ नाटक	सभी (पाँचों)	सभी (पाँचों)	
२ प्रकरण	"	"	
३ नाटिका	"	"	
४ व्यायोग	प्रारम्भ यत्न फलागम	मुख, प्रतिमुख, निर्वहण	गर्भ और विमर्श
५ ईहामृग	"	"	"
६ समवकार	प्रारम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, फलागम	मुख, प्रतिमुख, गर्भ, निर्वहण	विमर्श
७ डिम	"	"	"
८ भाण	प्रारम्भ, फलागम	मुख, निर्वहण	प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श
९ प्रहसन	"	"	"
१० उत्सृष्टिकांक	"	"	"
११ वीथी	"	"	"

१६. दृश्य और सूच्य अंश

नाटक और अन्य रूपक यदि दृश्य काव्य न होने तो कथावस्तु की विवेचना यहीं समाप्त हो जाती। परन्तु नाटककार और अभिनेता की कठिनाइयाँ अनेक हैं। बहुत बड़ी कथा को उन्हें थोड़ी देर में दिखाना पड़ता है। सभी प्रसंग मार्मिक नही होते, पर दर्शक को सभी बातें न बताई जाएँ तो कथानक उनकी समझ मे ही न आए। इसलिए नाटककार कुछ मार्मिक अंशो को रंगमच पर दिखाने के लिए चुन लेता है और कुछ को किसी-न-किसी कौशल से सूचित कर देता है। इस प्रकार कथा के दो भाग हो जाते हैं—दृश्य और सूच्य। दृश्य अंश का विधान अंकों मे होता है। अंक' शब्द का प्रयोग क्यो किया जाता है यह केवल अनुमान का विषय है। संस्कृत म इस शब्द का प्रयोग कई अर्थों मे होता है। संख्या चिह्न, गोद आदि अर्थ परिचित ही हैं, परन्तु नाटक के 'अंक' से इनका सम्बन्ध नहीं जान पड़ता। भरत मुनि ने लिखा है (२०.१४) कि यह रूढि शब्द है। भाव और अर्थों के द्वारा नाना विधानयुक्त होकर अर्थों का आरोहण कराता है, इसलिए इसे अंक कहते हैं। इसका एक पुराना अर्थ उतार-चढ़ाव बताने वाला घुमाव भी है। कदाचित् नाटकीय घटनाओं के आरोह अवरोह को प्रकट करने के लिये इसका प्रयोग किया जाता रहा हो। यवन-नाट्याचार्यों की भाँति भरत भी एक दिन में समाप्त होने वाली घटना को ही एक अंक मे देने का निर्देश करते हैं। सभी रूपकों म अंकों की संख्या एक ही तरह की नही होती। कुछ तो एक ही अंक मे समाप्त हो जाते हैं। नाटक और प्रकरण मे ५ से १० तक अंक हो सकते हैं इसलिए अवस्थाओं और संधियों से कठोरतापूर्वक निबद्ध नहीं हो सकते। अंकों मे महत्वपूर्ण भावोद्रेचक प्रसंग ही दिखाए जाते हैं। जो बातें साधारण होती हैं उन्हें कुछ कौशलों से सूचित मात्र कर दिया जाता है। प्राय दो अवान्तर पात्रों की बातचीत से (विष्कम्भक, प्रवेशक) या नाटक के किसी अंक मे अभिनय करने वाले पात्रों द्वारा ही (अंकमुख, अंकावतार) या परदे के पीछे से

(चूलिका) से सूचनाएं दे दी जाती हैं। ये नाटकीय कौशल हैं। एक और प्रकार का कौशल भी कथावस्तु में प्रयुक्त होता है। उसे आकाशभाषित कहते हैं। पात्र आसमान की ओर मुंह करके कहता है 'क्या कहते हो ? अमुक बात ? तो सुनो।' और अभीष्ट सूचना दे जाता है (दशरूपक ४७-६७)। सब बातें नाटक में सभी पात्रों के सुनने योग्य नहीं होतीं। कुछ पात्र अपने मनोभावों को ज़ोर-ज़ोर से कहता है (स्वगत), वह और पात्र नहीं सुनते, कुछ एक-दो सुनते हैं बाकी नहीं सुनते (जनान्तिक, अपवार्य) और कुछ सब सुनते हैं। ये नाटकीय रूढ़ियां हैं।

२०. नेता या नायक

नाट्य-शास्त्र में नेता या नायक शब्द दो अर्थों में व्यवहृत हुआ है। एक तो नाटक के मुख्य पात्र के अर्थ में और दूसरा सामान्य रूप से पात्रों के अर्थ में। पहला अर्थ ही मुख्य है। चार प्रकार के नायकों की चर्चा आती है—धीरोदात्त, धीरप्रशान्त, धीरललित और धीरोद्धत। सबके आगे जो 'धीर' विशेषण लगा हुआ है उससे कभी-कभी भ्रम पैदा होता है। जो उद्धत है वह धीर कैसे हो सकता है ? उद्धत तो स्वभाव से ही चपल और चण्ड होता है। वस्तुतः धीर शब्द का संस्कृत में प्रचलित अर्थ इस भ्रम का कारण है। एक पुराना 'धीर' शब्द भी था जो 'धी' (सहज-बुद्धि, मनोभाव) शब्द से बनता था। इस शब्द से निष्पन्न 'धीर' शब्द का अर्थ होता था सहज बुद्धि वाला, मनोभाव-सम्पन्न। यह शब्द नाट्य-परम्परा में सुरक्षित रह गया है। 'धीर' का अर्थ है स्वाभाविक बोध-सम्पन्न। धीरोद्धत का अर्थ है स्वभावतः उद्धत। नाट्यदर्पणकार देवता और राक्षस आदि को धीरोद्धत कहते हैं। इस प्रकार उदात्त, प्रशान्त, ललित और उद्धत नायक स्वभाव से ही ऐसे होते हैं, इसलिये उनके साथ 'धीर' विशेषण लगाया जाता है। नायक की तरह नायिका के भी स्वभाव, वय आदि के अनुसार भेद किए जाते हैं। ग्रन्थों में इनके भेदोपभेदों का बड़ा विस्तार है।

कुछ रूपकों के नायक उदात्त होते हैं कुछ के प्रशान्त, कुछ के ललित और कुछ के उद्धत। भरत मुनि के गिनाए रूपकों में कुछ ऐसे भी हैं जिनके नायक इन कोटियों में नहीं आ पाते। वस्तुतः पूर्णांग रूपक दो या तीन ही हैं—नाटक, प्रकरण, नाटिका। नाटक और प्रकरण में वस्तु का भेद है नाटक की कथावस्तु इतिहास-प्रसिद्ध होती है और प्रकरण की उत्पाद्य या कवि-कल्पित। नाटिका दोनों के मिश्रण से बनती है। उसका नायक तो प्रख्यात होता है पर कथावस्तु उत्पाद्य। इनमें सब संधियों का समावेश होता है और सब अवस्थाएँ मिलती हैं। इनके नायकों में भी अन्तर होता है। नाटक का नायक धीरोदात्त होता है, प्रकरण का धीरप्रशान्त और नाटिका का धीरललित। रस तीनों में शृंगार होता है। नाटक और प्रकरण में वीर भी। इससे स्पष्ट है कि पूर्णांग रूपकों में दो ही रस आते हैं—शृंगार और वीर। नायक इनमें तीन प्रकार के होते हैं, उदात्त, प्रशान्त और ललित। इनमें धीरोदात्त नायक महासत्त्व अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, अविकत्थन (अपने बारे में बढ़-चढ़कर बात न करने वाला), स्थिर, भीतर-ही-भीतर मानी, दृढ़व्रत होता है। धीरललित कोमल प्रकृति का, कला-प्रेमी, निश्चिन्त और सुखी होता है। धीरप्रशान्त भी बहुत-कुछ ऐसा ही होता है, लेकिन ब्राह्मण, मन्त्री या वैश्य के घर उत्पन्न हुआ होता है। प्रथम दो राजवंश के होते हैं। धीरोदात्त राजा ही होता है। चौथा नायक धीरोद्धत कहलाता है। यह भी कुछ रूपकों का नायक होता है। नाटक में वह प्रतिनायक होता है। साधारणतः देवता या दानव, जिनमें दैवी शक्ति होती है, उदात्त नायक की तरह धैर्यवान् नहीं होते। वे गर्वीले, चपल और चण्ड होते हैं। उन्हें फल-प्राप्ति के लिये धैर्य नहीं होता। डिम, व्यायोग और ईहामृग में ये नायक होते हैं। इनकी उतावली के स्वभाव के कारण ही ये रूपक पूर्णांग नहीं हो पाते। इनमें वीर, रौद्र आदि दीप्त रस तो आ जाते हैं, पर शृंगार और हास्य नहीं आ पाते। समवकार में भी इनका बाहुल्य होता है। उसमें भी शृंगार की छाया·

मात्र ही होती है। उद्धत नायकों के स्वभाव के कारण ही व्यायोग और ईहामृग में गर्भ और विमर्श तथा समवकार और डिम में विमर्श सन्धि नहीं होती।

इस प्रकार नेता या नायक कथावस्तु का नियमन करता है। शास्त्रकारों ने तो यहाँ तक कहा है कि प्रख्यात या इतिहास-प्रसिद्ध धीरोदात्त नायक हो तो इतिवृत्त के उन अंशों को छोड़ देना चाहिए जो उसके उदात्त भाव के बाधक हों। उद्धत नायकों के लिये कथावस्तु में से विशेष-विशेष सन्धियों को छोड़ देना पड़ता है। जिन रूपकों में धीरोद्धत नायक होते हैं वे पूर्णांग नहीं बन पाते। डिम, व्यायोग, समवकार और ईहामृग इसी प्रकार के रूपक हैं। बाकी चार में भाण और प्रहसन तो एक ही पात्र द्वारा अभिनीत होते हैं। इनमें नायक स्वयं मंच पर नहीं आते। शृंगार और वीर यहाँ शून्य रस हैं। जिन व्यक्तियों की चर्चा होती है उनका कोई रूप-विधान नहीं होता। यही बात बहुत-कुछ वीथी और उत्सृष्टिकाङ्क के बारे में भी ठीक है। वस्तुतः ये तमाशे ही रहे होंगे। सही अर्थों में ये रूपक नहीं कहे जा सकते। दशरूपककार ने रूपक की परिभाषा में कहा है कि अनुकार्य के रूप का समारोप होने से यह रूपक कहा जाता है। इन पर अनुकार्य का आरोप अस्पष्ट होता है। उतना आरोप तो काव्य-पाठक और कथावाचक पर भी किया जा सकता है। जो हो, ये चार अल्पोद्भिन्न रूपक ही कहे जा सकते हैं।

२१. वृत्तियाँ

नाटक में सभी प्रकार के अभिनय मिलते हैं, प्रकरण और नाटिका में भी। इन तीनों में सभी वृत्तियाँ मिलती हैं। बाकी में केवल तीन। अन्तिम चार अर्थात् भाण, प्रहसन, वीथी और उत्सृष्टिकाङ्क में प्रधान रूप से भारती वृत्ति ही मिलती है। वृत्तियाँ नाट्य की माता कही जाती हैं। ये चार हैं—सात्वती में मानसिक, आंगिक और वाचिक अभिनय होते हैं। यह मुख्यतः मानस-व्यापार की वृत्ति है। इसका प्रयोग रौद्र, वीर

और अद्भुत रसो मे होता है। सत्व मनोभावों को कहते हैं। कहा जाता है कि उसी को प्रकाशित करने वाली होने के कारण इसे सात्वती कहते हैं। कैशिकी वृत्ति का अभिनय स्त्रियाँ ही कर सकती हैं। इसमें मृदुता और पेसल परिहास की प्रधानता होती है। शृगार और हास्य-रस का इसमे प्राधान्य होता है। आरभटी मे छल, प्रपच, धोखा, फरेब आदि होते हैं। वीर, रौद्र आदि दीप्त रसो मे इसका प्रयोग होता है। भारती सस्कृत-बहुल वाग्व्यापार है। भारती शब्द का अर्थ ही आगे चलकर वाणी हो गया है। यह सब रसो म आती है। मूलत ये वृत्तियाँ विभिन्न श्रेणी की जातियो स ली गई जान पडती है।[1] अब अगर इन वृत्तियो पर से विचार किया जाए तो स्पष्ट लगेगा कि केवल नाटक, प्रकरण और नाटिका ही पूर्णांग रूपक हैं। डिम, व्यायोग, समवकार और ईहामृग मे तीन ही वृत्तियो का प्रयोग होता है इसलिए अपूर्ण हैं। भाण, प्रहसन, वीथी और उत्सृष्टिकाक मे तीनो का प्रयोग होता तो है पर मुख्य वृत्ति भारती ही है। इस तरह ये और भी विकलाग हैं। इस प्रकार इन रूपको म तीन (नाटक, प्रकरण, नाटिका) उत्तम श्रेणी के हैं, चार (डिम, व्यायोग, समवकार, ईहामृग) मध्यम श्रेणी के हैं, और बाकी अवर श्रेणी के।

नाट्यदर्पणकार ने इस बात को लक्ष्य किया था। उन्होंने दो ही भेद किये हैं। नाटिका के साथ प्रकरणी की कल्पना करके उन्होंने चार को एक श्रेणी मे रखा था और बाकी रूपको को दूसरी श्रेणी मे।

१. भारती भरतों की वृत्ति कही जाती है। भरत लोग नाटक खेलने का व्यवसाय करते थे। सात्वत जाति प्रसिद्ध ही है। भावप्रवण भक्ति-साधना के प्रसग मे इनका प्राय: उल्लेख मिलता है। कहते हैं, भागवत सम्प्रदाय इनकी देन है। कैशिक जाति सम्भवत पश्चिम के कास्पियन तट की जाति है। आरभट कदाचित्, ग्रीक लेखकों द्वारा उल्लिखित Arbitus जाति है जो सिन्ध घाटी में रहती थी।

नीचे की तालिका से रूपकों के रस, नायक, कथावस्तु, अंक और वृत्तियों का स्पष्टीकरण हो जाएगा।

रूपक-नाम	वस्तु	रस	अंक	वृत्तियाँ
नाटक	प्रख्यात	अंगी—वीर या शृंगार अंग—बाकी सभी रस	पाँच से दस तक	चारों (कैशिकी, आरभटी, सात्वती, भारती)
प्रकरण	उत्पाद्य	"	"	"
नाटिका	वस्तु, उत्पाद्य (प्रकरण के समान), नेता, प्रख्यात (नायक के समान)	शृंगार	चार	"
भाण	उत्पाद्य	शृंगार, वीर	एक	कैशिकी से भिन्न बाकी तीन
प्रहसन	"	, हास्य,	एक	"
डिम	प्रख्यात	वीर, रौद्र, वीभत्स, करुण, भयानक, अद्भुत	चार	"
व्यायोग	"	"	एक	"
समवकार	"	वीर, रौद्र, शृंगार (छायामात्र)	तीन	"
वीथी	उत्पाद्य	शृंगार	एक	"
अंक	प्रख्यात	करुण	एक	"
ईहामृग	मिश्र	रौद्र, शृंगाराभास	चार	"

२२. रस

भारतीय नाट्य परम्परा मे नायक फल'-भोक्ता को अर्थात् नाटक के फल को प्राप्त करने वाले को कहा गया है जबकि आधुनिक नाट्यशास्त्री नायक या नायिका उसे मानते हैं जिसके साथ सामाजिक की सहानुभूति हुआ करती है। इनमें नाट्यकार द्वारा प्रयुक्त कौशल से एक ऐसी शक्ति केन्द्रित होती है जो निपुण अभिनय के द्वारा उपस्थित किए जाने पर सामाजिकों की समवेदना और सामान्यानुभूति आकर्षित करती है। खलनायक सहानुभूति नही पाता। उसम कुछ ऐसा औद्धत्य या आचरणगत अनौचित्य होता है जो सामाजिक की वितृष्णा और क्रोध को उद्दिप्त करता है। भरत द्वारा निर्धारित रूपको मे नाटक और प्रकरण के नायक, नायिका और प्रतिनायक इस कोटि के कहे जा सकते हैं। ऊपर जो तीन श्रेणी के रूपक बताये गए हैं उनमें प्रथम और उत्तम श्रेणी के नाटको मे केवल दो ही रस हैं—शृगार और वीर। ये ही दो रस मुख्य हो सकते हैं। दो रस और भी मुख्य कहे गए हैं—रौद्र और बीभत्स। इस प्रकार चार रस ही मुख्य बताये गए हैं—शृगार, वीर, रौद्र और बीभत्स। इनके अभिनय में क्रमश विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप होता है। बाकी चार इन्हीं चारो से होते हैं। शृगार से हास्य, वीर से अद्भुत, बीभत्स से भयानक और रौद्र से करुण (दशरूपक ४३-४५), इस प्रकार मे आठ रस बनते हैं। सामाजिक के चित्त में विकास और विस्तार होता है तो उसे सुख मिलता है और क्षोभ और विक्षेप होता है तो दुख। इसलिए कुछ आचार्य रस को सुख-दुःखात्मक बताते हैं। दूसरे आचार्य ऐसा नही मानते। वे कहते हैं कि ये विक्षेप और क्षोभ लौकिक विक्षेप और क्षोभ से भिन्न होने के कारण आनन्दजनक ही होते हैं। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि शृगार रस से चित्त मे विकास और वीर रस से विस्तार होता है। इन दो रसो का नायक अनायास ही सामाजिक की समवेदना और सहानुभूति आकर्षित करता है। यही कारण है कि पूर्णांग रूपको मे इन दो रसो का ही

प्राधान्य है। विकास और विस्तार को एक शब्द में 'विस्तार' कहा जाता है। इस विस्तार के कारण नाटक में वीर और शृंगार रस मुख्य होते हैं। नाटक और रसों से बचना ही नहीं। पाश्चात्य नाट्य-शास्त्रों में त्रासदी (ट्रेजडी) श्रेणी के नाटकों का महत्त्व है। परन्तु भारतीय नाट्य शास्त्रियों ने 'करुण' रस को नाट्य-रस मानते हुए भी ऐसे उत्तम कोटि के रूपकों की कल्पना भी नहीं की जो शोकान्त हों। परन्तु नाटक में यदि नायक या नायिका उसे माना जाए जो सामाजिकों की सहानुभूति आकृष्ट कर सके, तो ऐसे नायक भी सामाजिक की सहानुभूति आकृष्ट कर सकते हैं जो चरित्र-वृत्त में तो उदात्त हों पर किसी दुर्बलता—जैसे आदमी न पहचानने की अक्षमता, दैववश अनुचित कार्य कर बैठने की भूल, अत्यधिक औदार्य आदि—से कष्ट में पड़ जाते हों। पश्चिमी देशों में ऐसी परिस्थितियों के शिकार उदात्त और ललित श्रेणी के नायकों की कल्पना की गई है। हर समय इनका स्थायी भाव शोक ही नहीं होता। कई बार नायक के चित्त में उत्साह, रति आदि भाव ही प्रबल होते हैं, केवल परिणाम अनिष्ट-प्राप्ति होता है। सामाजिक के चित्त को सहानुभूतियुक्त बनाने के हेतु नायक के स्वभाव में स्थित मानवीय गुण ही होते हैं, उसके दुःख पाने से सामाजिक के चित्त में जो क्षोभ पैदा होता है वह उसे और भी तीव्रता के साथ नायक की ओर ठेलता है। इस प्रकार के रूपकों की कल्पना भारतीय नाट्य-परम्परा में नहीं हुई। उत्सृष्टिकांक आदि में यह रस भारती वृत्ति द्वारा सूक्ष्म और अस्पष्ट होता है। अधिकतर गौण रूप में इसका चित्रण कर दिया जाता है। इसलिये ऐसे नायक भी इस परम्परा में नहीं मिलते।

कुछ आचार्य केवल शृंगार रस को ही एकमात्र रस मानते हैं। इसका कारण यह है कि यही एकमात्र रस है जहाँ सहृदय आश्रय और आलम्बन दोनों से तादात्म्य स्थापित कर सकता है और किसी पक्ष की पराजय की अनुभूति नहीं होती। वीर रस भी इनके मत से एक

पक्ष का पराभव होने के कारण अपूर्ण रह जाता है। भरत ने स्पष्ट ही नाट्य में आठ रस स्वीकार किये हैं। इसीलिए यह मत भारतीय परम्परा में पूर्णतया मान्य नहीं हो सका।

२३ भाव-जगत्

भरत मुनि ने नाट्य-शास्त्र में बताया है कि विभाव अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भावों की संख्या उन्होंने ४९ बताई है जिनमें आठ स्थायी भाव हैं आठ सात्त्विक भाव हैं और तैंतीस संचारीभाव।[1] स्थायीभाव ही विभाव अनुभावादि के

१ काव्य के सुनने के साथ हम भाव जगत् की सूक्ष्म मूर्तियों और भावों का निर्माण करते रहते हैं। इन्हीं भावात्मक आलम्बन, उद्दीपन आदि के भावों का हम अनुभव करते रहते हैं। कवि में ऐसी सामर्थ्य होती है कि जिस पात्र के साथ वह हमारा जैसा-जैसा भाव जगाना चाहता है वैसा वैसा भाव हमारे मानस लोक में निर्माण करा लेता है। इन नाना भाव-मूर्तियों और भाव-भावना का जब ऐसा परिपाक होता है कि किसी का पृथक् ज्ञान नहीं रह जाता, सब मिलकर एक विशेष भावन प्रक्रिया में एकाकार हो जाते हैं तो हम रसास्वादन की स्थिति में आ जाते हैं। स्पष्ट ही यह बात लौकिक स्थूल रूप से भिन्न है। इसलिए इसे 'लोकोत्तर' कहा जाता है। काव्य का श्रोता अपने ही चित्त से अपनी ही अनुभूतियों के सहारे सारे भाव-जगत् की सृष्टि करता रहता है। इसलिये कहा जाता है कि वह जितना ही सहृदय होगा उतना ही अधिक रसास्वादन का सुपात्र होगा।

काव्य में केवल शब्द और अर्थ होता है। दूसरा कोई माध्यम नहीं होता। शब्द के द्वारा गृहीत लौकिक स्थूल अर्थ, सहृदय के हृदय में भाव-रूप में परिणत होता रहता है। कुछ ऐसी कलाएँ हैं जहाँ शब्द होता ही नहीं, जैसे चित्रकला। यहाँ कलाकार के द्वारा प्रयुक्त रंग और रेखाएँ अर्थ-बोध कराती हैं। चित्र लिखित पर्वत स्थूल पर्वत

संयोग से रस दशा तक पहुँचता है (दशरूपक)। दशरूपक के लेखक धनजय स्थायी भावों और सात्त्विक भावों में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं मानते। पर अन्य नाट्य-शास्त्रियों ने इनका अलग उल्लेख किया है। शृङ्गार रस का स्थायी भाव रति है वीर का उत्साह, रौद्र का क्रोध, बीभत्स का जुगुप्सा, हास्य का हास, अद्भुत का विस्मय, करुण का शोक और भयानक का भय। इनका और सचारीभावों का विशेष विवरण देना यहाँ आवश्यक नहीं है। 'दशरूपक' आदि ग्रन्थों में इनकी विशेष विस्तार से चर्चा है ('दशरूपक', चतुर्थ प्रकाश, 'साहित्य-दर्पण' चतुर्थ इत्यादि)। यहाँ रस के स्वरूप के विषय में समझने का थोड़ा प्रयत्न किया जा रहा है।

का अर्थ देता है। फिर सहृदय के मन में भाव-जगत् का पर्वत बनता है और चित्रकार जिस प्रकार की गरिमा, भयंकरता, चेतना या सौन्दर्य जागृत करना चाहता है उसी प्रकार के भाव-रूप सहृदय के चित्त में उत्पन्न होते रहते हैं। नाटक अधिक जटिल कला है। उसमें कवि और सहृदय का सम्बन्ध अभिनेता द्वारा स्थापित होता है। एक माध्यम और बढ़ जाता है। कवि-निबद्ध अर्थ पहले अभिनेता के भाव-रूप को उद्बुद्ध करते हैं और फिर उस भाव-रूप को वह स्थूल मूर्त आकार देता है। यह स्थूल मूर्त आकार फिर एक बार सहृदय के चित्त में नये सिरे से भाव-रूपों का निर्माण करता है। इसलिये नाटक में वस्तुत. दो कलाकारों के चेतन मन से छनकर सहृदय का भाव-जगत् निर्मित होता है, इसीलिये अधिक आस्वाद्य होता है। इसीलिये अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' (१.१०) में कहा है कि गुण-अलंकार से काव्य का शरीर मनोहर होना है और रस उसका प्राण हुआ करता है। ऐसे श्रव्य-काव्य में जो तन्मयीभाव के कारण यद्यपि चित्तवृत्ति निमग्नाकार हो जाती है किन्तु उनमें (अभिनीयमान नाटक के समान) प्रत्यक्ष की भाँति साक्षात्कारात्मक बोध नहीं हो पाता। परन्तु नाटक में ऐसी प्रतीति हुआ करती है।

रस लोकोत्तर अनुभूति है, ऐसा सभी आचार्यों का कहना है। इसका अर्थ यह है कि लोक मे जो लौकिक अनुभूति होती है उससे भिन्न कोटि की यह अनुभूति है। प्रत्यक्ष जीवन मे जो शकुन्तला और दुष्यन्त का प्रेम है वह लौकिक है। परन्तु नाटक या काव्यास्वादन से जो दुष्यन्त और शकुन्तला हमारे चित्त मे बनते हैं वे उनसे भिन्न हैं। लोक मे 'घट' शब्द का अर्थ है मिट्टी का बना हुआ पात्र-विशेष। किन्तु यह घडा स्थूल होता है। यदि हम इस शब्द का उच्चारण मन-ही-मन करें तो 'घडा' पद और 'घडा' पदार्थ सूक्ष्म रूप मे चित्त मे आ जाते हैं। इस प्रकार स्थूल घडे के स्थान पर जो मानस-मूर्ति तैयार होगी वह सूक्ष्म घडा कही जाएगी। इस प्रकार स्थूल जगत् के सिवा एक सूक्ष्म जगत् की मानस-मूर्ति रचने की सामर्थ्य मनुष्य-मात्र मे है। इसे ही भाव-जगत् कहते हैं। लोक मे जो घडा है वह स्थूल जगत् का अर्थ (पदार्थ=पद का अर्थ) है और मानस अर्थ भाव-जगत् का अर्थ है। 'घट' नामक पद का यह अर्थ सूक्ष्म है। लोक मे प्रचलित स्थूल अर्थ से यह भिन्न है। इसलिए लौकिक न होकर अलौकिक, लोकोत्तर या भावगम्य है।

२४. रसास्वाद

ध्वनिवादी आलंकारिक रस को व्यंग्यार्थ मानते हैं। रस, विभाव-अनुभाव आदि के द्वारा व्यंजित होता है। न तो विभाव (शकुन्तला, दुष्यन्त), न अनुभाव (स्वेद, कंप आदि ही) और न व्यभिचारी या संचारी भाव ही प्रत्यक्ष-ग्राह्य रस है। मीमांसकों ने अभिधा और लक्षणा, इन दो वृत्तियों के अतिरिक्त इस तीसरी वृत्ति (व्यंजना) को स्वीकार नहीं किया। वे मानते हैं कि वाक्य मे तात्पर्य नामक वृत्ति होती है जो कहने वाले के मन में जो अर्थ होता है उसे समाप्त करके ही विरत होती है। इस प्रकार वाक्यार्थ रस-बोध तक जाकर विश्रान्त होता है। व्यंजनावृत्ति को अलग से मानने की [illegible] आवश्यकता नहीं

समझते। मीमांसकों के इस मत का मूल है यह सूत्र—'यत्पर शब्द स शब्दार्थः'। (शब्द जिसके लिये प्रयुक्त होता है वह शब्दार्थ होता है।) इसका एक मतलब यह हो सकता है कि जिस अर्थ को बोध कराने के लिये शब्द प्रयुक्त होता है वही उसका अर्थ होता है (तदर्थत्व), दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि शब्द सम्बन्ध-मर्यादा से सीमित रहकर जिस अर्थ की सूचना देता है वही उसका अर्थ होता है (तत्परत्व)। पहले अर्थ की व्यापकता स्पष्ट है। परन्तु मीमांसक सम्बन्ध-मर्यादा को भी मानते हैं। इसलिये जिसे वे 'तात्पर्य' कहते हैं वह सीमित हो जाता है। उससे व्यंजनावृत्ति का काम नहीं चल सकता, क्योंकि व्यञ्जनावृत्ति सम्बन्ध-मर्यादा से बँधी नहीं होती। दशरूपककार तात्पर्यवृत्ति को पहले अर्थ में लेते हैं। उनकी दृष्टि में तात्पर्य की कोई सीमा नहीं है। वे तात्पर्य और तादर्थ्य में भेद नहीं करते। ऐसा मान लेने पर भी व्यंजनावृत्ति से जो विशिष्ट अर्थ ध्वनित होता है उसका एक विशेष नाम देना आवश्यक हो जाता है। इसलिए इस वृत्ति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। फिर भी रस को व्यंग्यार्थ-मात्र मानने में कठिनाई होगी। रस अनुभूति है, अनुभूति का विषय नहीं। भाव तो विभाव के चित्त में ही उठते हैं। दर्शक के मन में उनका एक मानस-सूक्ष्म रूप उत्पन्न होता है जिससे वह अपनी ही अनुभूतियों का आनन्द लेने में समर्थ होता है। सभी आलंकारिक आचार्य मानते हैं कि रस न तो 'कार्य' होता है और न 'ज्ञाप्य'। वह पहले से उपस्थित भी नहीं रहता। जो वस्तु पहले से उपस्थित नहीं रहती वह व्यंजनावृत्ति का विषय भी नहीं हो सकती। रस सहृदय श्रोता या दर्शक के चित्त में अनुभूत होता है, पात्र के चित्त में नहीं। अतः व्यंजनावृत्ति केवल श्रोता या दर्शक के चित्त में सूक्ष्म विभाव अनुभाव और संचारी भाव को उपस्थित कर सकती है और जो कुछ कहा जा रहा है उससे भिन्न, जो नहीं कहा जा रहा है या नहीं कहा जा सकता है, उस अर्थ की उपस्थिति करा सकती है। भरत मुनि के सूत्र

का तात्पर्य यही हो सकता है कि सहृदयों के चित्त में वासना-रूप से स्थित, किन्तु प्रसुप्त स्थायी भाव ही विभावादि से व्यंजित होकर रसरूप ग्रहण करते हैं। नाटक में व्यंजना के साधन केवल शब्द ही नहीं बल्कि अभिनेता की चेष्टाएँ भी हैं। इस प्रकार नाटक एक ओर तो कवि-निबद्ध शब्दों से रस की व्यंजना करता है, दूसरी ओर अभिनेता के अभिनय द्वारा। परन्तु इतना स्पष्ट है कि व्यंजना यदि शब्द शक्ति और अभिनय-शक्ति मात्र है तो श्रोता के प्रस्तुत भावों को व्यंजित भर कर सकती है, उस अनुभूति को नहीं व्यक्त कर सकती जो शब्द और अभिनय के बाहर है और श्रोता या दर्शक के चित्त में अनुभूत होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि "भाव की अवस्थिति नायक और नायिका में होती है और रस की अनुभूति श्रोता या दर्शक के द्वारा होती है। पात्र के मन में रस नहीं होता जो व्यंजित किया जा सके।" इस कठिनाई से बचने के लिए आलंकारिकों ने पुराने आचार्य भट्टनायक के सुझाए दो व्यापारों—भावकत्व और भोजकत्व—को किसी-न किसी रूप में मान लिया है। मतलब यह है कि कवि के निबद्ध शब्दों और अभिनेता के द्वारा अभिनीत चेष्टादि में यह सामर्थ्य भी है कि श्रोता या दर्शक को पात्रों की भावना के साथ अपनी भावना का तादात्म्य स्थापित करा दे। ऐसी स्थिति में उसके भीतर पात्रों का विशेष रूप न रहकर साधारणीकृत रूप (पुरुष, स्त्री) रह जाता है, फिर उसमें एक भोजकत्व-व्यापार का आविर्भाव होता है और यह साधारणीकृत विभावादि और उनकी भावनाओं के आस्वादन में समर्थ हो जाता है।

कवि या नाटककार का कौशल पात्रों के विशेषीकरण में प्रकट होता है। हम उस कवि को ही सफल कवि मानते हैं जो पात्रों का विशेष व्यक्तित्व निखार सकता है। परन्तु ये विशेषीकृत पात्र लौकिक होते हैं। सहृदय के चित्त में जो पात्र बनते हैं वे उसकी अपनी अनुभूतियों से बनने के कारण लोकोत्तर या अलौकिक होते हैं। वह अपने

संवेग कहा जा सकता है (जैसे आवेग, अवमर्ष, अवहित्था, त्रास, हर्ष, विषाद इत्यादि), कुछ विकल्प कहे जा सकते हैं (जैसे शंका, स्मृति, मति, चिन्ता, वितर्क इत्यादि), कुछ को वेगावरोध कहा जा सकता है, (जैसे दैन्य, मद, निद्रा, जड़ता, मोह आदि) और कुछ को वेग-प्रभृति कहा जा सकता है (जैसे श्रम, अपस्मार, इत्यादि) और कुछ ऐसे भी हैं जो विप्रकर्षी संवेग माने जा सकते हैं (जैसे लज्जा, असूया, गर्व आदि)। इसलिये जो लोग इन भावों का अध्ययन मानसिक भाव-मात्र के रूप में करते हैं, वे इसके साथ न्याय नहीं करते। भाव पात्र के मन में होता है, कवि द्वारा निबद्ध होता है, अभिनेता द्वारा प्रतीति-योग्य बनाया जाता है और सहृदय द्वारा रसानुभूति को बहुविचित्र आस्वाद के योग्य बनाने मे सहायक होता है।

कवि जैसा चाहता है वैसा अर्थ विभाव के द्वारा आहृत करता है। पात्र जैसा भाव प्रकट करता है, उसे ही अभिनेता प्रतीति-योग्य बनाता है, अभिनेता जिस अर्थ को प्रतीति योग्य बनाता है, सहृदय उसीको भावना का विषय बनाता है। इस प्रकार कवि-निबद्ध पात्रों के भाव अभिनेता द्वारा प्रतीति-योग्य बनाए जाकर सहृदय द्वारा भावित होते हैं। इसलिये अभिनेता के द्वारा प्रतीति उत्पन्न करने के साधन भाव-मनोविकारों को प्रतीति-योग्य बनाने के साधन हैं। इनसे गम्यमान भाव सहृदय के चित्त में सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर रूप मे आविर्भूत होता है। लौकिक मनोविकार में तीन बातें होती हैं—ज्ञान (सत्त्वगुण), इच्छा (रजोगुण), क्रिया (तमोगुण)। मनुष्य कुछ जानता है, कुछ चाहता है, कुछ करता है। सहृदय के चित्त में आते-आते अन्तिम दोनों तत्त्व क्षीण हो जाते हैं। इसी को शास्त्रकारों ने 'सत्त्वोद्रेक' कहा है। यह सत्त्वोद्रेक भावों को विशुद्ध जानकारी के रूप म तो नहीं लेकिन प्राय जानकारी के रूप में ले आ देते हैं और सहृदय रसानुभूति के योग्य बनता है। विचार करके देखा जाए तो यह सारी प्रक्रिया दर्शक के अन्तरतर म व्याप्त उसके शुद्ध चैतन्य-रूप के उद्घाटन में समर्थ होती है। शुद्ध चैतन्य का

उद्घाटन ही आनन्द है। इसमे नामात्व मे सामान्य 'एक' की उपलब्धि होती है। कई बार भाव रसानुभूति के स्तर पर नही पहुँचा सकते। वे जानकारी के स्तर पर रहकर सहृदय के भीतर केवल आंशिक आनन्द को उत्पन्न कर पाते हैं। कई रूपको मे यद्यपि रस की स्थिति मानी गई है, पर वस्तुत वे भाव तक ही रह जाते हैं। भरत मुनि के युग म जो तमाशे प्रचलित थे उनमे जो कुछ अधिक उच्चकोटि के थे उन्होने रूपक की मर्यादा दी अवश्य पर वे पूर्णाङ्ग रूपक नहीं हैं। पूर्णाङ्ग रूपको म वीर और शृगार रस ही हो सकते हैं। एक और रस हो सकता था—अनुकम्पा स्थायी भाव वाला करुण। पर इस देश मे उसका प्रचार नही था।

नाटक ही श्रेष्ठ रूपक है

वस्तु, नेता और रस इन तीन तत्त्वो के आधार पर रूपको के भेद किए जाते हैं। यहाँ यह समझ रखना चाहिए कि इनमे प्रधान रस है वस्तु गौण। कथावस्तु जितना ही अधिक परिचित या प्रख्यात होगा, नाटककार को रस-व्यंजना मे उतनी अधिक सहूलियत होगी। प्रख्यात कथा नाटक की कथावस्तु होती है। इसीलिये नाटक भारतीय साहित्य मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काव्य-रूप है। अरस्तू ने प्लॉट या कथावस्तु को त्रजेडी नाटको की आत्मा कहा था (पोएटिक्स १४५० अ ३८)। परन्तु भारतीय परम्परा कथावस्तु को गौण और रस को मुख्य मानती है। प्रख्यात-चरित मे कथा द्रष्टा की जानी हुई होती है। नाटककार रस के अनुकूल कथावस्तु और पात्रो के चरित्र मे भी काट छाँट का अधिकार रखता है। कालिदास और भवभूति आदि कवियो ने ऐसी काट-छाँट की है। भारतीय नाटक अपने ढग का अनोखा ही है—रस के अविरुद्ध नायक और रसोचित नायक के अनुरूप वस्तु लेकिन वस्तु की मोटी-मोटी बातें सर्वविदित। इसमे कथावस्तु की जटिलता के चक्कर मे न पडकर कवि रसानुकूल घटनाओ और आवेगो के जाग्रत करने मे अपने कौशल का परिचय देता

है। प्रकरण की कथावस्तु उत्पाद्य होता है। उनमें कवि को काल्पनिक कथावस्तु के निर्माण की छूट है, पर यह कथा भी बहुत-कुछ जानी हुई रहती है। वह इतिहास से अर्थात् रामायण-महाभारत से नहीं ली जाती, पर 'कथा-सरित्सागर' आदि लौकिक आख्यानों से ली गई होती है। इसमें नाटककार को यथार्थ लोक-जीवन को चित्रित करने की स्वतन्त्रता अपेक्षाकृत अधिक होती है। नाटिका की कथा कल्पित होती अवश्य है, पर बहुत-कुछ उसकी कथावस्तु मिश्रित ही होती है। कोई लड़की, जिससे विवाह होने पर राजा का कल्याण होने वाला होता है, किसी संयोग से अन्तःपुर में पहुँचाई जाती है। राजा की दृष्टि उस पर पड़ती है। अनुराग बढ़ता है। रानी सशंक होकर सावधान होती है, फिर अनुकूल होती है। प्रायः बाद में पता चलता है कि लड़की रानी की दूर-रिश्ते की नाई बहन है। यही नाटिकाओं की सामान्य कथावस्तु है। प्रधान उद्देश्य कथा की जटिल प्रक्रिया नहीं, रसोद्रेक है। भारतीय जीवन में कर्मफल की अवश्यम्भाविता स्वीकृत जीवन-दर्शन है। बुरा करने वाले को बुरा और भला करने वाले को भला फल मिलना आवश्यक है। इस आदर्श ने भारतीय नाटकों को ग्रस लिया था। अच्छे-भले आदमी को नियति के क्रूर विधानों के आगे हतबुद्धि होकर पराभूत होना पड़ता है। ऐसी परिस्थितियों के सम्मुखीन होना पड़ता है जो उसकी शक्ति से कहीं अधिक शक्ति से सम्पन्न होने के कारण उसे लाचार बना देती हैं। शुभ बुद्धि वाले मनुष्य को भी हारना पड़ता है। यह बात भारतीय नाटकों में नहीं मिलती। जहाँ मिलती है वहाँ देवता भले की सहायता के लिये आ जाते हैं, और सब-कुछ का अन्त शुभ परिणाम में होता है। 'शाकुन्तल' में अप्सरा सहायक होती है, 'नागानन्द' में गौरी सहायतार्थ आ जाती है, 'उत्तर-चरित' में देवियाँ सहायक सिद्ध होती हैं। जो बातें पश्चिमी नाटकों में घोर नैराश्य और क्रूर परिहास का विषय बन सकती थीं, वे दैवी शक्तियों की सहायता से सुलझ जाती हैं।

नाटकों में प्रतिनायक को परास्त होना पड़ता है। प्रतिनायक सदा नायक की तुलना में हीनबल, दिग्व्यसन, उद्धत और शिथिल चरित्र चित्रित किया जाता है। ऐसा न किया जाए तो कर्मफल की अवश्य-भाविता वाले जीवन-दर्शन की नींव ही कमजोर हो जाए। नायिका के लिए समान भाव से प्रेमरागी नायक और प्रतिनायक अन्तिम दृश्य को सुखकर बनाने में बाधक सिद्ध हो सकते हैं। इसीलिये जिसे हारना है उसे शिथिल-चरित्र का व्यक्ति बनाना आवश्यक हो जाता है। जिसे जीतना है उसे उदात्त बनाना भी उतना ही आवश्यक है। इस बात ने भारतीय नाटकों में वैचित्र्य की कमी ला दी है। फिर भी भारतीय कवियों ने बहुत उत्तम रसपूर्ण नाटक-साहित्य का निर्माण किया है। संसार के मनीषियों ने मुक्त कण्ठ से इस साहित्य की प्रशंसा की है। प्रयोग-दोष की सीमा ने नाटककारों को अत्यधिक दक्षता और गम्भीर रसव्यंजना की सर्जना में सहायता पहुँचाई है। जो बात नाटकों-नाटिकाओं और प्रकरणों के बारे में सत्य है वह अन्यान्य रूपकों के बारे में

वास्तविक आनन्द का हेतु है। शास्त्रकारों ने भयानक, बीभत्स, हास आदि को भी रस की मर्यादा दी है, पर वास्तव में ये भावकोटि तक पहुँचकर रह जाते हैं। एक और रस, जिसे भरत मुनि ने नाटय-रस की मर्यादा नहीं दी है, भक्ति स्थायी भाव वाला रस है जिसमें आश्रय के साथ तादात्म्य की सम्भावना है। किसी-किसी आचार्य ने रसों की संख्या परिमित करने को केवल मुनि के प्रति आदर-प्रदर्शन के लिये माना है। वे रसों और भावों की संख्या अधिक मानने के पक्ष में हैं। यदि हास, जुगुप्सा, क्रोध आदि स्थायी भाव हैं तो इन्हीं के समान अन्य मनोभाव भी स्थायी हो सकते हैं, ऐसा नाटयदर्पणकार का मत है। उन्होंने लिखा है कि "विशेष रूप से रंजनाकारक होने के कारण और पुरुषार्थों के लिये अधिक उपयोगी होने के कारण शृंगारादि नौ रस (शान्त के सहित) ही पुराने सदाचार्यों के द्वारा उपदिष्ट हैं। किन्तु इनसे भिन्न और रस भी हो सकते हैं, जैसे गृध्नुता या लालच स्थायी भाव वाला लौल्य रस, आर्द्रता स्थायी भाववाला वात्सल्य रस, आसक्ति स्थायी भाव वाला व्यसन रस, अरति या बेचैनी स्थायीभाव वाला दुःख रस, सन्तोष स्थायीभाव वाला सुखरस इत्यादि। परन्तु कुछ आचार्य पूर्वोक्त नौ रसों में ही इनका अन्तर्भाव कर लेते हैं।" ('नाटयदर्पण' ३.१११)।

भारतीय नाटय-परम्परा बहुत पुरानी है। कई बार इसकी साथ यावनी नाटय-परम्परा की तुलना करके यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि इसका प्रमुख अंश मिलता-जुलता होने से वहीं (यवन-परम्परा) से लिया गया है। परन्तु यह बात उचित नहीं है। इसका स्वतन्त्र विकास हुआ है और परमपद की अवश्यम्भावी प्राप्ति में अडिग तीव्र भारतीय तत्त्व-दर्शन के अनुकूल हुआ है। आधुनिक दृष्टि से इसमें कमियाँ मालूम पड़ सकती हैं, पर आधुनिक दृष्टि सम्पूर्ण रूप से भिन्न जीवन-दर्शन का परिणाम है।

९. नाट्य-शास्त्र और यावनी परम्परा

१६वीं शताब्दी में कई यूरोपियन पण्डितों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि भारतीय नाट्यों के विकास में भारत के साथ ग्रीस के सम्पर्क का बहुत बड़ा हाथ है। वेबर ने अपनी पुस्तक Indian Literature में तथा अन्य कई लेखकों ने यह बताने का प्रयत्न किया कि बैक्ट्रिया, पंजाब और गुजरात में ग्रीक शासकों के दरबार में ग्रीक नाटकों के अभिनय होते थे। उनसे भारतीय नाटक और नाटकीय सिद्धान्तों पर प्रभाव पड़ा होगा। परन्तु 'महाभाष्य' में जब ऐसा लेख प्राप्त हुआ, जिससे 'रामायण-महाभारत' आदि के अभिनय की परम्परा पूर्ण रूप से सिद्ध हो गई, तो वेबर ने अपने मत में थोड़ा सुधार कर लिया। वे इतना कहकर सन्तुष्ट हो गए कि भारतीय नाटकों पर और नाटकीय सिद्धान्तों पर कुछ ग्रीक-प्रभाव जरूर पड़ा होगा।

पिशेल नामक जर्मन पण्डित ने वेबर के मत का बड़ा जोरदार खण्डन किया, जिसका प्रत्याख्यान सन् १८८२ में विंडिश नामक जर्मन पण्डित ने किया। विंडिश यह तो मानते हैं कि भारतवर्ष में स्वतन्त्र भारतीय नाट्य के विकास के तत्त्व पूर्ण मात्रा में विद्यमान थे। परन्तु 'महाभाष्य' में उल्लिखित 'रामायण-महाभारत' की लीलाओं से परवर्ती काल के शास्त्रीय-सिद्धान्त-मर्यादित नाटकों को भिन्न समझते हैं, उनका कहना है कि परवर्ती काल में नाटकों की विषय-वस्तु का परिवर्तन हो गया, जो पौराणिक पात्र थे, वे गृहस्थ के दैनन्दिन जीवन के साँचे में ढाले गए, नाटकों की प्रधान काव्य-वस्तु कामदी-प्रेम बन गया। कथावस्तु का दशात्मक विकास हुआ जिसमें अंकों और दृश्यों में उसका विभाजन किया गया, पात्रों के ढाँचे में विकास हुआ, वार्तालाप के विकास के सामने महाकाव्यात्मक तत्त्व पीछे रह गए, पद्यों के साथ-साथ गद्य का मिश्रण हुआ, और संस्कृत के साथ प्राकृत ने भी नाटकों में अपना अधिकार स्थापित किया। क्या यह सब यों ही हो गया? निश्चय ही कोई महत्त्वपूर्ण प्रेरक तत्त्व नया आया होगा। विंडिश का यही

लिया जा सकता है कि भारतवर्ष में जो ग्रीक लोग आए होंगे वे कुछ-न-कुछ अपने देश के नृत्य, गान, नाटक आदि का अभिनय भी कराते होंगे। जिन शासकों ने ग्रीक कलाकारों को बुलाकर सुन्दर सिक्के ढलवाये उनसे उतने कला प्रेम की आशा तो की ही जा सकती है, परन्तु फिर प्रश्न उठता है कि सचमुच इन नाटकों ने भारतीय नाटकों को प्रभावित किया होगा ? विंडिश का कहना है कि ईसवी पूर्व ३४० और २६० के बीच जो ग्रीस में नयी ऐक्टिक कामेडियाँ लिखी गई वे ही भारतीय नाटकों को प्रभावित करने वाले मूल स्रोत मानी जा सकती हैं, परन्तु जैसा कि श्री ए० बी० कीथ ने अपने 'संस्कृत नाटक' नामक ग्रन्थ में बताया है "संस्कृत नाटक और कामेडियों में जो सम्बन्ध है वह बहुत ही थोड़ा है। श्री ए० बी० कीथ ने और भी कहा है कि विंडिश का यह कहना कि ग्रीक (रोमन) और भारतीय दोनों नाटकों में अंकों और दृश्यों का विभाजन होता है, दोनों में सभी पात्र प्रत्येक दृश्य के अन्त में रंगमंच छोड़ देते हैं अंकों की संख्या साधारणतः पाँच होती है (भारतीय नाटकों में यह संख्या प्रायः अधिक होती है) कोई बहुत महत्त्वपूर्ण साम्य नहीं है क्योंकि यह संयोगजन्य साम्य भी हो सकता है। संस्कृत-नाटकों का अंग-विभाजन एक्शन के विश्लेषण (Analisation of action) पर आधृत होता है जो ग्रीस और रोम में कहीं भी अनुलिखित नहीं है। इसी प्रकार दृश्य-सम्बन्धी रूढ़ियों में जो समानता है, जनान्तिक और अपवार्य भाषण की रूढ़ियों में जो एकरूपता है और किसी पात्र के प्रवेश के समय रंगमंच पर उपस्थित किसी अन्य पात्र से उसके सम्बन्ध में परिचयात्मक वाक्य कहलाने की समान प्रथाएँ हैं, वे भी ऐसी हैं जो एक ही परिस्थिति में खेले जाने वाले नाटकों में अवश्य नियोज्य हैं, उनकी समानता से ग्रीक या रोमन प्रमाण की स्थापना नहीं की जा सकती। (संस्कृत ड्रामा में ए० बी० कीथ, पृ० ५८-५६) आजकल के वैज्ञानिक युग में भी नवागत पात्र के परिचय कराने की आवश्यकता अनुभव की ही जाती है।

और पालि का 'योन' शब्द बना है। बाद मे इस शब्द का अर्थ विस्तार हुआ और हेलेनिक परसियन साम्राज्य के सभी देशो के निवासियो के लिए इसका प्रयोग हुआ है, मिस्र (Egypt), ईरान (Persia) सीरिया, वाह्लीक (Wahlic) आदि सभी देशो के निवासी यवन कहे जाते थे और उनकी वस्तुएँ भी इसी विशेषण से स्मरण की जाती थी। लेवी ने ईरान के बने परदो को यवनिका कहा है। वस्तुत जैसा कीथ ने कहा है, ग्रीक नाटको में परदे होते ही नही थे। स्वय विडिश ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। फिर भी वे कहना चाहते हैं कि ग्रीक रगमच के पीछे जो चित्रित दृश्यावली होती थी उसे ही भारतीय रगमच मे परदे से सूचित किया जाता होगा, इसलिए उसको यवनिका' नाम दे दिया गया। यह विचित्र तर्क है। अनेक यूरोपियन पण्डितो ने इस तर्क की निस्सारता सिद्ध की है, फिर भी यवनिका' शब्द इतना स्पष्ट व्यञ्जना-कारी है कि इससे उत्पन्न भ्रान्त धारणा इस देश मे बनी हुई है और आए दिन अच्छे अच्छे भारतीय मनीषी इस भ्रान्त सिद्धान्त को अम्लान-भाव से कह दिया करते हैं।

सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ॰ राघवन् ने ग्रीक और सस्कृत-रगमचो की तुलना करते हुए ठीक ही कहा है कि "भारतीय रगमच पर नाट्य रूपो की विविधता पहले से ही थी, जो (उस समय)यूनान मे अनुपलब्ध थी। 'तर्जदी' यूनानी नाटको का सर्वोत्कृष्ट रूप था और सस्कृत-रगमच पर यूनानी तर्जदी-जैसी किसी वस्तु का विकास कभी नही हुआ। वस्तुत इसके सिद्धात रगमच पर किसी की मृत्यु अथवा मृत्यु के साथ किसी नाटक के अत का निषेध करते थे। सस्कृत-रगमच मे यूनानी रगमच के समान कोई गायक-वृन्द नही होता था और यूनानी सिद्धात के अनुसार अनिवार्य सकलन त्रय के सिद्धात से देश-काल के सकलन भारतीय सिद्धान्त तथा व्यवहार द्वारा पूर्ण निश्चिन्त होकर छोड दिए गए थे। भारतीय नाटक यूनानी नाटक की अपेक्षा अत्यधिक विशाल भी था। यूनानी रगमच का भारतीय रगमच के विविध रूपो से—

के उपयुक्त नया रूप दे सकता है, क्योंकि संस्कृत-नाटककार उसे अपने नाटक में उदात्त चरित्रों तथा दर्शकों के अन्तस्तल पर उदात्त भावों का प्रभाव उपस्थित करने का प्रयास किया करता है। नाटक का अन्त सुखमय होना चाहिए। (संस्कृत लक्षण-ग्रन्थों के अनुसार नाटक एक विशेष जाति का अभिनेय रूपक है। परन्तु यहाँ इस शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थों में किया गया है।)

इन दृष्टियों तथा अपने निर्धारित भाव के अनुसार नाटककार अपनी मूल वस्तु के अवयवों, कथावस्तु, चरित्र और रस की योजना करता था। वस्तुत रस ही संस्कृत के सभी काव्य-नाटकों का लक्ष्य है। रस तक ले जाने के कारण ही नायक (ले जाने वाला), नायिका (ले जाने वाली), अभिनय (ले जाने का पूर्ण साधन) आदि शब्दों की रचना हुई है। वह कथा की उन घटनाओं को, जो उसके कथानक के लिये आवश्यक होती थीं अथवा उसके मुख्य भाव के विरुद्ध होती थी, परित्यक्त अथवा पुनर्निर्मित करता था। यहीं वह अपने स्वयं के चरित्रों की सृष्टि कर लेता था। कथावस्तु तथा चरित्र-चित्रण, जो पश्चिमी नाटकों के सर्वस्व होते हैं, भारतीय नाट्य-रचना में रस के साधन होते थे। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि कथानक एवं चरित्र चित्रण उपेक्षित थे। भरत का कथानक निर्माण की प्रविधि का नियमपूर्ण वर्गीकरण इस प्रकार की आलोचना का निराकरण करगा।

और पालि का 'योन' शब्द बना है। बाद में इस शब्द का अर्थ-विस्तार हुआ और हेलेनिक पर्सियन साम्राज्य के सभी देशों के निवासियों के लिए इसका प्रयोग हुआ है, मिस्र (Egypt), ईरान (Persia) सीरिया, वाह्लीक (Wahlic) आदि सभी देशों के निवासी यवन कहे जाते थे और उनकी वस्तुएँ भी इसी विशेषण से स्मरण की जाती थीं। लेवी ने ईरान के बने परदों को यवनिका कहा है। वस्तुत जैसा कीथ ने कहा है, ग्रीक नाटकों में परदे होते ही नहीं थे। स्वय विंडिश ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। फिर भी वे कहना चाहते हैं कि ग्रीक रगमच के पीछे जो चित्रित दृश्यावली होती थी उसे ही भारतीय रगमच में परदे से सूचित किया जाता होगा, इसलिए इसको 'यवनिका' नाम दे दिया गया। यह विचित्र तर्क है। अनेक यूरोपियन पण्डितों ने इस तर्क की निस्सारता सिद्ध की है, फिर भी 'यवनिका' शब्द इतना स्पष्ट व्यञ्जना-कारी है कि इससे उत्पन्न भ्रान्त धारणा इस देश में बनी हुई है और आए-दिन अच्छे अच्छे भारतीय मनीषी इस भ्रान्त सिद्धान्त को अम्लान-भाव से कह दिया करते हैं।

सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० राघवन् ने ग्रीक और संस्कृत-रगमचों की तुलना करते हुए ठीक ही कहा है कि "भारतीय रगमच पर नाट्य रूपों की विविधता पहले से ही थी, जो (उस समय) यूनान में अनुपलब्ध थी। 'तर्जेदी' यूनानी नाटकों का सर्वोत्कृष्ट रूप था और संस्कृत-रगमच पर यूनानी तर्जेदी-जैसी किसी वस्तु का विकास कभी नहीं हुआ। वस्तुत इसके सिद्धान्त रगमच पर किसी की मृत्यु अथवा मृत्यु के साथ किसी नाटक के अन्त का निषेध करते थे। संस्कृत-रगमच में यूनानी रगमच के समान कोई गायक-वृन्द नहीं होता था और यूनानी सिद्धान्त के अनुसार अनिवार्य सकलन त्रय के सिद्धान्त से देश-काल के सकलन भारतीय सिद्धान्त तथा व्यवहार द्वारा पूर्ण निश्चिन्त होकर छोड दिए गए थे। भारतीय नाटक यूनानी नाटक की अपेक्षा अत्यधिक विशाल भी था। यूनानी रगमच का भारतीय रगमच के विविध रूपों से—

जिनका भरत ने कुछ विशदता से वर्णन किया है—कोई साम्य नहीं है। भरत के—जिनका ग्रन्थ अरस्तू के पोयटिक्स तथा 'रिटारिक्स' के सम्मिलित रूप से भी अधिक पूर्ण है—पूर्ण रस-सिद्धान्त के समक्ष, त्रास, करुणा तथा विरेचन के यूनानी सिद्धान्त हेय-से हैं। परदे के लिये प्रयुक्त 'यवनिका' शब्द, रंगमंच पर आने वाले राजकीय अनुचरों में यवन स्त्रियों की उपस्थिति आदि तथ्यों में भी यवन-सम्पर्क के कुछ प्रमाण खोजे गए हैं। (इनमें से) अन्तिम तो नितान्त व्यर्थ है। यदि हमारे पास परदे के लिए 'पटी', 'तिरस्करणी', 'प्रतिशिरा' तथा यहाँ तक कि 'यमनिका' आदि शब्द देशीय तथा युक्तियुक्त न होते तो प्रथम युक्ति में कुछ शक्ति हो सकती थी। इन रूपों की अपेक्षा भारतीय नाटक के अधिक महत्त्वपूर्ण विशिष्ट अंग वे हैं जिनका यूनानी नाटकों में अभाव है—संस्कृत-नाटकों में प्रयुक्त संस्कृत तथा विभिन्न प्रकार की प्राकृतों का बहुभाषीय माध्यम। सिलवाँ लेवी ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि संस्कृत-नाटक पश्चिमी भारत में शकों के प्रभाव में विकसित हुए हैं। उनके आधार भूत प्रमाण नितान्त सारशून्य हैं। कीथ के अनुसार संस्कृत-नाटकों का उद्भव तथा विकास स्वदेशीय ही है। निस्सन्देह शिल्प तथा आदर्श की दृष्टि से भारतीय नाटक यूनानी नाटक से सर्वथा भिन्न है।

'यवनिका' की ही भाँति संस्कृत-नाटकों में राजा की अंगरक्षिका के रूप में यावनी बालाओं की उपस्थिति का भी ग्रीक रंगमंच के प्रभाव का निदर्शक बताया जाता है, पर जैसा कि श्री कीथ ने कहा है कि ग्रीक नाटकों में अंगरक्षिकाओं का कोई अस्तित्व नहीं है, यह अधिक-से-अधिक ग्रीक रमणियों के प्रति भारतीय राजाओं का झुकाव ही सिद्ध करता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र[1] तथा मैगस्थनीज आदि के लेखों से इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

विदिश में नाटिकाओं के साथ कई कामदियों का आश्चर्यजनक

१. अध्याय १, पृ० २१।

साम्य दिखाया है और इनमे तथा अन्य संस्कृत-नाटको मे जो अभिज्ञान या सहिदानी का अभिप्राय आया है उसे ग्रीक प्रभाव बताने का प्रयत्न किया है। परन्तु जैसा कि कीथ ने कहा है, अभिज्ञान का अभिप्राय भारतीय कथा-साहित्य मे इतना पुराना है कि यह कल्पना करना कि भारतीयो को अभिज्ञान या सहिदानी के अभिप्राय को उधार लेने के लिये ग्रीस जाना पडा, कुछ तुक की बात नही है। यह और बात है कि जिन कथाओ और काव्यो मे इस प्रकार के अभिप्रायो का प्रयोग है, उनकी तिथि सर्वत्र सन्देहास्पद बताई जाती है। ब्लूम फील्ड आदि विद्वानो ने भारतीय कथानक-रूढियो का बहुत विस्तृत और गहन अध्ययन प्रस्तुत किया है। उनके प्रयत्नो से इस रूढि की प्राचीनता निस्सन्दिग्ध रूप से प्रमाणित हो गई है। 'मृच्छकटिक' नाटक की कथावस्तु, नाम आदि को लेकर विंडिश ने अपने सिद्धान्त स्थिर किए थे, पर भास के 'चारुदत्त' नामक नाटक के मिलने से, जो 'मृच्छकटिक' का मूल रूप है, अब उसका भी वजन कम हो गया है। 'मृच्छकटिक' मे कुछ नयापन है अवश्य, और यदि वह विदेशी प्रेरणा से आया हो तो कोई आश्चर्य नही है। राजनीतिक उलटफेरो से गणिका वसन्तसेना का रानी की मर्यादा पा लेना नयी-सी बात है, पर उसका पहली रानी के साथ-साथ विवाहित पत्नी के रूप मे रहना भारतीय प्रथा है।

इसी प्रकार और भी जो बाते कही गई हैं वे निराधार और कष्ट-कल्पित हैं। यह तो नही माना जा सकता कि ग्रीको-जैसी शक्तिशाली जाति के सम्पर्क मे आने के बाद भारतीयो-जैसी अद्भुत कल्पनाशील जाति के विचारो और कल्पना शक्ति मे कोई परिवर्तन हुआ ही न होगा, पर जहाँ तक नाटकीय सिद्धान्तो का प्रश्न है, उसकी बहुत ही समृद्ध और पुरानी परम्परा इस देश मे विद्यमान थी। यह भी नही समझना चाहिए कि यावनी साहित्य और विचार-धारा भारतीय सम्पर्क मे आकर कुछ लेने मे हिचकी होगी। अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि दोनो जातियो मे कुछ ऐसा आदान-प्रदान हुआ अवश्य होगा, पर उसे

नाट्य-शास्त्र के सिद्धान्तों को ग्रीक-साहित्य की देन कहना कल्पना-विलास-मात्र है।

कई यूरोपियन पण्डितों ने केवल बाहरी प्रमाणों पर निर्भर न रहकर विषय-वस्तु और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भारतीय और ग्रीक-रोमन नाटकों की तुलना की है और बताया है कि भारतीय नाटकों में जो 'टाइप' की प्रधानता है वह सिद्ध करती है कि आरम्भ में ये अनुकरणमूलक रहे होंगे और बाद में ग्रीक-रोमन-नाटकों के प्रभाव से नया रूप ग्रहण किया होगा। पुराने टाइपों का रह जाना उनके मत से रोमन कामदियों से उनका प्रभावित होने का ही लक्षण है, क्योंकि यह सिद्ध करता है कि कुछ नया तो आ गया, पर पुराना गया नहीं। यह बात कितनी निराधार है यह श्री कीथ के इस वाक्य से स्पष्ट हो जाता है .

"The similarity of types is not at all convincing, the borrowing of the idea of using different dialects from the mime is really absurd and the large number of actors is equally natural in either case "

अर्थात् टाइपों की समानता बिलकुल मानने योग्य बात नहीं है और विभिन्न बोलियों के प्रयोग-सम्बन्ध में माइम से उधार लेने वाला विचार बेहूदा तर्क है तथा अभिनेताओं की अधिक संख्या का होना दोनों देशों के नाटकों में समान रूप से सम्भव है।

श्री कीथ ने ज़ोर देकर कहा है कि ग्रीक-रोमन कामदियों में टाइप की ही प्रधानता है और संस्कृत-नाटकों में परिचित पात्र की वैयक्तिक विशेषताओं के कारण यथार्थता में जो विकास हो जाता है वह उसमें एकदम नहीं मिलता।

पर आधारित हैं और नाट्य-शास्त्र के विकास में तो किसी विदेशी परम्परा का नाम-मात्र का भी सम्बन्ध नहीं दिखाया जा सकता। नाट्य-शास्त्र की परम्परा बहुत पुरानी—हजरत ईसा के जन्म से सैकड़ों वर्ष पुरानी है।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

दशरूपक

प्रथम प्रकाश

ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलाचरण महापुरुष करते आए हैं। अतः मंगल करना परम कर्तव्य है, इस बात को ध्यान में रखकर ग्रन्थकार निर्विघ्न ग्रन्थ की समाप्ति के लिए प्रकृत और अभिमत देवताओं की स्तुति दो श्लोकों में कर रहे हैं—

नमस्तस्मै गणेशाय यत्कण्ठः पुष्करायते ।
मदाभोगघनध्वानो नीलकण्ठस्य ताण्डवे ॥१॥

मयूर के नृत्य के समय मेघों की गड़गड़ाहट जैसे मृदंग का काम देती है वैसे ही गणेशजी का मुख भगवान् शंकर के नृत्य-काल में मद के विस्तार से निबिडध्वनि करने वाले मृदंग का आचरण करता है [मृदंग की कमी को पूरा करता है], उस गणेशजी को नमस्कार है ॥१॥

दशरूपानुकारेण यस्य माद्यन्ति भावकाः ।
नमः सर्वविदे तस्मै विष्णवे भरताय च ॥२॥

सर्वविद् भगवान् विष्णु और आचार्य भरत को नमस्कार है, जिनके भक्त दस रूपों के ध्यान और अनुकरण आदि के द्वारा प्रसन्न हुआ करते हैं ॥२॥

विष्णु के भक्त भगवान् के मत्स्य, कूर्म, बराह आदि दस अवतारों की प्रतिमा बना-बनाकर तथा पूजन आदि के द्वारा प्रसन्न होते हैं तथा आचार्य भरत की शिष्य परम्परा उनके द्वारा प्रचारित दस रूपों अर्थात् रूपकों के अभिनय के द्वारा प्रसन्न होती है। ऐसे भगवान् विष्णु और आचार्य भरत को नमस्कार है।

इस ग्रन्थ को पढ़ने और सुनने से लोग किस प्रयोजन की प्राप्ति के लिये प्रवृत्त होंगे, इस बात को ग्रन्थकार बताते हैं—

कस्यचिदेव कदाचिद्दयया विषयं सरस्वती विदुषः ।
घटयति कमपि तमन्यो व्रजति जनो येन वैदग्धीम् ॥३॥

सरस्वती कृपा करके ग्रन्थ से प्रतिपादन करने के योग्य कोई वस्तु कवि के मन में कदाचित् कभी ला देती हैं, जिसको प्रतिपादन वह अपने ग्रन्थ में करता है और उसका अध्ययन करके दूसरे लोग उस विषय में पाण्डित्य प्राप्त करते हैं ॥३॥

अब ग्रन्थकार इस ग्रन्थ की रचना में अपने प्रवृत्त होने का कारण बताते हैं—

उद्धृत्योद्धृत्य सारं यमखिलनिगमान्नाट्यवेदं विरिञ्चि-
श्चक्रे यस्य प्रयोगं मुनिरपि भरतस्ताण्डवं नीलकण्ठः ।
शर्वाणी लास्यमस्य प्रतिपदमपरं लक्ष्म कः कर्तुमीष्टे
नाट्यानां किन्तु किञ्चित्प्रगुणरचनया लक्षणं संक्षिपामि ॥४॥

ब्रह्मा ने वेदों से सारभाग को लेकर जिस नाट्यवेद की रचना

को और आचार्य भरत ने सांसारिक वासनाओं से मुक्त मुनि होते हुए भी जिस नाट्यवेद को प्रयोगरूप में प्रस्तुत किया (लाया), जगज्जननी पार्वती ने जिसके लिये लास्य और जगत् पिता भगवान् शंकर ने जिसके लिये ताण्डव प्रदान किया, उस लोकोत्तर नाट्यवेद के अंग-प्रत्यङ्गों के निरूपण में कौन समर्थ हो सकता है ? फिर भी मैं अपनी प्रकृष्ट प्रतिपादन शैली के द्वारा उसके लक्षणों को संक्षेप में प्रस्तुत कर रहा हूँ ॥४॥

यहाँ कोई यह न समझ बैठे कि भरत नाट्य-शास्त्र की ही बातों का इसमें प्रकारान्तर से वर्णन किया गया है अतएव इसमें पुनरुक्ति दोष अवश्य होगा, इस बात का निराकरण ग्रन्थकार इस प्रकार से कर रहे हैं—

व्याकीर्णे मन्दबुद्धीनां जायते मतिविभ्रमः ।
तस्यार्थस्तत्पदैस्तेन संक्षिप्य क्रियतेऽञ्जसा ॥५॥

भरत मुनि द्वारा प्रणीत नाट्य शास्त्र विस्तार के साथ लिखा गया है। उसमें रूपक रचना-सम्बन्धी बातें यत्र-तत्र बिखरी हुई हैं। अतः मन्द बुद्धि वाले लोगों के लिये मतिभ्रम होने की संभावना बनी हुई है। इसलिए साधारण बुद्धि वालों के समझने के लिये उसी नाट्यवेद के शब्द और अर्थों को लेकर संक्षेप में सरल रीति से इस ग्रन्थ की रचना कर रहा हूँ ॥५॥

इस ग्रन्थ का फल दशरूपकों का ज्ञान है, पर दशरूपकों का फल आनन्द देना है इस बात को निम्नलिखित प्रकार से बताया जा रहा है—

आनन्दनिस्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः ।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नमः स्वादुपराङ्मुखाय ॥६॥

जिनमें आनन्द झरता रहता है ऐसे रूपकों का फल मन्द बुद्धि वाले लोग इतिहास-पुराण की तरह त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की प्राप्ति-मात्र बतलाते हैं। ऐसे रसास्वाद से अनभिज्ञ लोगों को नमस्कार है ॥६॥

(ताल और लय के आश्रय करके इसमें अंग विक्षेप (अंग संचालन) होता है। इसमें अभिनय एकदम नहीं रहता है)।

आद्य पदार्थाभिनयो मार्गो देशी तथा परम् ॥ ९ ॥

पदार्थ स्थानीय अभिनय को आश्रय करके होने वाले नृत्य को 'मार्ग' कहते हैं और नृत्त को 'देशी' ॥९॥

मधुरोद्धतभेदेनत द्द्वयं द्विविधं पुन ।

लास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारकम् ॥ १० ॥

ये दोनों ही अर्थात् नृत्य (मार्ग) और नृत्त (देशी) मधुर और उद्धत भेद से दो प्रकार के होते हैं। दोनों में मधुरता से युक्त होने वाली क्रिया को लास्य तथा उद्धतपना से युक्त होने वाली क्रिया को 'ताण्डव' कहते हैं। ये नृत्य और नृत्त नाटक आदि रूपकों के उपकारक होते हैं। रूपकों में नृत्य का उपयोग दूसरे पदार्थों के अभिनय के लिए तथा नृत्त का प्रयोग शोभा बढ़ाने के लिए होता है ॥१०॥

अनुकरण तो प्रत्येक रूपक में होता है पर इनके भीतर कौन-कौन-सी ऐसी सामग्रियाँ हैं जिनके रहने-न-रहने से इनका आपस में एक-दूसरे से भेद होता है इस बात को बतला रहे हैं—

वस्तु नेता रसस्तेषां भेदको वस्तु च द्विधा ।

वस्तु, नेता और रस इन तीनों के भेद से ही रूपक एक-दूसरे से भिन्न हो जाते हैं।

तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासङ्गिकं विदुः ॥ ११ ॥

वस्तु दो प्रकार का होता है—आधिकारिक और प्रासंगिक। प्रधान कथावस्तु को आधिकारिक तथा उसके अङ्गभूत जो कथावस्तु होती है उसे प्रासंगिक कहते हैं ॥११॥

जैसे रामायण में राम-सीता की कथा आधिकारिक तथा और उसकी अंगभूत कथा, जो विभीषण, सुग्रीव आदि की है उसे प्रासंगिक कहते हैं।

आधिकाधिक कथावस्तु

अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः ।
तन्निर्वर्त्यमभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ॥ १२ ॥

फल का स्वामित्व अर्थात् उसकी प्राप्ति की योग्यता अधिकार कहलाता है और उस फल का स्वामी अधिकारी कहलाता है। उस अधिकारी को फल-प्राप्ति-पर्यन्त चलने वाली कथा को आधिकारिक कथावस्तु कहते हैं ॥१२॥

प्रासगिक कथावस्तु

प्रासङ्गिक परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः ।

दूसरे (आधिकारिक कथा के नायक आदि) के प्रयोजन की सिद्धि के उद्देश्य की प्रधानता के रहते हुए जहाँ अपनी भी प्रसगवश स्वार्थसिद्धि हो जाए ऐसी कथा को प्रासगिक कथावस्तु कहते हैं।

सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक् ॥ १३ ॥

प्रासगिक कथा भी पताका और प्रकरी भेद से दो प्रकार की होती है। जो कथा दूर तक चलती रहे ऐसी कथा को पताका कहते हैं।

इसका पताका नामकरण इसलिए किया गया है कि जैसे पताका नायक का असाधारण चिह्न होते हुए उपकारक रहती है, वैसे ही यह भी उसी के समान नायक से सम्बन्धित कथा की उपकारिका होती है। इसका उदाहरण रामायण के भीतर आने वाला सुग्रीव आदि का वृत्तान्त है। और जो प्रासगिक कथा कुछ थोडी ही दूर तक चले उसको प्रकरी कहते हैं जैसे रामायण के भीतर आने वाला श्रवणकुमार का वृत्तान्त ॥१३॥

पताका स्थानक

प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिसूचकम् ।
पताकास्थानकं तुल्यसंविधानविशेषणम् ॥ १४ ॥

जिस कथा का प्रकरण चल रहा हो उसमें आगे आने वाली बात की सूचना जिससे मिलती है उसे पताकास्थानक कहते हैं। यह पताका के समान ही होती है अतः इसे पताका स्थानक कहते हैं। (यह 'तुल्य इतिवृत्त' और 'तुल्य विशेषण'—भेद से दो प्रकार की होती है। अर्थात् समासोक्ति और अन्योक्ति (अप्रस्तुत प्रशंसा) भेद से दो प्रकार की होती है)[1] ॥१४॥

यहाँ रत्नावली नाटिका में अन्योक्ति भेद का उदाहरण दिया जा रहा है—

अस्ताचलगामी सूर्य अपनी प्रेयसी कमलिनी को सम्बोधित कर रहा है—'हे कमलनयने, मैं जा रहा हूँ, क्योंकि यह मेरे जाने का समय है, तुम (आज) मेरे ही द्वारा सुलाई भी जा रही हो और कल (प्रातःकाल) मेरे ही द्वारा उठाई भी जाओगी, अतः शोक मत करो।' इस प्रकार कमलिनी को सान्त्वना देता हुआ सूर्य अस्ताचल में अपनी किरणों को निविष्ट कर रहा है।

समासोक्ति वाले पताका स्थानक का उदाहरण भी उसी नाटिका (रत्नावली) से दिया जा रहा है—

(नायक राजा उदयन और उनकी रानी वासवदत्ता में होड़ लगी

1 तुल्य विशेषण समासोक्ति में ही रहता है, अतः तुल्य विशेषण से समासोक्ति अलंकार समझना चाहिए। अप्रस्तुत प्रशंसा को ही कुछ लोग अन्योक्ति नाम से पुकारते हैं।

ग्रन्थकार के अनुसार पताकास्थानक का पहला उदाहरण अन्योक्ति का और दूसरा समासोक्ति का है। पर अधिकांश लोग दोनों जगह समासोक्ति ही मानते हैं। ग्रन्थकार के पक्ष के समर्थन में यह कहा जाता है कि जिसको प्रकरण का पता नहीं है उसे उदाहृत पद्य में पहले प्रस्तुत सागरिका-पक्ष का ज्ञान होगा, उसके बाद अप्रस्तुत कमलिनी के पक्ष का, अतः प्रस्तुत से अप्रस्तुत का ज्ञान हो जाने पर अप्रस्तुत प्रशंसा (अन्योक्ति) मानने में कोई बाधा नहीं होगी।

है कि कौन अपनी उद्यानलता को पहले पुष्पित कर देता है। सिद्ध की सहायता से राजा की लता पहले फल उठती है। उसी को देखकर राजा कह रहा है। वह ऐसे विशेषणो का व्यवहार कर रहा है जो लता के लिए तो प्रयुक्त होने ही है किसी अन्य प्रेमातुरा नायिका के अर्थ भी देते है। श्लोक का चमत्कार इन विशेषणो के कारण ही है।)

आज इस उद्दामोत्कलिका[(१) लता के पक्ष मे चटखती कलियो वाली, (२) अन्य स्त्री के पक्ष मे अत्यन्त उत्कठायुक्त]विपाण्डुर रुचा [(१) पीली कान्तिवाली, (२)पीली पड गई] प्रारब्ध जृम्भा [(१) विकसित होने वाली, (२)जम्हाई लेती हुई], निरन्तर वेग के कारण अपने-आप को विशाल बनाती हुई [(१) फैलती हुई,(२) दीर्घ नि श्वास के कारण व्याकुल] समदना [(१) मदन नामक वृक्ष के पास वाली, (२) कामातुरा] उद्यानलता को दूसरी स्त्री के समान निहार-निहारकर मैं रानी का मुख क्रोध से अवश्य ही लाल कर दूंगा।

इस प्रकार,

> प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात् त्रेधापि तत्त्रिधा।
> प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम्।
> मिश्रं च संकरात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदत॰ ॥ १५ ॥

वस्तु के आधिकारिक पताका और प्रकरी के तीन भेद होते हैं।

फिर ये तीनों भी प्रख्यात उत्पाद्य और मिश्र इन भेदों के कारण तीन तीन प्रकार के होते हैं—(१) इतिहास आदि मे आने वाली कथावस्तु को प्रख्यात कहते हैं। (२) कवि की प्रतिभा द्वारा निर्मित कथावस्तु को उत्पाद्य कहते हैं॥१५॥ तथा (३) प्रख्यात और उत्पाद्य दोनो के मिश्रण को मिश्र कहते हैं। अर्थात् जिसमे का कुछ अंश इतिहास आदि के द्वारा प्रसिद्धि प्राप्त हो तथा कुछ अश कवि की प्रतिभा से उद्भूत हो उसे मिश्र कहते हैं।

कथावस्तु का फल

कार्यं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च ॥ १६ ॥

धर्म, अर्थ और काम इन तीनों की प्राप्ति कथावस्तु का फल है। इन तीनों में से कहीं तीनों, कहीं दो और कहीं एक ही स्वतन्त्र रूप में फल होते हैं ॥१६॥

इन फलों की प्राप्ति के साधन

स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा ।

बीज—कार्य (मुख्य फल) का साधक हेतु विशेष को बीज कहते हैं। इसका पहले सूक्ष्म कथन होते हुए आगे चलकर अनेक प्रकार का विस्तारयुक्त रूप दिखाई देता है।

इसी प्रकार वेणी संहार नाटक में द्रौपदी के केश-संयमन के लिए भीम के क्रोध से बढ़ा हुआ युधिष्ठिर का उत्साह बीज-रूप में अंकित है। यह महाकार्य और अवान्तर कार्य के भेद से अनेक प्रकार का होता है।

अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम् ॥ १७ ॥

बिन्दु—अवान्तर कथा की समाप्ति के अवसर पर प्रधान कथा के साथ सम्बन्ध-विच्छेद न होने देने वाली वस्तु को 'बिन्दु' कहते हैं ॥१७॥

जल में तैल बिन्दु जिस प्रकार फैल जाता है उसी प्रकार यह भी फैलता है। ऐसा होने के कारण ही इसे बिन्दु कहते हैं। जैसे, 'रत्नावली' नाटिका में कामदेव की पूजा अवान्तर कथा है मूलकथा से उसका विशेष सम्बन्ध नहीं है। इस अवान्तर प्रयोजन रूप कामदेव की पूजा की समाप्ति के अवसर पर कथार्थ के विच्छेद की स्थिति आ जाती है पर वहाँ दूसरे कार्य का कारण बन जाने से ऐसा नहीं हो पाता—"महाराज उदयन चन्द्रमा के समान शोभित हो रहे हैं।" यह सुनकर सागरिका कह उठती है कि "क्या ये वे ही महाराज उदयन हैं जिनके लिए पिताजी ने मुझे भेजा था?" इत्यादि और इस प्रकार इस अवान्तर प्रसंग का मूल-कथा से सम्बन्ध जुड़ जाता है।

ऊपर बीज, बिन्दु आदि अर्थप्रकृतियों को बिना क्रम के प्रसंगानुसार कह आए हैं। अब उन्हें सजाकर क्रम की ध्यान में रखकर बताते हैं—

बीजबिन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणाः ।

फल की इच्छा रखने वाले व्यक्ति द्वारा जो कार्य प्रारम्भ किया गया रहता है उसकी पांच अवस्थाएं होती हैं—१ प्रारम्भ, २ यत्न, ३. प्राप्त्याशा, ४. नियताप्ति और ५ फलागम ॥१६॥

औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे ।

प्रारम्भ—प्रचुर फल की प्राप्ति के लिए उत्पन्न उत्सुकता को प्रारम्भ कहते हैं।

अर्थात् 'इस कार्य को मैं कर रहा हूं' इस प्रकार के अध्यवसाय को 'आरम्भ' कहते हैं। जैसे 'रत्नावली' के प्रथम अंक में यौगन्धरायण कहता है कि स्वामी की वृद्धि के लिए जो कार्य मैंने प्रारम्भ किया और भाग्य ने भी जिसने सहारा दिया इत्यादि। यहाँ से वत्सराज उदयन के कार्य का आरम्भ यौगन्धरायण के मुख से दिखाया गया है क्योंकि उदयन 'सचिवायत्त-सिद्धि' राजा है अर्थात् ऐसा राजा है जिसकी सिद्धि सचिव के भरोसे होती है।

प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वित. ॥ २० ॥

प्रयत्न—उस अप्राप्त फल की शीघ्र प्राप्ति के लिए उपाय आदि रूप चेष्टा-विशेष के करने को प्रयत्न कहते हैं ॥२०॥

जैसे 'रत्नावली' में आलेख (चित्राङ्कन) आदि द्वारा वत्सराज उदयन से मिलन के उपाय का वर्णन।[1]

सागरिका मन-ही-मन सोचती है—"तो फिर महाराज के दर्शन प्राप्त करने के लिए अब कोई उपाय नहीं दीख पड़ता। अत जैसे-तैसे उनके चित्र को आंककर ही अपनी मनोकामना पूर्ण करूँ।' इस प्रकार से 'रत्नावली' में प्रयत्न दिखाया गया है।

उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसंभवः ।

प्राप्त्याशा—फल की प्राप्ति में ऐसे व्यापार का होना, जिसमें विघ्न

---

१ सागरिका (रत्नावली) महाराज उदयन से चित्रांकन द्वारा जैसे-तैसे मिलने के लिए जो कार्य करती है वह प्रयत्न के भीतर आता है।

पडने की सम्भावना से फल की प्राप्ति अनिश्चित रहती है, प्राप्त्याशा कहलाता है।

इसमे कार्यसिद्धि के लक्षण दीख पडते हैं। पर उसमे विघ्न की आशका से फल की प्राप्ति मे अनिश्चितता आ जाती है। जैसे, 'रत्नावली' के तृतीय अक मे सागरिका का वेष-परिवर्तन कर उदयन के पास अभिसरण करने मे कार्यसिद्धि का लक्षण दिखाई देता है पर कही महारानी वासवदत्ता देख न ले इस प्रकार विघ्न की आशका बनी रहती है। इसी प्रसग मे विदूषक कहता है—"इस प्रकार के कार्य करते समय, कही अकाल मे उठे हुए मेघ के समान वासवदत्ता न आ पहुँचे, अन्यथा सारा कार्य ही चौपट हो जाएगा।" इस प्रकार यहाँ महाराज से समागम की प्राप्ति अनिश्चित-सी है।

अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता ॥ २१ ॥

नियताप्ति—विघ्नो के अभाव मे सफलता के निश्चित हो जाने की अवस्था को नियताप्ति कहते हैं ॥२१॥

जैसे, रत्नावली नाटिका मे—"विदूषक—'सागरिका का जीवित रहना बडा ही कठिन है।' यहाँ से आरम्भ कर फिर कौनसा उपाय सोच रहे हो ?' इसको सुनकर वत्सराज विदूषक से कहते हैं—"मित्र, देवी वासवदत्ता को प्रसन्न करने के अलावा और कोई भी उपाय नही सूझ रहा है।" इस प्रकार से देवी द्वारा जो विघ्न की आशका थी वह उन्हीं को प्रसन्न करने के निश्चय मे सागरिका-रूप फल की प्राप्ति एक तरह से निश्चित-सी हो गई।

समग्रफलसंपत्तिः फलयोगो यथोदितः ।

फलागम—कार्य मे सफलता के साथ साथ अन्य समस्त वाछित फलों की प्राप्ति को फलागम कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली' नाटिका मे उदयन को रत्नावली की प्राप्ति के साथ-साथ चक्रवर्तित्व की प्राप्ति भी हो जाती है।

अर्थप्रकृतय पञ्च पञ्चावस्थासमन्विता ॥ २२ ॥

यथासख्येन जायन्ते मुखाद्या पञ्च सधयः ।

सन्धि—(ऊपर कहे हुए) पांच अर्थप्रकृतियों और कार्य की पाँचों अवस्थाओं के क्रमश एक-दूसरे से मिलने से पाँच सन्धियों की उत्पत्ति होती है ॥२२॥

अन्तरैकार्यसम्बन्धः सधिरेकान्वये सति ॥ २३ ॥

सन्धि का सामान्य लक्षण—एक प्रयोजन से अन्वित कथा का दूसरे एक प्रयोजन से सम्बन्धित हो जाने को सन्धि कहते हैं ॥२३॥

निम्नलिखित पाँच सन्धियाँ हैं—

मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसहृतिः ।

मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससंभवा ॥ २४ ॥

अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भसमन्वयात् ।

१. मुख सन्धि, २. प्रतिमुख सन्धि, ३ गर्भसन्धि, ४. अवमर्श सन्धि और ५. उपसहृति या उपसहार सन्धि ।

अब इनका क्रमश लक्षण दिया जाता है ।

मुख सन्धि

यह सन्धि बीज नामक अर्थप्रकृति और आरम्भ नामक अवस्था के सयोग से पैदा होती है । इसमें आरम्भ नामक अवस्था के योग से अनेक प्रकार के प्रयोजन और रसों को प्रकट करने वाले बीज (अर्थप्रकृति) की उत्पत्ति होती है । इसके १२ अग होते हैं ।

मुखसन्धि मे अनेक प्रकार के प्रयोजन और रसो को प्रकट करने वाले बीज की उत्पत्ति होती है । यहाँ पर 'अनेक प्रकार के प्रयोजन' यह रस का विशेषण है । यदि इसे विशेषण न मानें तो फिर हास्य रस म जहाँ त्रिवर्ग म से किसी प्रयोजन की प्राप्ति नहीं होती, मुखसन्धि का होना असम्भव हो जाएगा । रस के विशेषण रूप म 'अनेक प्रकार के प्रयोजन'

तन्निष्पत्तिः परिन्यासो

३. परिन्यास—बीज की निष्पत्ति अर्थात् उसका निश्चित रूप में प्रकट होना परिन्यास कहलाता है।

जैसे, वहीं रत्नावली नाटिका में—'प्रारम्भेऽस्मिन्' आदि श्लोक से।

गुणाख्यानाद् विलोभनम् ॥ २७ ॥

४ विलोभन—गुण कथन को विलोभन कहते हैं।

जैसे, रत्नावली नाटिका में वैतालिका के द्वारा चन्द्रसदृश वत्सराज के गुणवर्णन में सागरिका के समागम का कारण अनुराग-रूप बीज की अनुकूलता का वर्णन। यथा—

'सूर्य अपनी समस्त किरणों के साथ अस्ताचलगामी हो गए। नेत्र-धारियों को आनन्द प्रदान करने वाले महाराज उदयन चन्द्रमा के समान उदित हो रहे हैं। इस सन्ध्याकाल में सभामण्डप में आसीन नृपगण कमलों की द्युति को हरण करने वाले उनके चरणसेवन के लिए उन्मुख बने हुए हैं।'

और जैसे, वेणीसंहार का यह श्लोक—'भीमसेन (प्रसन्न होकर) द्रौपदी से कहते हैं कि, देवि, यह क्या ? "मन्थन दण्ड (मंदराचल) से प्रक्षिप्त समुद्र-जल में पूर्ण, कन्दरा-सहित मंदराचल की तरह गम्भीर घोषकारी, कोणाघात होने पर प्रलयकाल में गरजते हुए मेघों की घटाओं के परस्पर टकरा जाने से भीषण शब्दकारी, प्रलय-रात्रि के अग्रदूत के समान, कौरवों के अधिपति (दुर्योधन) के नाशमूलक उत्पात में उत्थित झंझावात की भांति तथा हम लोगों के सिंहनाद के सदृश उस नगाड़े को जिसने ताडित किया है।" यहाँ से प्रारम्भ करके यथा दुन्दुभि — यह जो दुन्दुभि बार-बार बज रही है।' यहाँ तक का अंश द्रौपदी के लुभाने के प्रयत्न के कारण विलोभन है ॥ २७ ॥

संप्रधारणमर्थानां युक्तिः

युक्ति—प्रयोजन के सम्यक् निर्णय को युक्ति कहते हैं।

इसको गाना से हास्यरस म भी मुखसन्धि का योध नही हो पाता है।

इस सन्धि के बीज और आरम्भ के योग से निम्नलिखित १२ अंग होते हैं।

> उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम् ॥ २५ ॥
> युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना ।
> उद्भेदभेदकरणान्यन्वर्थान्यथ लक्षणम् ॥ २६ ॥

१ उपक्षेप, २ परिकर, ३ परिन्यास, ४ विलोभन, ५. युक्ति, ६. प्राप्ति, ७ समाधान, ८. विधान, ९ परिभावन, १० उद्भेद, ११ भेद, और १२ करण ॥ २५-२६ ॥

इन सबका लक्षण आसानी से समझ मे आ जाए एतदर्थ इन्हें उदाहरण के साथ दिया जा रहा है—

बीजन्यास उपक्षेपः

१. उपक्षेप—बीज के न्यास (रखना) को उपक्षेप कहते हैं।

जैसे, नेपथ्य मे यौगन्धरायण का यह कथन "द्वीपादन्यस्मादपि—अन्य द्वीपो से दिशाओ की ओर छोर से (पृ० ८७ दे०) आदि। इस श्लोक से यौगन्धरायण द्वारा वत्सराज का रत्नावली की प्राप्ति के लिए अनुकूल दैव और अपने व्यापार का कथन बीजरूप मे रखा गया है।

तद्बाहुल्यं परिक्रिया ।

२. परिकर—बीज की वृद्धि को परिकर कहते हैं।

जैसे, 'द्वीपादन्यस्मादपि' इसके आगे यौगन्धरायण का यह कथन—'यदि ऐसी बात न होती तो फिर भला सिद्धो के वचन पर विश्वास करके उदयन के लिए मांगी गई सिंहलेश्वर की कन्या का समुद्र मे नौका के भग्न हो जाने पर डूबते समय बहता हुआ काठ का टुकड़ा आत्मरक्षा के लिए कैसे प्राप्त हो जाता ?" यहाँ से आरम्भ करके 'स्वामी की उन्नति प्रयत्नसाध्य है।' यहाँ तक बीज की उत्पत्ति अनेक प्रकार से की गई है, अत यह परिकर का उदाहरण है।

तन्निष्पत्तिः परिन्यासो

३. परिन्यास—बीज की निष्पत्ति अर्थात् उसका निश्चित रूप में प्रकट होना परिन्यास कहलाता है।

जैसे, वही रत्नावली नाटिका में—'प्रारम्भेऽस्मिन्' आदि श्लोक से।

गुणाख्यानाद् विलोभनम् ॥ २७ ॥

४ विलोभन—गुण कथन को विलोभन कहते हैं।

जैसे, रत्नावली नाटिका में वैतालिका के द्वारा चन्द्रसदृश वत्सराज के गुणवर्णन में सागरिका के समागम का कारण अनुराग-रूप बीज की अनुकूलता का वर्णन। यथा—

'सूर्य अपनी समस्त किरणों के साथ अस्ताचलगामी हो गए। नेत्र-धारियों को आनन्द प्रदान करने वाले महाराज उदयन चन्द्रमा के समान उदित हो रहे हैं। इस सन्ध्याकाल में सभामण्डप में आसीन नृपगण कमलों की द्युति को हरण करने वाले उनके चरणसेवन के लिए उत्सुक बने हुए हैं।'

और जैसे, वेणीसंहार का यह श्लोक—'भीमसेन (प्रसन्न होकर) द्रौपदी से कहते हैं कि, देवि, यह क्या ? "मन्थन दण्ड (मंदराचल) से प्रक्षिप्त समुद्र-जल से पूर्ण, कन्दरा-सहित मंदराचल की तरह गम्भीर घोषकारी, कोणाघात होने पर प्रलयकाल में गरजते हुए मेघों की घटाओं के परस्पर टक्कर खाने से भीषण शब्दकारी, प्रलय-रात्रि के अग्रदूत के समान, कौरवों के अधिपति (दुर्योधन) के नाशसूचक उत्पात में उत्थित झंझावात की भाँति तथा हम लोगों के सिंहनाद के सदृश इस नगाड़े को किसने ताडित किया है!" यहाँ से आरम्भ करके 'यशो दुन्दुभि — यश की दुन्दुभि बार-बार बज रही है।' यहाँ तक का अंश द्रौपदी के लुभाने के प्रयत्न के कारण विलोभन है ॥ २७ ॥

संप्रधारणमर्थाना युक्तिः

युक्ति—प्रयोजन के सम्यक् निर्णय को युक्ति कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली' में यौगन्धरायण का यह कथन—"मैंने भी उस कन्या को बड़े आदर के साथ रानी को सौंपा है। यह बात अच्छी ही हुई। अब सुनने मे आया है कि हमारे स्वामी का कंचुकी बाभ्रव्य और सिंहलेश्वर का मन्त्री वसुभूति भी, जो राजकन्या के साथ चले थे, किसी प्रकार डूबते-उतराते किनारे लगे हैं। अब वे सेनापति रुमण्वान् से, जो कोशलपुर को जीतने गया था, मिलकर यहाँ पहुँचे हैं।"

इसके द्वारा अन्तःपुर में निवास करने वाली सागरिका से वत्सराज का सुखपूर्वक दर्शन आदि कार्य हो सकेगा तथा बाभ्रव्य और सिंहलेश्वर के अमात्य का अपने नायक के साथ मिलन हो सकेगा, इस बात के निश्चय हो जाने से यहाँ 'युक्ति' है।

प्राप्तिः सुखागमः।

प्राप्ति—सुख के प्राप्त होने को प्राप्ति कहते हैं।

जैसे 'वेणी संहार' में—चेटी कह रही है कि 'महारानी, युवराज क्रुद्ध-से प्रतीत हो रहे हैं।' इसके बाद भीम का इस कथन से प्रारम्भ कर—"क्या मैं संग्राम में क्रोध से सौ कौरवों का मर्दन नहीं कर डालूँगा? क्या दुःशासन के हृदय-प्रदेश का रक्तपान नहीं करूँगा? क्या मैं गदा से दुर्योधन के जाँघ को चूर्ण न बना डालूँगा? तुम लोगों के राजा (युधिष्ठिर) इस विनिमय पर सन्धि करें।" यह सुनकर द्रौपदी कहती हैं—(प्रसन्नता के साथ) "स्वामिन् आपके ये वचन अपूर्व हैं ऐसा कभी भी श्रुतिगोचर नहीं हुआ था। अच्छा, एक बार इसे फिर से कहने की कृपा करें।" यहाँ तक भीम का क्रोध-रूप जो बीज है उससे द्रौपदी को सुख प्राप्त होना 'प्राप्ति' है।

इसी प्रकार रत्नावली नाटिका में—सागरिका उदयन का नाम सुनकर हर्षपूर्वक घूमकर स्पृहा के साथ देखती हुई कहती है—"क्या ये ही महाराज उदयन हैं, जिनको पिताजी ने मुझे समर्पित किया था? तो फिर दूसरे के पोषण से दूषित हुआ मेरा शरीर इनके दर्शन से पवित्र हो गया।" इस प्रकार सागरिका (रत्नावली) में सुख प्राप्त हो जाने से यहाँ 'प्राप्ति' है।

बीजागमः समाधानं

समाधान—बीज के आगम को समाधान कहते हैं। समाधान का अर्थ है युक्ति के साथ बीज को रखना।

जैसे, 'रत्नावली' नाटिका में "वासवदत्ता—यही तो वह स्थान प्रयोग है तो फिर मेरी पूजा की सामग्री को लाओ।

सागरिका—लीजिए, महारानी, ये सारी वस्तुएँ सुसज्जित हैं।

वासवदत्ता—(अपने-आप सोचती है) देखो न, नौकर-चाकरों की असावधानता, जिसकी आँखों से बचाए रखने का मैंने सदा सावधानीपूर्वक यत्न किया है, आज उसीकी दृष्टि में यह (सागरिका) पड़ना चाहती है। खैर, तो फिर ऐसा करूँ, (कहती है)—"अरी सागरिका, आज घर के सब लोग जब मदन महोत्सव में व्यस्त हैं तो फिर तू सारिका को छोड़कर यहाँ क्यों आ गई? तू जल्दी वहाँ जा, और पूजा की सामग्री काचनमाला को दे दे।" यहाँ से लेकर "सागरिका (आपने-आप कुछ चलकर)—सारिका को तो मैंने सुसंगता को सौंप ही दिया है, मेरे मन में मदन-महोत्सव देखने की लालसा है सो, मैं यहीं से छिपकर देखती हूँ।" यहाँ पर वासवदत्ता यह चाहती है कि महाराज और सागरिका का परस्पर अवलोकन-रूपी कार्य न हो, इसीलिए वह सारिका की देख-भाल के बहाने सागरिका को लौटा देती है पर सुसंगता के हाथ सारिका को पहले ही समर्पित कर चुकने के कारण वह महाराज को छिपकर देखती है। इस प्रकार महाराज उदयन और सागरिका के समागम-रूप बीज को युक्ति के साथ रखने से यह समाधान का उदाहरण हो जाता है। अथवा जैसे, वेणीसंहार में—"भीम (व्याकुलता के साथ उठते हुए) कहता है—'पाञ्चालराजपुत्रि, अधिक मैं क्या कहूँ जो मैं बहुत शीघ्र करने जा रहा हूँ उसे सुनो—

भीम अपने चपल भुजदण्डों से घुमाए हुए भीषण गदा के प्रहार से दुर्योधन के जाँघों को रौंदकर निकले गए खूब गाढ़े रक्त से अपने हाथों में पोतकर तुम्हारे केशकलाप को सँवारेगा।" इस प्रकार से

यहा पर वेणी के सहार (सँवारना) का कारण जो क्रोध-रूपी बीज है उसका फिर से रखना समाधान है।

विधानं सुखदुःखकृत् ॥ २८ ॥

विधान—सुख दुख के कारण को विधान कहते हैं ॥२८॥

जैसे, 'मालती माधव' के प्रथम अंक मे माधव का यह कथन—

(१) "निज आत सभै वह फेरि कछू मुठि
ग्रीव को ज्योंही लखी भय मोर।
मुख सूर्यमुखी के समान लस्यो
विलस्यो छवि धारत मजु अथोर॥
जुग नैन गडाई सनेह सनै
जिन चार घने वरुनीन के छोर।
बस मानो बुझाई सुधा विष मे हिय
घायल कीन्हो कटाच्छ की कोर॥
[१-३२]

(२) "फँस्यो मन जाइ प्रेम के फद,
तब तो निह छबि लखि रुचिर भूल्यो सबको ध्यान।
विस्मय मोहित मुदित मनु करत अमिय-स्नान॥
अहा कैसो आयो आनन्द,
फँस्यो मन जाइ प्रेम के फद॥
अब वाय देखे विना काहू विधि कल नाहिं।
लौटे बारहिंबार यह मनो अगारनु माहिं॥
कष्ट काहू विधि सो नहिं मद।
फँस्यो मन जाइ प्रेम के फद॥
मालती माधव (१-२२)

अनुरागवश मालती को देखने से माधव सुख-दुःख का भाजन बन जाता है। मालती और माधव के समागम-रूप जो बीज है उसके अनु-रूप माधव का सुख-दुःख भागी होना 'विधान' है। अथवा 'वेणी सहार'

में भी—द्रौपदी कहती है कि "नाथ, आप रणभूमि से आकर फिर मुझे आश्वासित करें।"

इस पर भीम उत्तर देता है—

"पाञ्चालि, आज इस बनावटी आश्वासन से क्या ? निरन्तर अपमान और उससे उत्पन्न दुःख और लज्जा से म्लान मुख वाले भीम को तब तक नहीं देखोगी जब तक वह कौरवों को नष्ट न कर दे। इस प्रकार संग्राम के सुख-दुःख के कारण होने के कारण 'विधान' है।

परिभावोऽद्भुतावेशः

परिभावना—आश्चर्यजनक बात को देखकर कुतूहलयुक्त बातों के कथन को परिभावना या परिभव कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली नाटिका' में "सागरिका (आश्चर्य के साथ मदन-पूजा में उदयन को देख)—क्या प्रत्यक्ष ही कामदेव पूजा ग्रहण कर रहे हैं ?" यहाँ पर वत्सराज उदयन को कामदेव समझकर प्रत्यक्ष कामदेव का पूजा ग्रहण करना जो लोकोत्तर कार्य है उससे उत्पन्न अद्भुत आनन्द के आवेशवश जो कथन है वह परिभावना है। अथवा जैसे 'वेणीसंहार' में, "द्रौपदी—नाथ, इस समय भीषण निर्घोष के कारण असह्य, प्रलयकालिक मेघ की गड़गड़ाहट के समान आवाज करने वाली यह रणभेरी (नगाड़ा) प्रतिक्षण क्यों बजाई जा रही है ?" यहाँ पर लोकोत्तर समर-दुन्दुभि की ध्वनि से द्रौपदी का विस्मययुक्त रस का आवेश होने के कारण परिभावना है।

उद्भेदो गूढभेदनम्।

उद्भेद—छिपी हुई बात को खोल देने को उद्भेद कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में कामदेव के रूप में समझे गए वत्सराज का "अस्तापास्त इत्यादि से आरम्भ कर इसी में उदयनस्य इसके द्वारा बीज के अनुरूप उसे (वत्सराज को) प्रकट कर देने से उद्भेद है। इसी प्रकार 'वेणीसंहार' में भी भीम कहता है, 'आर्य, अब महाराज

क्या करना चाहते हैं ?" इसी समय नेपथ्य से आवाज आती है कि 'जिस क्रोध की ज्वाला को सत्यव्रतपरायण ने अपने व्रत-भंग की आशंका से बड़े परिश्रम के साथ मन्द कर रखा था, जिसको शान्ति के पुजारी ने कुल के कल्याण की कामना से भूल जाने का निश्चय कर लिया था, वह द्यूतरूपी अरणी में अन्तर्हित युधिष्ठिर की क्रोध की ज्योति द्रौपदी के केश और वस्त्रों के खींचे जाने से कौरववन में अँगड़ाई ले रही है।" इस पर भीम उल्लासपूर्वक कहता है, "भड़क उठे, भड़क उठे, महाराज के क्रोध की ज्वाला। बिना किसी अवरोध के भली भाँति बढ़े।"

करणं प्रकृतारम्भो

करण—प्रस्तुत कार्य के प्रारम्भ कर देने को करण कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में सागरिका—"भगवान् कामदेव, तुम्हें प्रणाम है। तुम्हारा दर्शन कल्याणप्रद हो। जो देखने योग्य था उसे मैंने देख लिया। अब मेरा मनोरथ सफल हो गया। अतएव जब तक और कोई मुझे इस रूप में न देख ले उसके पहले ही यहाँ से चली जाऊँ।" इस प्रकार पहले से निर्विघ्न दर्शन की जो योजना थी उसका आरम्भ यहाँ से होता है, अतः यह 'करण' है। इसी प्रकार 'वेणीसंहार' में भी भीम कहते हैं, "पान्चालि, हम लोग कौरवों को नष्ट करने जा रहे हैं। सहदेव—हम लोग गुरुजनों की आज्ञा से अपना पुरुषार्थ दिखाने जा रहे हैं।"

इस प्रकार से यहाँ पहले अंक के भीतर आये हुए संग्राम-प्रयाण की तैयारी का आरम्भ हो जाने से 'करण' है।

भेदः प्रोत्साहना मता ॥ २६ ॥

भेद—उत्साहयुक्त वचनों के कथन को भेद कहते हैं ॥२६॥

जैसे 'वेणीसंहार' में, "नाथ, मेरे अपमान से प्रतिक्रुद्ध होकर बिना अपने शरीर का ध्यान रखे पराक्रम न प्रदर्शित कीजिएगा, क्योंकि ऐसा

सुना जाता है कि शत्रुओं की सेना में बड़ी सावधानी के साथ जाना चाहिए।

भीम—ऐ वीरो, जिस समरागण-रूपी समुद्र के गम्भीर जल में, परस्पर अभिहत हाथियों के फूटे हुए मस्तक से निकलते हुए रक्त, मांस, चर्बी तथा मस्तिष्क के कीचड़ बीच धँसे हुए रथों पर पैर रखकर पैदल योद्धा आक्रमण कर रहे हों और विशुद्ध रक्त के प्रीति-सहभोज में आस्वादन करके अमगल शब्द करती हुई शृगालियों के शब्द को तुरही मान कबन्ध नृत्य कर रहे हों, ऐसे रणस्थल में विचार न करने में पाण्डव दक्ष हैं।"

इस वाक्य से विपन्न द्रौपदी का उत्साह बढ़ता है, अतएव यहाँ भेद है।

मुख-सन्धि के ये बारह अंग हैं। ये बीज और आरम्भ के मेल से उत्पन्न होते हैं। ये आपस में कहीं साक्षात् सम्बन्ध से, और कहीं उनके अभाव में परम्परा-सम्बन्ध से योजित होते हैं।

इनमें से उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, युक्ति, उद्भेद और समाधान इन छहों का तो हरेक रूपकों में रहना आवश्यक है, पर शेष नाट्य-प्रणेता की इच्छा पर आधारित हैं, अर्थात् वे चाहें तो शेष को भी अपने रूपक में स्थान दे सकते हैं और यदि न चाहें तो कोई आपत्ति नहीं।

प्रतिमुख सन्धि

अब अगों के साथ प्रतिमुख सन्धि का निरूपण किया जा रहा है—

प्रतिमुख सन्धि—इसमें मुख सन्धि में दिखाये गए बीज का किंचित् लक्ष्य और किंचित् अलक्ष्य रूप में उद्भेद होता है। यह बिन्दु नामक अर्थप्रकृति और यत्न नामक अवस्था के योग से पैदा होती है। इसके तेरह अंग होते हैं। जैसे, 'रत्नावली नाटिका' के द्वितीय अंक में वत्सराज और सागरिका के समागम के हेतु इनके पारस्परिक अनुराग को, जो प्रथम अंक में बताया जा चुका था, सुसंगता और विदूषक द्वारा

विदित हो जाने से किंचित् लक्ष्य होता हुआ फिर वासवदत्ता द्वारा चित्र को देख इस रहस्य को जान लेने से और उसके द्वारा प्रेम-व्यापार में बाधा पहुँचने की सम्भावना के होने से अलक्ष्य अवस्था को प्राप्त होता हुआ प्रतिमुख सन्धि का उदाहरण बन जाता है।

'वेणीसंहार' के द्वितीय अंक में भी भीष्मादि के वध से विजय प्राप्ति के लिए क्रोध-रूप जो बीज है उसका किंचित् लक्ष्य होना और कर्ण आदि शूरवीरों के वध न होने से उसकी किंचित् अलक्ष्यता प्रकट होती है। "पाण्डुपुत्र अपने पराक्रम से भाई, बन्धु पुत्र, मित्र तथा नौकर-चाकरों समेत दुर्योधन का वध करेंगे।" इत्यादि से लेकर दुर्योधन की अपनी पत्नी के साथ किये गए वार्तालाप-पर्यन्त—दुर्योधन भानुमति से कहता है—युद्ध में दुःशासन का हृदय विदीर्ण करके रुधिरपान करने के विषय में, और मुझ दुर्योधन के जंघों को गदा से तोड देने के विषय में की गई परम प्रतापशाली पाण्डवों की प्रतिज्ञा जैसी थी वैसी ही जयद्रथ के विषय में पाण्डवों द्वारा की गई प्रतिज्ञा को भी समझना चाहिए। अर्थात् जैसे पाण्डवों द्वारा की गई पहले की प्रतिज्ञा पूरी न हो सकी, वैसे ही उनकी जयद्रथ-वध की भी प्रतिज्ञा पूरी नहीं हो पाएगी।

लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत्।
बिन्दुप्रयत्नानुगमादङ्गान्यस्य त्रयोदश ॥ ३० ॥

यह सन्धि बिन्दु नामक अर्थप्रकृति और प्रयत्न नामक अवस्था के मिलन से पैदा होती है। इसके १३ अंग होते हैं ॥३०॥

विलासः परिसर्पश्च विधूतं शमनर्मणी।
नर्मद्युतिः प्रगमनं निरोधः पर्युपासनम् ॥ ३१ ॥
वज्रं पुष्पमुपन्यासो वर्णसंहार इत्यपि।

१. विलास, २ परिसर्प, ३ विधूत, ४ शम, ५ नर्म, ६ नर्मद्युति, ७. प्रगमन, ८ निरोध, ९ पर्युपासन, १० वज्र, ११ पुष्प, १२ उपन्यास और १३ वर्णसंहार ॥३१॥

BIHAR (3) LIBRARY 43373
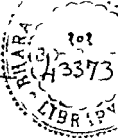
नीचे उदाहरण के साथ इनके लक्षण दिए जाते हैं—

रत्यर्थेहा विलासः स्याद्

विलास—सुरत की कामना को विलास कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली नाटिका' में, "सागरिका—हृदय प्रसन्न होओ, प्रसन्न होओ, जिसका पाना सहज नहीं है उसको प्राप्त करने के लिए इतना आग्रह क्यों करता है ?" यहाँ से आरम्भ कर...."यद्यपि भय से मेरा हाथ कांपता है तो भी उनका जैसे-तैसे चित्रांकन कर मनोवाञ्छा पूरी नहीं करूँ, इसके अलावा उनके दर्शन के लिए अन्य कोई रास्ता नहीं है।" यहाँ पर वत्सराज के समागम के लिए चित्राङ्कन में जो सागरिका द्वारा चेष्टा आदि प्रयत्न होते हैं वे अनुराग-रूपी बीज के अनुकूल होने के कारण विलास के उदाहरण हैं।

दृष्टनष्टानुसर्पणम् ॥ ३२ ॥

परिसर्प—पहले विद्यमान पश्चात् नष्ट हुई या दृष्ट नष्ट वस्तु की खोज करने को परिसर्प कहते हैं ॥३२॥

परिसर्पो

जैसे, 'वेणीसंहार' में—"कञ्चुकी धन्य पतिव्रतपरायणे धन्य, आप स्त्री होकर भी धन्य हैं पर महाराज नहीं, क्योंकि इनके शत्रु पाण्डव सिर पर खड़े हैं, चाहे वे प्रबल हों या निर्बल, पर हैं तो वे शत्रु ही; देव पर भी उनकी सहायता वासुदेव कर रहे हैं। ऐसी हालत में भी महाराज रनिवास के सुख को ही भोग रहे हैं। (सोचकर) और भी एक अनुचित कार्य है जिसे महाराज कर रहे हैं, क्योंकि परशुराम जैसा तपस्वी ऋषि, जिनका कुठार कभी कुण्ठित नहीं हो पाया था, उन पर विजय प्राप्त करने वाले भीष्मपितामह को पाण्डवों ने बाणवर्षा कर धराशायी बना दिया। इतना होते हुए भी महाराज के मन में तनिक भी क्षोभ पैदा नहीं हो रहा है। साथ ही असहाय बालक अभिमन्यु, जिसके धनुष को शत्रुओं ने काट डाला था और अनेक योद्धाओं पर

विजय प्राप्त करते-करते श्रांत हो गया था, उस बालक अभिमन्यु के वध से महाराज प्रसन्न है।"

इत्यादि के द्वारा भीष्म के वध मे दृष्ट (देखा गया) किन्तु अभिमन्यु के वध से नष्ट, बलशाली पाण्डवो के, जिनके सहायक स्वय भगवान् कृष्ण हैं, सग्राम लक्षण बिन्दु का बीज के प्रयत्न के अनुगत होने से कञ्चुकी के मुख से बीज का जो अनुसरण किया जाता है, परिसर्प का उदाहरण है। 'रत्नावली नाटिका' मे भी—सागरिका के वचन के सुनने और चित्र-दर्शन से सागरिका के अनुराग बीज के दृष्ट नष्ट होने पर महाराज उदयन के द्वारा—"कहाँ है वह ? कहाँ है वह ?" इत्यादि के कथन से वत्सराज के द्वारा अनुसर्पण किए जाने से परिसर्प यहाँ होता है।

विधूतं स्यादरतिस्

विधूत—सुखप्रद वस्तुओ मे अरति अर्थात् तिरस्कार की भावना उत्पन्न होने को कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली' मे सागरिका के ये वचन—"सखि और मेरा सताप बढता ही जाता है।"

(सुसगता तालाब से कमल के पत्ते और मृणालो को लाकर सागरिका के अगो को ढक देती है) सागरिका—(उनको फेंकती हुई) "सखि, हटाओ इन पद्मपत्रो और मृणालो को। इनसे क्या होगा ? व्यर्थ क्यो कष्ट उठाती हो ? मैं तुझे बताती हूँ, सुनो—

मेरा मन दुर्लभ जन मे आसक्त हो गया है पर शरीर मे अपार लज्जा ने घर कर लिया है, अत मेरी दृष्टि मे तो ऐसे विषम प्रेम को निबाहने के लिए मरण ही एकमात्र सहारा है।"

यहाँ पर सागरिका के प्रेमरूपी बीज से अन्वित होने से शीतोपचार के लिए रखी गई सामग्रियो के विधून करने से विधूनन या विधूत है।

तच्छमः शमः।

शम—अरति के दूर हो जाने को शम कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली नाटिका' में राजा—'हे मित्र, इस रमणी ने (अपने हाथों) मेरा चित्र आंका है इससे मेरे मन में अपने स्वरूप के प्रति अधिक आदर हुआ है। अब भला अपने को क्यों नहीं देखूंगा ?" यहां से आरम्भ करके, "सागरिका—(अपने-आप) मन धीरज धर, चचल मत हो, तेरा तो मनोरथ भी यहां तक नहीं पहुँच पाया था।" इस प्रकार यहाँ अरति के शान्त हो जाने से शम है।

परिहासवचो नर्म

नर्म—परिहासयुक्त वचन को नर्म कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली नाटिका' में सुसगता—"सखि, जिसके लिए आई हो वह सामने खड़ा है।"

सागरिका (कुछ क्रोध के साथ)—मैं किसके लिए आई हूँ ?

सुसगता (हँसकर)—"अरी, अपने पर भी शका करने वाली, चित्र-फलक के लिए ही तो आई हो, सो उसे ले लो।"

यहाँ पर सुसंगता महाराज को लक्ष्य कर सारी बातें परिहास के रूप में सागरिका से कह रही है। चित्रफलक के ग्रहण का तात्पर्य भी महाराज से ही है। इस प्रकार बीज से युक्त यह परिहास-वचन नर्म का उदाहरण है। जैसे 'वेणीसंहार' में भी— "(दुर्योधन चेटी के हाथ से अर्घपात्र आदि लेकर रानी भानुमती को देता है, इसके बाद) भानुमती—(अर्घ्य देकर) सखि पुष्पों को दो ताकि और भी देवों का पूजन सम्पन्न कर दूं।" इसके बाद भानुमती हाथ फैलाती है, दुर्योधन उसके हाथों में पुष्पों को देता है। दुर्योधन के हाथों के स्पर्श से भानुमति के हाथों में कंपकंपी आ जाती है, जिससे हाथ से पुष्प गिर पड़ते हैं।

भानुमती विघ्न की शान्ति के लिए पूजन कर रही थी, पर दुर्योधन द्वारा उसमें विघ्न डाल देने से पूजन सम्यक्तया सम्पन्न न हो सका। इस प्रकार की बाधा का होना भीम आदि पाण्डवों के लिए अच्छा ही हुआ। इसके द्वारा पाण्डव पक्ष की विजय की सभावना का होना परिहास के साथ ही हुआ। अत इसे (परिहास को) प्रतिमुख सन्धि का

भेद मानना युक्तिसगत ही है।

धृतिस्तज्जा द्युतिर्मता ॥ ३३ ॥

नर्मद्युति—परिहास से उत्पन्न आनन्द अथवा विकार के छिपाने को नर्मद्युति कहते हैं ॥३३॥

जैसे, 'रत्नावली' मे "सुसगता—सखि, तू बडी निष्ठुर है, जो महाराज से इतना आदर पाने पर भी क्रोध को नहीं छोडती। सागरिका (भौंह चढाकर)—अब भी तू चुप नहीं रहती सुसगता।" उपर्युक्त बातो द्वारा प्रेमरूपी बीज के प्रकट होने पर परिहास से उत्पन्न बात को छिपाने के कारण यहां नर्मद्युति है।

उत्तरा वाक्प्रगमनं

प्रगमन—बीज के अनुकूल उत्तर-प्रत्युत्तरयुक्त वचन को प्रगमन कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली नाटिका' मे चित्र मिलने पर राजा और विदूषक की यह बातचीत—"हे मित्र, तुम बडे भाग्यशाली हो। राजा—मित्र यह क्या? विदूषक—यह वही है जिसकी अभी चर्चा चली थी, चित्रपट मे आप ही अकित हैं, नहीं तो भला कामदेव के बहाने और किसका चित्र खींचा जा सकता है!" इत्यादि से आरम्भ कर राजा के इस कथन तक—"भाई मृणाल हार प्यारी के घटस्तन के सम्पर्क से च्युत होकर क्यो सूख रहे हो? अरे भाई, तुम निरे बुद्धू मालूम हो रहे हो, भला बताओ तो सही, उसके घटस्तनो के बीच मे अति सूक्ष्म तन्तु के रखने-भर का तो स्थान ही नहीं है, फिर तेरे-ऐसे मुसरचण्ड के लिए वहाँ स्थान ही कहाँ है?

इस प्रकार राजा और विदूषक तथा सुसगता और सागरिका की आपसी बातो से उत्तरोत्तर अनुराग-बीज प्रकटित हो रहा है। अत यह प्रगमन का उदाहरण हुआ।

हितरोधो निरोधनम् ।

निरोध—हितकर वस्तु की प्राप्ति में रुकावट पड़ जाने को निरोध कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में, "राजा—धिङ्मूर्ख, सयोग से किसी प्रकार वह (जिसके अन्दर मेरे विषय में अनुराग प्रकट हो रहा था) मिली भी तो तूने मेरे हाथ में आयी हुई उस 'रत्नावली' नामक कान्ता को 'रत्नावली' की माला की तरह च्युत करा दिया। अभी मैं उसे कण्ठ में लगाना ही चाहता था कि तूने उसमें व्यवधान लाकर मुझे अपना अभीप्सित पूरा करने में बाधा पहुँचा दी।" यहाँ पर वत्सराज के मन में सागरिका से समागम की जो इच्छा रही, उसमें "वासवदत्ता आ रही है" ऐसे वचन से रोक (व्यवधान) पड गया। अत यह निरोध हुआ।

पर्युपास्तिरनुनयः

पर्युपासन—क्रुद्ध व्यक्ति को खुश करने के लिए प्रार्थना करने को पर्युपासन कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली नाटिका' में महाराज वासवदत्ता को मनाते समय कह रहे हैं—"राजा—देवि, यदि मैं तुम्हें प्रसन्न होने को कहूँ तो यह बात अत्यन्त क्रोध वाली तेरे लिए युक्तिसगत प्रतीत नहीं होगी। यदि मैं ऐसा कहूँ कि आज से फिर ऐसा काम नहीं करूँगा, सो भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि इससे तो उलटे यही बात प्रमाणित होने लगेगी कि मैंने सचमुच इस काम को किया है। यदि मैं यह कहूँ कि इसमें मेरा कोई दोष नहीं है तो तुम इसे मिथ्या ही मानोगी। सो हे प्रिये, इस समय क्या कहना चाहिए यह मेरी समझ में नहीं आता। अत मेरे ऊपर कृपा करके क्षमा प्रदान करो।" इसके द्वारा चित्रफलक में एक साथ सागरिका और महाराज को देख कुपित वासवदत्ता के लिए प्रसन्न करने के लिए किए गए प्रयत्न सागरिका और वत्सराज के अनुराग के प्रकट होने से पर्युपासन हुआ।

पुष्पं वाक्यं विशेषवत् ॥ ३८ ॥

पुष्प—विशेषयुक्त वचन के कथन को पुष्प कहते हैं ॥३८॥

जैसे 'रत्नावली नाटिका' मे राजा का सागरिका के हाथों के स्पर्श-सुख से पुलकित हो, विदूषक से निम्नलिखित वचन का कथन—विदूषक राजा से कहता है—"मित्र तूने अपूर्व लक्ष्मी तो प्राप्त कर ली।" विदूषक के वचन को सुनकर महाराज कहते हैं—

"यह सागरिका सचमुच साक्षात् लक्ष्मी है और इसकी हथेली निश्चय ही पारिजात के नूतन पल्लव है, नही तो भला पसीने के बहाने अमृत इसमे से कहाँ से टपकते !"

इस प्रकार नायक और नायिका के एक-दूसरे के देखने आदि से युक्त (विशेषता लिए-दिए) अनुराग के प्रकट होने से यह पुष्प है।

उपन्यासस्तु सोपायं

उपन्यास—युक्तिपूर्ण वाक्य के कथन को उपन्यास कहते है।

जैसे, 'रत्नावली नाटिका' मे सुसगता का राजा के प्रति यह कथन—"महाराज, आप मुझ पर प्रसन्न है, यही क्या कम है ? आप किसी प्रकार की शका न करें, मैंने ही यह खेल किया है, आभूषण मुझे नही चाहिए। मेरी सखी मुझ पर इसलिए अप्रसन्न है कि मैंने इसका चित्र इस चित्रपट पर क्यों आँका। सो महाराज, चलकर जरा उसे मना दीजिए। इससे बढकर मेरे लिए और कौनसी बख्शीश (पुरस्कार) हो सकता है !"

यहाँ पर सुसगता ने सागरिका मेरे द्वारा तथा आप उसके द्वारा चित्रित किये गए हैं। इस बात को भङ्ग्यन्तरेण राजा से कहकर उसको प्रसन्न करने के लिए जो निवेदन किया, इन सब बातो से अनुराग-बीज लक्षित हो रहा है, अत यहाँ उपन्यास है।

वज्रं प्रत्यक्षनिष्ठुरम्।

वज्र—सम्मुख निष्ठुर वाक्य के कथन को वज्र कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली नाटिका' मे वासवदत्ता चित्रपट की ओर निर्देश करके कहती है—'आर्यपुत्र, यह मूर्ति जो आपके पास मौजूद है, यह

है, पर (ग्रथकार का) इसके विषय में यह कहना है कि और सन्धियों के लिए तो पूर्वनियम ठीक लागू होता है, पर इसमे कुछ विशेषता रहती है। वह यह है कि इसमे प्राप्त्याशा नामक अवस्था का रहना तो आवश्यक है पर पताका नामक अर्थप्रकृति का रहना उतना आवश्यक नहीं है। अर्थात् पताका नामक अर्थप्रकृति रह भी सकती है, नहीं भी रह सकती है, पर प्राप्त्याशा नामक अवस्था का रहना तो नितान्त आवश्यक है ॥३६॥

प्रतिमुख सन्धि मे किंचित् प्रकाशित हुए बीज का बार-बार आविर्भाव, तिरोभाव तथा अन्वेषण होता रहता है। इसमे कभी तो विघ्नो के कारण ऐसा लगता है कि कार्य सफल नही हो पाएगा। फिर विघ्न के हट जाने से कार्य की सफलता दिखाई देती है, फिर विघ्न के आ जाने से कार्यसिद्धि मे सन्देह पैदा हो जाता है, फिर प्राप्ति की आशा दृढ हो जाती है। इस प्रकार की व्यापार-शृखला चलती रहती है। इस प्रकार यह गर्भसन्धि फल की प्राप्ति म अनिश्चितता से भरी रहती है।

'रत्नावली नाटिका' के तृतीय अक मे यह बात देखने को मिलती है। वत्सराज को सागरिका के साथ समागम करने मे वासवदत्ता-रूपी विघ्न की सदा आशका बनी रहती है, किन्तु विदूषक के इस वचन से कि "सागरिका महारानी वासवदत्ता के वेष मे ही आपसे मिलने आने वाली है", इससे सागरिका से मिलने की आशा बँध जाती है। इसके बाद इस प्रेम व्यापार मे वासवदत्ता के द्वारा आघात पहुँचता है, निदान एक तरह से मिलने की आशारूप प्रेम-व्यापार भग हो जाता है। इसके बाद फिर आशा बँध जाती है, फिर विच्छेद हो जाता है, फिर विघ्नो के दूर करने मे सचेष्ट होना पडता है और अन्त मे कहना पड जाता है कि सागरिका की प्राप्ति के लिए देवी वासवदत्ता को प्रसन्न करने के अलावा दूसरा कोई उपाय दिखाई नही देता।

इस सन्धि के १२ अग होते हैं—

अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः ।
संग्रहश्चानुमानं च तोटकाधिबले तथा ॥ ३७ ॥

उद्वेगसंभ्रमाक्षेपा लक्षणं च प्रणीयते ।

१. अमृताहरण, २. मार्ग, ३. रूप, ४. उदाहरण, ५. क्रम, ६. संग्रह, ७ अनुमान, ८. तोटक, ९. अधिबल, १०. उद्वेग, ११. संभ्रम और १२. आक्षेप ॥३७॥

अब इनका लक्षण के साथ उदाहरण दिया जाता है ।

अभूताहरणं छद्म

अभूताहरण—कपटयुक्त वचन के कथन को अभूताहरण कहते हैं । जैसे, 'रत्नावली नाटिका' में काचनमाला विदूषक से कहती है—"साधु रे अमात्य वसन्तक साधु, इस प्रकार की सन्धि-विग्रह में तो तूने अमात्य यौगन्धरायण से भी बाजी मार ली ।" इस प्रकार से प्रवेशक के द्वारा सुसंगता और विदूषक के सिखाने-पढ़ाने से वासवदत्ता के वेष में अभिसरण करनेवाली सागरिका के छद्मकार्य को काचनमाला ने व्यक्त कर दिया ।

मार्गस्तत्त्वार्थकीर्तनम् ॥ ३८ ॥

मार्ग—सच्ची तत्त्वगर्भित बात के कथन को मार्ग कहते हैं ॥३८॥

जैसे 'रत्नावली नाटिका' में विदूषक—"मित्र आपकी जय हो, आप बड़े भाग्यशाली हैं, आपकी अभिलाषा पूरी हुई ।

राजा—मित्र मेरी प्रिया सागरिका सकुशल तो है न ?

विदूषक—अब देर नहीं है, आप स्वयं उसे देख इस बात का निर्णय कर लेंगे कि सकुशल है अथवा नहीं ।

राजा—क्या उसके दर्शन का भी सौभाग्य प्राप्त होगा ?

विदूषक—(गर्वपूर्वक) अपनी बुद्धि से बृहस्पति को भी मात कर देने वाला वसन्तक जब आपका अमात्य है तो फिर दर्शन होना कौनसी बड़ी बात है जो न हो सकेगा ?

राजा—मैं जानने के लिए उत्सुक हूँ कि वह कैसे सम्पन्न होगा ?

विदूषक—(राजा के कान में कहता है) ऐसे ।"

यहाँ पर विदूषक के द्वारा सागरिका के समागमरूप तत्व की बात सत्य और निश्चय के साथ कही गई है, अत यह मार्ग का उदाहरण हुआ।

रूपं वितर्कवद्वाक्य

रूप—वितर्कयुक्त बात के कथन को रूप कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली नाटिका' म ' राजा—कितनी आश्चर्य की बात है कि कामी जनो को अपनी स्त्री की अपेक्षा परस्त्री मे अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होती है। और यद्यपि (परस्त्री) नवोढा प्रणय स आर्द्र अपनी दृष्टि को लोकभय आदि के कारण नायक के मुख पर जमकर लगाती भी नही। प्रेम के भावावेश मे कण्ठालिगन करते समय घनघोर स्तनालिगन से भी वचित ही रखती है, प्रयासपूर्वक ग्रहण किए जाने पर भी 'मैं जा रही हूँ', 'मैं जा रही हूँ' इस बात को बार-बार कहा करती है फिर भी सकेत-स्थल मे बैठकर इस प्रकार की रमणी की प्रतीक्षा करने मे कामी, जनो को अपूर्व ही आनन्द की प्राप्ति होती है।" 'क्या कारण है कि वसन्तक अभी तक नही आया ? कही इस बात का पता वासवदत्ता को तो नही लग गया।" इत्यादि के द्वारा सागरिका के समागम की प्राप्ति की आशा की अनुकूलता मे वासवदत्ता द्वारा विघ्न पड जाने की बात का सोचना वितर्क है।

सोत्कर्षं स्यादुदाहृति ।

उदाहृति या उदाहरण—उत्कर्षयुक्त वचन के कथन को उदाहृति या उदाहरण कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली नाटिका' म विदूषक का यह कथन—(हर्ष के साथ) "महाराज को मेरे प्रिय वचन को सुनकर इतना अधिक आनन्द होगा जितना कौशाम्बी राज्य के विजय के समय मे भी नही हो पाया था।"

रत्नावली की प्राप्ति की बात कौशाम्बी राज्य की प्राप्ति से भी

कष्टकर होगी, इस प्रकार यहाँ उत्कर्ष का कथन हुआ है अतः यह उदाहरण हुआ।

क्रमः सचिन्त्यमानाप्तिर्

क्रम—अभिलषित वस्तु की प्राप्ति को क्रम कहते हैं।

'रत्नावली नाटिका' में राजा उत्कण्ठा के साथ कहता है—"प्रियतमा के मिलने का समय अति सन्निकट होते हुए भी न जाने क्यों चित्त अत्यधिक उत्कण्ठित हो रहा है।

अथवा—

तीव्र कामदेव का सन्ताप उत्कण्ठित वस्तु के दूर रहने पर उतना कष्टकर नहीं होता जितना सन्निकट रहने पर। गर्मी का वह दिन जो वर्षा काल से दूर रहता है उतना कष्टप्रद नहीं होता, जितना वर्षा के सन्निकट वाले दिन कष्टकर होते हैं।

विदूषक—(सुनकर) सागरिका, देव महाराज उत्कण्ठित होकर तुम्हारे ही विषय में सोचते हुए धीरे धीरे कुछ बोल रहे हैं, सो मैं आगे चलकर तेरे आने की सूचना उन्हें दे दूं।"

इस प्रकार यहाँ सागरिका के समागम की अभिलाषा वाले वत्सराज का आना सागरिका (वासवदत्ता सागरिका रूप में) की प्राप्ति क्रम है।

भावज्ञानमथापरे ॥ ३६ ॥

क्रम की परिभाषा दूसरे लोगों के मन से भाव के ज्ञान का होना है॥३६॥

जैसे, 'रत्नावली' में राजा—'प्रिय सागरिका, तेरा मुख चन्द्रमा के समान आह्लाददायक है, नत्र नीलकमल की शोभा धारण करने हैं, कपोलों के अन्तर्भाग (भीतरी हिस्से) के सदृश सुन्दर तेरे रूप हैं, तेरे हाथ रक्तकमल की शोभा धारण करते हैं, और भुजाएं मृणाल की शोभा का धारण किये हुए हैं, इस प्रकार से सम्पूर्ण अंगों में आह्लाद-

कता को धारण करने वाली तू निःशंक होकर कामदेव के संताप से व्याकुल मेरे अंगों को वेग के साथ आलिंगन कर मेरे अंगों के संताप को दूर कर।"

यहां से लेकर कि पदस्य रुचि न हृन्ति'''तदप्यस्त्येव विम्बाधरे।

यहाँ तक की बातों से वासवदत्ता को वत्सराज उदयन का भाव ग्रहण हो जाता है, अतः यह अन्य लोगों की दृष्टि से क्रम का उदाहरण हुआ।

संग्रहः सामदानोक्तिर्

संग्रह—सामदामयुक्त उक्ति को संग्रह कहते हैं।

'रत्नावली नाटिका' में सागरिका के ले आने पर विदूषक को धन्यवाद के साथ पारितोषिक देना—'मित्र, तुम्हें धन्यवाद है, मैं पारितोषिक स्वरूप यह कटक तुम्हें देता हूं।" इस प्रकार साम, दाम आदि के द्वारा विदूषक का सागरिका के साथ वत्सराज को मिला देना, आदि बातों का संग्रह 'संग्रह' का उदाहरण है।

अभ्यूहो लिङ्गतोऽनुमा।

अनुमान—चिह्न विशेष के द्वारा किसी बात का अनुमान करना अनुमान कहलाता है।

जैसे 'रत्नावली' में वत्सराज का विदूषक से यह कहना—"मूर्ख कहीं का, तुम्हारे ही द्वारा मुझे इस अनर्थ का सामना करना पड़ा।

अनेक दिनों के प्रेम-व्यापार के द्वारा जो प्रेम उत्कृष्टता प्राप्त कर गया था वह आज मेरे ऐसे निन्दित कार्य के द्वारा, जैसा कि आज तक कभी भी नहीं किया था, नष्ट कर डाला गया। अपमान के सहन करने की क्षमता न रखने वाली मेरी प्राणप्रिया वासवदत्ता निश्चय ही आज इस अकार्य के कारण अपने प्राणों को छोड़ देगी, क्योंकि प्रकृष्ट प्रेम का त्रुटित हो जाना निश्चय ही असह्य होता है।" राजा इस बात को सुनकर विदूषक कहता है—"मित्र, वासवदत्ता क्या करेगी यह तो मैं नहीं जानता, पर मुझे तो सागरिका का ही जीवन दुष्कर प्रतीत हो

रहा है।"

यहाँ पर राजा का सागरिका मे अनुराग है, इस बात को वासवदत्ता जान गई है, अत इस घटना के असह्य हो जाने के कारण वह अवश्य अपने प्राणो को छोड देगी, इस बात का अनुमान किया जाता है अत यह अनुमान है।

अधिबलमभिसंधिः

अधिबल—संगम होने को अधिबल कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली' म काचनमाला वासवदत्ता से कहती है—महारानी, यही चित्रशाला है, अत अब वसन्तक को बुलाती हूँ (चिटुकी बजाती है, इस प्रकार सागरिका और सुसंगता के वेष धारण की हुई वासवदत्ता और काचनमाला मे राजा और विदूषक का संगम होता है, अत यह अधिबल हुआ।

संरब्ध तोटक वचः ॥ ४० ॥

तोटक—क्रोधयुक्त वचन को तोटक कहते हैं ॥४०॥

जैसे 'रत्नावली' नाटिका म वासवदत्ता राजा से कहती है—(पास जाकर) "आर्यपुत्र, आपका यह कार्य आपके नाम और यश के अनुरूप ही है। (फिर बिगडकर)

काचनमाल, इस दुष्ट ब्राह्मण को इस लता से बाँधकर ले चल तथा इस दुष्ट लडकी को भी आगे कर ले।"

इस प्रकार के वासवदत्ता के क्रोधित वाक्यो से सागरिका के समन्वय मे विघ्न पड जाने से अनियत प्राप्ति के कारण तोटक हुआ।

'वर्णीसंहार' मे भी अश्वत्थामा दुर्योधन से कहता है—"यदि मैं सेनापति बना दिया जाऊँ तो आपके सारे शत्रुओ को नष्ट कर डालूँगा। शत्रुओं के अनाद म वन्दियो के मंगलपाठ द्वारा बहुत परिश्रम से निद्रा भग किए जाने पर आज आप निशाकाल-पर्यन्त (सानन्द) शयन करेंगे।" यहाँ से लेकर कर्ण का अश्वत्थामा के प्रति यह कहना कि रे शठ जब तक मेरे हाथो म अस्त्र हैं तब तक अन्य धनुर्धारियो की

क्या आवश्यकता ? आदि यहाँ तक।

अपने पक्ष की सेना में फूट डालने वाला कर्ण और अश्वत्थामा का वाग्युद्ध पाण्डवों की विजय-प्राप्ति के अनुकूल होने के कारण तोटक है।

दूसरे ग्रन्थकारों के अनुसार तोटक का उलटा अधिबल होता है। अर्थात् क्रोधयुक्त वचन तोटक में होता है, यत इसमें विनययुक्त वचन रहता है। जैसे 'रत्नावली' नाटिका में राजा वासवदत्ता से कहता है—"प्रत्यक्ष अपराध के देखे जाने पर भी आपसे निवेदन यह है कि 'देवि, बेशरम होकर आलक्त से रंगे हुए तेरे चरणों की लालिमा को अपने मस्तक से रगड़कर साफ़ कर देने में तो मैं समर्थ हूँ, पर तुम्हारे मुखचन्द्र पर छायी हुई कोप की अरुणाई को दूर करने में तो मैं तब तक समर्थ नहीं हो सकता जब तक आपके कृपाकटाक्ष का विशेष मेरे ऊपर न हो।"

तोटकस्यान्यथाभावं ब्रुवतेऽधिबलं बुधाः।
संरब्धवचनं यत्तु तोटकं तदुदाहृतम् ॥ ४१ ॥

तोटक—उद्विग्नयुक्तवचन को तोटक कहते हैं ॥४१॥

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में "राजा—प्रिये वासवदत्ते, प्रसन्न होओ, प्रसन्न होओ।"

वासवदत्ता (आँखों में आँसू भरकर)—आर्यपुत्र, मुझे प्रिया कहके मत पुकारिए, क्योंकि यह विशेषण आपके द्वारा दूसरे नाम (सागरिका) के साथ जोड़ा जा चुका है। सागरिका इस शब्द (प्रिया शब्द) की भाजन बन चुकी है।

जैसे 'वेणीसंहार' में भी—"राजा—सुन्दरक, महाराज कर्ण सकुशल तो हैं न ? पुरुष—महाराज, वे जीवित हैं इतना ही कुशल समझिए।

दुर्योधन—(व्याकुलता के साथ) सुन्दरक, क्या अर्जुन ने उसके घोड़े और सारथि को तो नहीं मार डाला ? और क्या उसने उसके रथ को भी तो नहीं भग्न कर डाला ?

सुन्दरक—महाराज, केवल रथ ही नहीं भग्न किया किन्तु साथ-साथ उनके मनोरथ (पुत्र) को भी।

दुर्योधन—कैसे ?" यहाँ पर उद्वेगयुक्त वचन के होने से त्रोटक है।

उद्वेगोऽरिकृता भीतिः

उद्वेग—शत्रु से उत्पन्न भय को उद्वेग कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली' नाटिका में—"सागरिका (अपने-आप सोचती है) मैं ऐसी पापिनी हूँ कि अपनी इच्छा से मर भी नहीं सकती।" यहाँ पर वासवदत्ता से उत्पन्न सागरिका का भय उद्वेग का उदाहरण है।

'वेणीसंहार' में भी—"अरे, कौरव-नरेश के पुत्र रूपी विशाल वन को निर्मूल करने में भयंकर आँधी के समान यह दुष्ट भीमसेन समीप में ही विद्यमान है, महाराज को अभी चेतना नहीं आई है। जो हो, मैं यथाशीघ्र रथ को दूर भगा ले चलूँ, क्योंकि दुःशासन ही की तरह इन पर भी कदाचित् यह नीच अपनी नीचता न कर बैठे।" यहाँ पर शत्रु द्वारा भय होने के कारण उद्वेग है।

शङ्कात्रासौ च संभ्रमः।

संभ्रम—शंका और त्रास के होने को संभ्रम कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली' नाटिका में, "विदूषक—यह कौन-सी रमणी है ? संभ्रम के साथ मित्र बचाओ, बचाओ, वासवदत्ता फाँसी लगा रही है।"

यहाँ पर सागरिका को वासवदत्ता समझकर मरण की शंका ने संभ्रम पैदा हुआ है। इसी प्रकार, 'वेणीसंहार' में भी—"(नेपथ्य में कलकल शब्द होता है) मामा, मामा, बड़े दुःख की बात है। यह अर्जुन अपने भाई के प्रतिज्ञा भंग हो जाने के भय से अमोघ शरों की वर्षा करते हुए दुर्योधन और कर्ण की ओर दौड़ रहा है। हाय, दुःख की बात है—भीम ने दुःशासन का रक्तपान कर लिया।" यहाँ तक तो शंका है और प्रहार से संभ्रान्त सूत का अश्वत्थामा के प्रति यह वचन—

कुमार बचाओ, बचाओ, यह त्रास है। इस प्रकार से यहाँ पर दुःशासन और द्रोण के वध की सूचना देने वाले इस त्रास और शंका से युक्त वचन द्वारा विजय-प्राप्ति की आशा से युक्त यह सम्भ्रम है।

गर्भबीजसमुद्भेदादाक्षेपः परिकीर्तितः ॥ ४२ ॥

आक्षेप—गर्भ में रहने वाले बीज के स्पष्ट होने को आक्षेप कहते हैं ॥४२॥

जैसे राजा द्वारा यह कथन—"मित्र देवी को खुश करने के सिवा और कोई उपाय दिखाई नहीं देता।..... पर देवी को प्रसन्न करने में मैं हर तरह से निराशित हो गया हूँ। ..फिर यहाँ रुकने से क्या लाभ चलकर देवी को ही प्रसन्न करूँ।" इस कथन का तात्पर्य यही निकलता है कि देवी के प्रसन्न करने से ही सागरिका मिल सकती है। इस प्रकार यहाँ पर गर्भ में पड़े हुए बीज के प्रकटित होने से यह आक्षेप हुआ।

अवमर्श संधि

क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात् ।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्शोऽङ्गसंग्रहः ॥ ४३ ॥

क्रोध, व्यसन, विलोभन आदि द्वारा गर्भसन्धि में पड़ा हुआ बीज फल की तरफ अग्रसर होता हुआ जब अधिक विस्तृत रूप धारण कर लेता है उसको अवमर्श सन्धि कहते हैं ॥४३॥

अवमर्श का अर्थ होता है पर्यालोचन करना । वह व्यसन, विलोभन आदि कारणों से होता है । 'ऐसा करने से यह होगा।' इस प्रकार निश्चित फल की प्राप्ति होगी । इस प्रकार का समझकर किया गया प्रयत्न इसमें पाया जाता है । 'रत्नावली' नाटिका के चौथे अंक में जहाँ अग्नि के कारण गड़बड़ी मचती है, वहाँ तक यह सन्धि है । इस अंक में वासवदत्ता की प्रसक्ति से विघ्नरहित रत्नावली की प्राप्ति में लग जाना कार्य-विमर्श दिखलाया गया है । 'वेणीसंहार' में भी दुर्योधन के रुधिर से लथपथ भीमसेन के आगमन-पर्यन्त इसी विमर्श-सन्धि का दिग्दर्शन कराया गया है ।

युधिष्ठिर—(सोचकर दीर्घ श्वास लेते हुए) भीष्मरूप समुद्र पार कर गए, द्रोणरूप आग भी बुझ गई, कर्णरूप महा विषैला सर्प भी नष्ट कर डाला गया, शल्य भी स्वर्ग के पथिक बने, अब विजय-लाभ अति सन्निकट है। तो भी अति साहसी भीमसेन की प्रतिज्ञा ने हम लोगों के जीवन को संकट में डाल दिया है ।

यहाँ पर "विजय-लाभ अति सन्निकट होते हुए भी, युधिष्ठिर सोच रहे हैं कि भीष्म आदि के मारे जाने से विजय निश्चित रही, पर भीम ने इस बीच प्रतिज्ञा कर हम लोगों के जीवन को खतरे में डाल दिया । इस प्रकार जो विचार करना है वह विमर्श संधि के भीतर आता है ।

अवमर्श संधि के तेरह अंग होते हैं—

नत्रापवादसंफेटो विद्रवद्रवशक्तयः ।

द्युतिः प्रसङ्गश्छलनं व्यवसायो विरोधनम् ॥ ४४ ॥

प्ररोचना विचलनमादानं च त्रयोदश ।

१. अपवाद, २. सफेट, ३ विद्रव, ४. द्रव, ५. द्युति, तिरस्कार, ६ प्रसंग, ७ छलन, ८ अवमान, ९ व्यवसाय, १० विरोधन, ११ प्ररोचना, १२ विचलन और १३ आदान।

अपवाद—दोष के कथन को अपवाद कहते हैं। दोष-कथन का तात्पर्य है किसी के दोष का प्रचार करना ॥४४॥

जैसे, 'रत्नावली नाटिका में सुसंगता—देवी उसे उज्जयिनी ले गई, इस बात को प्रचारित कर न जाने वह बेचारी कहाँ भेज दी गई।

विदूषक—"देवी ने यह अति निष्ठुर कर्म किया।" फिर "खैर, मित्र चिन्ता न करो, निश्चित देवी ने उसे उज्जयिनी भेजा है, इसलिए मैंने अप्रिय शब्द का प्रयोग किया है और कोई बात नहीं है।" इस प्रकार यहाँ पर वासवदत्ता के दोष के फैलाने का कथन के कारण यह अपवाद है। 'वेणीसंहार' में भी—"युधिष्ठिर—कौरवों में नीच उस दुष्ट दुर्योधन का कुछ पता चला ?

दोषप्रख्याऽपवादः स्यात्

पाञ्चालक—महाराज, न केवल उसका पता ही मात्र चला है अपितु देवी द्रौपदी के केशपाश के स्पर्श-रूपी महापातक का प्रधान कारण दुरात्मा प्राप्त भी हो गया है।" यहाँ पर दुर्योधन की निन्दा होने से अपवाद है।

संफेटो रोषभाषणम् ।

संफेट—रोष से भरे हुए परस्परोपकथन को संफेट कहते हैं।

जैसे 'वेणीसंहार' में—'दुर्योधन, भाइयों के नष्ट हो जाने से पश्चात्तापी मन, इस बात की चिन्ता मत करो कि पाण्डव पापी हैं और मैं

अकेला असहाय हूँ। अब तुम पाँचों में से जिसके साथ युद्ध करने की इच्छा हो, कवच पहन, हाथ में अस्त्र ले, उससे युद्ध करो।" इस बात को सुनकर दुर्योधन दोनों कुमारों भीम और अर्जुन को घृणा की दृष्टि से देखता हुआ बोला—

'कर्ण और दु:शासन के वध से यद्यपि तुम दोनों मेरे लिए समान हो तथापि शत्रु होते हुए भी तुम लोग साहसी हो, अतः तुम लोगों के साथ ही युद्ध करना मैं उचित समझता हूँ।'

यह कहकर एक-दूसरे को क्रोधपूर्वक निन्दायुक्त कटु वचनों के साथ विकट युद्ध का प्रस्ताव करके''' इत्यादि।"

यहाँ पर भीम और दुर्योधन का एक-दूसरे के प्रति रोष से भरे हुए कथन के होने से यह सफेट का उदाहरण हुआ। यह सफेट विजय-रूपी बीज से अन्वित ही है।

विद्रवो वधबन्धादिर्

विद्रव—वध, बन्धन आदि बातें जिसमें पाई जाती हों उसे विद्रव कहते हैं।

जैसे 'छलित राम नाटक' में लव के बाँधे जाने पर ऋषिगणों का उसे देख उसके प्रति दुःखोदगार प्रकट करना—

"जिसके मुख ने सामवेद के पाठ करने में अत्यन्त कष्ट उठाया था, बाल्यकाल में जो हम लोगों के हाथ से अक्षवलय को लेकर क्रीडा किया करता था, वह हम लोगों का हृदयस्वरूप लव आज बाणों के लगन से कंधे के भर जाने से घायल होकर मूर्छित अवस्था में सैनिकों द्वारा पकड़कर ले जाया जा रहा है।" ऐसे ही 'रत्नावली' नाटिका में भी—

"अन्तःपुर में अग्नि अकस्मात् धधकती हुई दीख पड़ती है। इसने गगनचुम्बी अट्टालिकाओं को जलाते हुए स्वर्ण की चोटी का-सा रूप धारण कर लिया है। इसने बगीचे के आर्द्रवृक्षों को भी जलाकर अत्यन्त तीव्र ताप को पैदा कर दिया है तथा अपनी धूम से क्रीडा-पर्वत को जल से भरे हुए बादल का-सा रूप बना डाला है। इसके मारे महिलाएँ

सन्त्रस्त हो गई हैं।" इत्यादि

फिर इसके बाद वासवदत्ता महाराज से कहती है—'प्रियतम, मैं अपने लिए नही कह रही हूँ बल्कि मुझ क्रूरहृदया के द्वारा बाँधी गई सागरिका कष्ट पा रही है। उसी की रक्षा के लिए निवेदन कर रही हूँ।' यहाँ पर सागरिका के बधन की बात पाई जाती है, अत विद्रव हुआ।

द्रवो गुरुतिरस्कृतिः ॥ ४५ ॥

द्रव—गुरुजनों के अपमान करने को द्रव कहते हैं ॥४५॥

जैसे 'उत्तर रामचरित' मे लव चन्द्रकेतु से कहता है—

"गुरुजनो के बारे मे कुछ न कहना ही उचित है। सुन्द की स्त्री ताडका के वध करने पर भी अप्रतिहत यश वाले वे लोक मे श्रेष्ठ ही हैं। खर के साथ युद्ध करने मे तीन पग पीछे जिनको हटना पडा था और बाली के वध मे जिन्होने सुन्दर युद्ध-कौशल प्रदर्शित किया था, उससे भी लोग परिचित ही हैं, अत वृद्धो के चरित की आलोचना न करना ही ठीक है।"

यहाँ लव ने गुरु राम का तिरस्कार किया है, अत द्रव है।

'वेणीसहार' मे भी— 'युधिष्ठिर—सुभद्रा के बडे भैया बलरामजी, सम्बन्धियो के प्रति किए जाने वाले सदव्यवहार के प्रति आपने जरा भी ध्यान नही दिया, साथ ही आपने क्षत्रिय धर्म का भी ठीक से पालन नही किया। इसके अलावा अपने लघु भ्राता कृष्णचन्द्र के साथ अर्जुन की कैसी मित्रता है इस बात को आपने तृण के समान भी महत्त्व नही दिया। आपको भीम और दुर्योधन दोनो शिष्यो मे समान ही ममता होनी चाहिए थी। पर न मालूम यह कौनसा मार्ग आपने अपनाया है जो मुझ अभागे से आप इस प्रकार रुष्ट हो गए।"

यहाँ पर युधिष्ठिर द्वारा गुरु बलरामजी का तिरस्कार हुआ है, अत द्रव है।

विरोधशमनं शक्तिस्

शक्ति—विरोध के शान्त हो जाने को शक्ति कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली' नाटिका मे राजा कहते हैं—

मैंने अपनी प्रियतमा वासवदत्ता को प्रसन्न करने के लिए बातें बना-बनाकर शपथ खाई, मीठी-से-मीठी चाटुकारिता भरी बातें कही, निर्लज्ज हो उसके पैरो पड़ा, उसकी सखियो ने भी उसके क्रोध को दूर करने के लिए एक न उठा रखी, पर उसमे जरा भी नरमाहट नहीं आई। आश्चर्य तो इस बात से होता है कि मेरे द्वारा किये गए इतने उपचार के बाद भी उसके क्रोध के दूर करने मे वैसी सफलता प्राप्त न कर सके जैसा स्वय उसका रुदन आँसुओ के द्वारा प्रक्षालन करने मे समर्थ हो सका।

सागरिका की प्राप्ति का विरोधी वासवदत्ता के कोप का शात हो जाना द्रव है। जैसे, 'उत्तर रामचरित' मे भी लव का यह कथन—

"वैर शान्त हो गया, अतिशय सुख से गाढ अनुराग फैल रहा है। ऐसा लगता है कि वह मेरे अन्दर का दर्प कही चला गया है, नम्रता मुझे झुकने के लिए बाध्य कर रही है। इनके (राम के) देखने पर न जाने क्यो पराधीन-सा हो गया हूँ, लगता है पवित्र स्थानो की तरह महापुरुषो का कोई बहुमूल्य उत्कर्ष होता है।

तर्जनोद्वेजने द्युतिः।

द्युति—तर्जन और उद्वेजन को द्युति कहते हैं।

जैसे, 'वेणी सहार' मे—

"बलराम के भाई कृष्णचन्द्र के इस वाक्य को सुनकर भीमसेन ने उस कासार के जल को आलोडित कर दिया। आलोडन करने से उसका जल चारो दिशाओ को पूरित करके बह चला। सम्पूर्ण जलचर विकल हो गए, मगर और घड़ियाल व्यग्र हो उठे।"

इसके बाद भीमसेन ने भीषण गर्जन के साथ पुन कहा—"अरे रे मिथ्याबल और पराक्रम का अभिमान करने वाले तथा द्रौपदी के केश और वस्त्र के आकर्षण करने वाले महापातकी दुर्योधन!

तुम अपना जन्म विमल चन्द्रवश मे बताते हो और अब भी हाथ

मे गदा धारण करते हो तथा दुःशासन के गरम रक्त-रूपी मदिरा से मत्त मुझे शत्रु कहते फिरते हो, अरे अहङ्कार से अंधे, मधु और कैटभ के शत्रु भगवान् वासुदेव कृष्ण के विषय में असभ्यता का व्यवहार करने वाले, नराधम अब मुझसे भयभीत होकर तथा युद्ध से पराङ्मुख होकर अब कीचड़ मे आकर छिपे हुए हो, तुम्हे धिक्कार है।"

यहाँ से लेकर दुर्योधन का तालाब छोड़ वेग से निकल आना इत्यादि बातो से और दुर्वचन तथा जलाडोलन से, जोकि दुर्योधन के लिए उद्वेगजनक है, पाण्डवों के विजय के अनुकूल होने से और भीम की द्युति व्यक्त होने से द्युति है।

गुरुकीर्तन प्रसङ्गः

प्रसग—गुरुजनों का कीर्तन प्रसग कहलाता है।

जैसे 'रत्नावली' मे वसुभूति का यह कथन—"देव, सिंहलेश्वर ने, वासवदत्ता जलकर मर गई, यह सुनकर पहले सिद्धो के आदेश से मांगी गई अपनी आयुष्मती पुत्री 'रत्नावली' को आपके लिए दिया था।"

यहाँ पर वसुभूति द्वारा प्रसगानुसार अपने स्वामी सिंहलेश्वर और उनकी प्यारी पुत्री रत्नावली' का कीर्तन होने के कारण प्रसग है। 'मृच्छकटिक' मे भी इसका उदाहरण मिलता है—"चाण्डालक—हम लोग धन के लालच से वेश्या वसन्तसेना के हनन करने वाले आर्य विनयदत्त के पौत्र सागरदत्त के लड़के चारुदत्त को मारने के लिए वध्य-स्थान ले जा रहे हैं।" इसके बाद चारुदत्त मन-ही-मन सोचते हुए कहते हैं—

"अनेक मखानुष्ठान से पवित्र मेरा यश, जो पहले यज्ञ आदि की सभाओं के बीच वेदमन्त्रो से पवित्र किया जाता था, उसी मेरे कुल का गान आज कुत्सित पुरुष कुत्सित वृत्तान्त के साथ कर रहे हैं।"

इस प्रकार चारुदत्त द्वारा अपने कुल की प्रशंसा किए जाने के कारण प्रसग है।

छलनं चावमाननम् ॥ ४६ ॥

छलन—अपमान के होने या करने को छलन कहते हैं ॥४६॥

जैसे, 'रत्नावली' नाटिका मे—राजा—देवी की मेरे ऊपर तनिक भी कृपा नही है। यहाँ पर वासवदत्ता के कार्यों से वत्सराज के अपमानित होने से छलन है। ऐसे ही राम का अपने अभ्युदय के लिए सीता का परित्याग भी छलन ही है।

व्यवसायः स्वशक्त्युक्तिः

व्यवसाय—अपनी शक्ति के कथन को व्यवसाय कहते हैं।

जसे, 'रत्नावली' मे ऐन्द्रजालिक कहता है—"महाराज, आपकी जिस वस्तु के देखने की आज्ञा हो, सब मैं दिखा सकता हूँ। आज्ञा हो तो पृथ्वी पर चन्द्रमा, आकाश में पर्वत, जल मे आग का प्रज्वलित होना, दोपहर को सन्ध्या होना दिखा सकता हूँ। अथवा अधिक कहने की क्या आवश्यकता ? मैं प्रतिज्ञापूर्वक इस बात को कहता हूँ कि अपने गुरुमन्त्र के प्रभाव से आप जो कुछ भी चाहते हो सब दिखा सकता हूँ।" ऐसा निवेदन कर ऐन्द्रजालिक ने वत्सराज को सागरिका का दर्शन मिल जाए एतदर्थ मिथ्या अग्नि का प्रदर्शन किया। यहाँ पर अपनी शक्ति के कथन और उसको दिखाने के कारण व्यवसाय है। 'वेणी-संहार' मे भी—"आज निश्चय ही अपनी प्रतिज्ञा खण्डित होने के भय से भीमसेन तुम्हारे केशकलापों को खींचने वाले उस दुर्योधन का वध करेगा।"

इस प्रकार युधिष्ठिर के द्वारा अपनी शक्ति का कथन हुआ है, अत' यह व्यवसाय है।

संरब्धानां विरोधनम्।

विरोधन—शत्रु के साथ बढ़-चढ़कर अपने पराक्रम के कथन को विरोधन कहते हैं।

जैसे, 'वेणीसंहार' मे—"राजा (दुर्योधन) अरे रे, मरुत्तनय, वृद्धावस्था से आक्रान्त पिताजी के सामने इस प्रकार से अपने कुत्सित कर्मों की प्रशसा क्यों करता है ?

तेरे, अर्जुन के, मूर्ख उस राजा युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव और समस्त राजन्य मण्डलों के देखते-देखते तेरी भार्या द्रौपदी विश्व के अधिपति मेरी आज्ञा से आकृष्ट की गई। इस शत्रुता के बदले में बताओ तो सही उन राजाओं ने क्या बिगाड़ा था जिनका संहार कर तुम लोग गर्व से फूल गए हो ! तुम लोगों का सारा गर्व मुझ पराक्रमशाली पर विजय पाए बिना व्यर्थ है।" भीम यह सुनकर क्रोध प्रदर्शित करने लगते हैं। भीम को क्रुद्धयुक्त देख अर्जुन उनसे कहते हैं—

"आर्य क्षमा कीजिए, इस पर क्रोध करने से क्या लाभ है ? यह वचन से हमारा अहित कर रहा है, कर्म से अहित करने में यह समर्थ नहीं है। सौ भाइयों के वध से दुःखी इसके बड़बड़ाने से कष्ट कैसा ?

भीम—अरे रे भरत वंश के कलंक—(दुर्योधन के प्रति)।

क्रूरभाषी, यदि गुरु (धृतराष्ट्र) विघ्नस्वरूप उपस्थित न होते तो अपनी गदा की चोट से तेरी पसलियों को तोड़कर तुम्हें दुःशासन के पथ का पथिक बना देता। और फिर, ऐ मूर्ख,

कौरवकुल कमल के लिए हाथी के समान आचरण करने वाले मुझ भीमसेन के रहते जो तू अभी तक बच पाया है इसका कारण यह है कि ऐसी मेरी इच्छा रही कि स्त्रियों के समान रुलाते हुए तेरे देखते-देखते तेरे कनिष्ठ भ्राता दुःशासन का वध करूँ।

दुर्योधन—दुष्ट, भरतवंश में नीच, पाण्डव पशु, तुम्हारी तरह मैं डींग नहीं हाँकता किन्तु—

समरभूमि के बीच शीघ्र ही तुम्हारे भाई-बन्धु मेरी गदा से भिन्न वक्षस्थल की पसलियों की लुगदी रूप आभूषण से भूषित तुम्हें देखेंगे।'

इत्यादि द्वारा भीम-दुर्योधन का आपस में वैर-भाव से अपनी-अपनी शक्ति का कथन विरोधन है।

सिद्धामन्त्रणतो भाविदर्शिका स्यात्प्ररोचना ॥ ४७ ॥

प्ररोचना—किसी सिद्ध पुरुष द्वारा होने वाले कार्य के विषय में इस प्रकार के कथन से कि यह तो सिद्ध हो है, अर्थात् यह कार्य तो हुआ ही

है, आगे होने वाले कार्य को सिद्ध हुए के समान दिखलाना प्ररोचना कहलाता है ।।४७।।

जैसे 'वेणीसंहार' में, "पाञ्चालक—मैं चक्रधारी भगवान् वासुदेव द्वारा आप (युधिष्ठिर) के समीप भेजा गया हूँ।" यहाँ से आरम्भ करके, *"सन्देह करना व्यर्थ है—आपके अभिषेक के लिए मणिमय कलश* पूर्ण करके रखे जाएँ द्रौपदी चिरकाल से खोले हुए अपने केशकलाप को शीघ्र बाँध ले, हाथ में परशु धारण करने वाले परशुराम और क्रोधोन्मत्त भीमसेन के समरभूमि में उतर पड़ने पर विजय-प्राप्ति में सन्देह कैसा ?"

यहाँ से लेकर "महाराज युधिष्ठिर मंगल करने की आज्ञा देते हैं।" यहाँ तक भाग प्ररोचना का है क्योंकि सिद्ध पुरुष कृष्णचन्द्र के आदेश को अनुचर द्वारा पाकर "विजयश्री हाथ लगने ही वाली है, अतः मंगल आदि का अनुष्ठान शीघ्र करें" यह युधिष्ठिर द्वारा विश्वास कर वैसा करने का आदेश देना पड़ रहा है।

विकत्थना विचलनम्

विचलन—आत्मश्लाघा करने को विचलन कहते हैं।

जैसे, 'वेणीसंहार' में—"भीम—तात, अम्ब, आपका पुत्र जिसके बल पर समग्र शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने की आशा लगाये हुए थे और जिसके अहंकार से सारा संसार तिनके के सदृश तिरस्कृत हुआ था, उसी रथकार के पुत्र कर्ण को मारने वाला यह मँझला पाण्डव अर्जुन आप लोगों को प्रणाम करता है।

भीम—सम्पूर्ण कौरवों का मर्दनकारी, दुःशासन के रक्तपान से मस्त वह भीम, जो दुर्योधन के जंघाओं का भंग करने वाला है सिर झुकाकर आप लोगों को प्रणाम करता है।"

"इस प्रकार विजयरूपी विजय के अनुकूल अपने गुण के प्रकट करने के कारण विचलन है। जैसे, 'रत्नावली' नाटिका में भी—यौगन्धरायण—मैंने देवी वासवदत्ता के पास सागरिका को जो रखा उससे

सागरिका के प्रति भर्ता के आकृष्ट हो जाने से उसे (वासवदत्ता को) पति-वियोग का भी सामना करना पड़ा। इसके अलावा सागरिका से विवाह कराने के उपक्रम से उसे सौत दु:ख का भी अनुभव हमारे ही कारण करना पड़ा। ये दोनों बातें रानी के लिए यद्यपि कष्टप्रद अवश्य हुई है, पर इससे बढ़कर सुखप्रद बात जो मेरे द्वारा उसके लिए की गई वह है सागरिका से विवाह हो जाने पर रानी के भर्ता वत्सराज को चक्रवर्ती सम्राट् का पद मिल जाना। इस प्रकार रानी को जो मेरे द्वारा कष्ट प्राप्त हुआ है उससे बढ़कर सुख भी मेरे ही द्वारा उसे प्राप्त हुआ है। इतना होते हुए भी मैं उनके सामने मुँह दिखाने में लज्जा का अनुभव कर रहा हूँ।"

यहाँ पर यौगंधरायण द्वारा अपने गुण के कथन होने से विचलन है।

आदानं कार्यसंग्रहः ।

आदान—कार्य-संग्रह को आदान कहते हैं।

जैसे, 'वेणीसंहार' में है, 'भीमसेन—अरे रे, समन्तपञ्चक, चारों तरफ भ्रमण करने वाला न मैं राक्षस हूँ न भूत ही, किन्तु यथेच्छ शत्रुओं के रक्तरूपी जल से आप्लावित शरीर वाला और उस भग्न की प्रतिज्ञारूपी गम्भीर समुद्र को पार करने वाला क्रोधान्ध क्षत्रिय वीर हूँ। अरे, समराग्नि की ज्वाला में अवशिष्ट शूरवीर राजाओ, मुझसे भय भीत होने की कोई आवश्यकता नहीं है। तुम व्यर्थ ही मरे हुए हाथी-घोड़ों की ओट में छिपे हो।"

यहाँ पर समस्त रिपुओं के वधरूपी कार्य के संग्रह होने से आदान है। जैसे 'रत्नावली' नाटिका में भी—"मेरे चारों ओर भगवान् अग्निदेव प्रज्वलित हो रहे हैं, अतः आज ये मेरे सारे दुःख को दूर कर देंगे।"

ऊपर कहे हुए तथा अन्य स्थलों में कथित जो दुःखावसान रूप कार्य है उसके संग्रह से 'आदान' है। जैसे, (उसी नाटिका में) "मेरे स्वामी को संसार-भर का राज्य मिल गया" (इस यौगंधरायण की उक्ति में) पहले ही दिखाया जा चुका है।

ये तेरह प्रवमर्श सन्धि के अंग हैं। इनमें अपवाद, शक्ति, व्यवसाय, प्ररोचना और आदान, इनकी प्रधानता है।

निर्वहण संधि

बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ॥ ४८ ॥
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ।

बीज से सम्बन्धित मुख आदि पूर्व-कथित चारों सन्धियों में यत्र-तत्र बिखरे हुए अर्थों का प्रधान प्रयोजन की सिद्धि के लिए समाहार (एकत्रित) हो जाने को निर्वहण सन्धि कहते हैं ॥४८॥

जैसे, 'वेणीसंहार' नाटक में कंचुकी द्वारा युधिष्ठिर के पास जाकर यह निवेदन करना—"महाराज! अभ्युदय काल है, यह चिरञ्जीवि भीमसेन ही हैं। सुयोधन के घावों से निकलते हुए रक्त से रंग जाने के कारण इनका सम्पूर्ण शरीर अरुण (रक्तवर्ण) हो गया है, अतएव ये पहचान में नहीं आ रहे हैं। अब अधिक सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है। इत्यादि" मुख आदि सन्धियों में द्रौपदी के केश-संयमन रूप जो बीज यत्र-तत्र फैला हुआ है उसका एक प्रधान अर्थ के रूप में एकत्रित हो जाने से यहाँ निर्वहण सन्धि है।

अब इसके अंगों को बताया जा रहा है—

सन्धिर्विबोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम् ॥ ४९ ॥
प्रसादानन्दसमयाः कृतिभाषोपगूहनाः ।
पूर्वभावोपसंहारौ प्रशस्तिश्च चतुर्दश ॥ ५० ॥

इस सन्धि के १. सन्धि, २. विबोध, ३. ग्रथन, ४. निर्णय ५. परिभाषण, ६ प्रसाद, ७ आनन्द, ८. समय, ९. कृति, १०. भाषण, ११. उपगूहन, १२. पूर्वभाव, १३ उपसंहार, १४. प्रशस्ति ये चौदह अंग होते हैं ॥४९-५०॥

क्रमश इनके लक्षण दिये जाते हैं—

संधिर्बीजोपगमन

१. सन्धि—बीज की उद्भावना को सन्धि कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली' में वसुभूति सागरिका को देखकर कह उठता है कि "यह लडकी तो ठीक राजकुमारी ही जैसी लग रही है।

वाभ्रव्य—मुझे भी तो ऐसी ही लग रही है।"

यहाँ पर नायिकारूपी बीज की उद्भावना होती है, अतएव यह सन्धि है। इसी प्रकार 'वेणीसहार' मे भी—'भीम—पाँचाल राजपुत्रि! क्या तुम्हे वह बात याद है जो मैंने तुमसे कही थी—

हे देवि, यह भीम अपनी चपल भुजाओं से घुमाए हुए अपनी भीषण गदा के प्रहार से सुयोधन के जघो को रौंदकर निकले हुए खूब गाढे रक्त से निश्चल हाथो का रगता हुआ तुम्हारे केशकलापो को सवारेगा।"

यहाँ पर सन्धि मे रखे हुए बीज की पुन उद्भावना करने से सन्धि है।

विबोधः कार्यमार्गणम्।

विबोध—कार्य-अन्वेषण को विबोध कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली' नाटिका मे—"वसुभूति—(विचारकर) महाराज! यह लडकी आपको कहाँ से प्राप्त हुई?

राजा—महारानी जानती हैं।

वासवदत्ता—आर्यपुत्र! अमात्य यौगधरायण ने बताया था कि यह लडकी सागर मे प्राप्त हुई है, और मुझे सौंपा था। इसीसे हम लोग इसे सागरिका कहकर पुकारते हैं।

राजा—(अपने-आप सोचता है) अमात्य यौगधरायण ने मुझसे बिना बताए ही इसे महारानी को सौंपा है, समझ मे नहीं आता क्या बात है? यहाँ पर रत्नावली द्वारा उपलक्षित कार्य के अन्वेषण से 'विबोध' है। इसी प्रकार 'वेणीसहार' मे भी भीम युधिष्ठिर से कहते

हैं—आर्य, क्षण-भर के लिए मुझे छोड़ दीजिए।

युधिष्ठिर—क्या अभी और कोई कार्य शेष रह गया है?

भीम—अजी, अभी तो बड़े महत्त्व का कार्य बाकी ही रह गया है। सुनिए—मैं दुःशासन के हाथों में खींचे गए द्रुपदराज-पुत्री के उन केशों को, जो अभी तक खुले पड़े हैं, उसी दुःशासन के रक्त से सने अपने हाथों द्वारा सँवारूँगा।

युधिष्ठिर—जाओ भाई, वह तपस्विनी केश सँवारने के सुख का अनुभव करे।

यहाँ केश को सँवारना रूपी जो कार्य है उसके अन्वेषण से विबोध है।

ग्रथनं तदुपक्षेपो

ग्रथन—कार्य के उपक्षेप (उपसहार) को ग्रथन कहते हैं।

जैसे, रत्नावली' में—"यौगन्धरायण—महाराज, आपसे बिना बताए ही मैंने जो ये सब कार्य कर डाला है, एतदर्थ क्षमाप्रार्थी हूँ।"

यहाँ पर वत्सराज का 'रत्नावली'-प्राप्ति रूप जो कार्य है उसके उपसहार होने से यहाँ ग्रथन है। इसी प्रकार 'वेणीसंहार' में भी—

"भीम—पाञ्चाली! तुम मेरे रहते दुःशासन के हाथो से खोली हुई अपनी वेणी को अपने-आप सँवारो, ऐसा नहीं हो सकता। रुको रुको, मैं स्वयं तुम्हारे केशकलाप को सँवारूँगा।

यहाँ पर द्रौपदी के केश-सवरण रूप कार्य के उपक्षेप के कारण ग्रथन है।

ऽनुभूताख्या तु निर्णयः ॥ ५१ ॥

निर्णय—अनुभूत बात के कथन को निर्णय कहते हैं ॥५१॥

जैसे, 'रत्नावली' में यौगन्धरायण का कथन—(हाथ जोड़कर) सिंहलेश्वर की इस कन्या (रत्नावली) के विषय में एक सिद्ध पुरुष ने बताया था कि जो इसका पाणिग्रहण करेगा वह चक्रवर्ती सम्राट् होगा। इस बात पर विश्वास कर मैंने इस कन्या को सिंहलेश्वर से माँगा। रानी वासवदत्ता के मन में दुःख होगा—इस कारण नरेश ने इसे नहीं

दिया। इसके बाद मैंने सिंहलेश्वर के पास बाभ्रव्य को भेजकर यह कहलाया कि रानी वासवदत्ता आखेट-शिविर मे आग लगने से जलकर मर गई ।" यहाँ पर यौगधरायण ने अपनी अनुभूत बातों को कहा है। अत निर्णय है। जैसे 'वेणीसहार' मे भी—"महाराज अजातशत्रु, अब आज दुर्योधन कहाँ रहा ? मैंने तो उस दुष्ट के शरीर को नष्ट कर पृथ्वी पर फेंककर उसके शरीर से निकलने वाले रक्त को शरीर मे लेप कर लिया है। उसकी राज्यश्री चारो समुद्रो की सीमा तक की पृथ्वी के साथ-साथ आपके यहाँ विश्राम कर रही है। उसके सेवक, मित्र, सैनिक, वीर, यहाँ तक कि सम्पूर्ण कुरवश, इस रण की ज्वाला में भस्म हो चुके है। राजन्, दुर्योधन का केवल नाम, जो आप इस समय कह रहे हैं, वस वह केवल उच्चारण भर के लिए बचा रह गया है।"

यहाँ पर भीम के द्वारा अपने अनुभूत अर्थ के कथन होने के कारण 'निर्णय' है।

परिभाषा मिथो जल्पः

परिभाषण—आपसी बातचीत को परिभाषण कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली' नाटिका मे— रत्नावली—(अपने-आप) मैंने महारानी का अपराध किया है अत सामने आन मे लज्जा लग रही है।

वासवदत्ता—(आँसुओ के साथ हाथ फैलाकर) 'अरी निष्ठुरे, अब भी तो बन्धु-स्नेह प्रदर्शित कर।' फिर राजा से कहती है—महाराज, मैंने जो इसके साथ क्रूरता का व्यवहार किया, अत लज्जा का अनुभव कर रही हूँ। अत आप ही कृपा करके इसे शीघ्र बन्धन से मुक्त करें।

राजा—'जैसी देवी की आज्ञा।' इसके बाद राजा रत्नावली का बन्धन खोलता है। वासवदत्ता रत्नावली की तरफ देखकर कहती है—'आर्य, यौगन्धरायण के द्वारा कुछ विदित न रहने के कारण मैंने ऐसा निन्दित कर्म किया।

इस प्रकार एक-दूसरे की बातचीत के कारण यहाँ परिभाषण है।

प्रसादः पर्युपासनम् ।

प्रसाद—प्रसन्न करने के प्रयत्न को प्रसाद कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली' नाटिका मे यौगन्धरायण की इस उक्ति से कि 'देव-क्षमा करें', दिखाया गया है। या फिर 'वेणी सहार' मे भीम द्रौपदी के पास जाकर कहते हैं—"शत्रुओ के नाश हो जाने से तू बडी भाग्य-शालिनी है।"

यहाँ पर भीम ने द्रौपदी को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया है, अतः 'प्रसाद' है।

आनन्दो वाञ्छितावाप्तिः

आनन्द—अभिलषित वस्तु की प्राप्ति को 'आनन्द' कहते हैं।

जैसे, 'रत्नावली' मे राजा "जैसी देवी की आज्ञा" ऐसा कहकर रत्नावली को ग्रहण करते हैं।

जैसे, 'वेणीसहार' मे द्रौपदी—"स्वामी, मैं यह सब व्यापार भूल गई हूँ। अब आपकी कृपा से इसे फिर सावूंगी।" इसके बाद भीम द्रौपदी के केश बाँधते है।

'रत्नावली' नाटिका मे वत्सराज को रत्नावली की प्राप्ति तथा 'वेणीसहार' मे द्रौपदी का भीम द्वारा केश सँवारा जाना अभिलषित की प्राप्ति है, अत 'आनन्द' है।

समयो दुःखनिर्गमः ॥ ५२ ॥

समय—दुःख के दूर हो जाने को 'समय' कहते हैं ॥५२॥

जैसे, 'रत्नावली' नाटिका मे वासवदत्ता रत्नावली का आलिगन कर कहती है—

"बहन प्रसन्न होओ, धीरज धरो, धीरज धरो।" यहाँ पर दोनों बहनों के समागम से दुःख के दूर हो जाने के कारण समय है। जैसे, 'वेणीसहार' मे—"भगवन्, जिस व्यक्ति की मगल कामना स्वय पुराण पुरुष भगवान् नारायण करते हैं, उसका विजय के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? हे देव, स्वीयपरिणाम-उत्पन्न, पृथिवी, जल, ते

वायु, आकाश आदि और महतत्त्वादिकों के क्षुब्ध होने से अर्थात् सृष्टि के अनुगुण-प्रवृत्ति से सम्भूत मूर्ति अर्थात् अवतार धारण करने वाले, गुणिन्—सत्त्व, रज, तम, इन तीन प्रकार की उपाधियों से विशिष्ट, ससार के चर और अचर प्राणियों के जन्म, पालन तथा सहार करने वाले, अजन्मा, अमर और ध्यान मे न आने वाले, आपका स्मरण करके ही इस ससार मे कोई दु खी नही रह सकता, फिर आपका दर्शन हो जाए तो कहना ही क्या है।"

यहाँ पर युधिष्ठिर के दु ख का दूर होना दिखाया गया है, अत. 'समय' है।

कृतिर्लब्धार्थशमनं

कृति—लब्ध (प्राप्त) प्रयोजन के द्वारा उत्पन्न शान्ति को अथवा लब्ध अर्थ के स्थिरीकरण को कृति कहते हैं।

प्रथम उदाहरण, जैसे 'रत्नावली' मे—राजा—देवि, आपके अनुग्रह प्राप्त कर कौन अपने को बडभागी नही मानेगा।

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, इसके (रत्नावली के) माता-पिता आदि घर वाले दूर हैं, सो आप ऐसा कार्य करें जिससे इसका चित्त बन्धु-बान्धवो का स्मरण कर दुःखी न रहा करे।

यहाँ पर वत्सराज को 'रत्नावली' रूप प्रयोजन के प्राप्त होने से शान्ति-सुख प्राप्त होता है, अत यह कृति है।

दूसरे का उदाहरण 'वेणी सहार' मे है—कृष्ण—"ये भगवान् व्यास और वाल्मीकि हैं।" यहाँ से आरम्भ करके 'अभिषेक' का आरम्भ किया जा रहा है।"

यहाँ प्राप्य राज्य का स्थिरीकरण होने से कृति है।

मानाद्याप्तिश्च भाषणम् ।

भाषण—प्रतिष्ठा, मान, दान आदि की प्राप्ति को भाषण कहते हैं।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका मे राजा यौगन्धरायण से कहते हैं—"अमात्य,

सत्यानाशी का अब अन्त हो तथा राजकुल का कल्याण हो।

युधिष्ठिर—देवि, आकाश में विचरण करने वाले सिद्ध लोगों द्वारा भी तुम्हारे केशकलाप के सँवारे जाने का अभिनन्दन हो रहा है।"

यहाँ पर अद्भुत वस्तु की प्राप्ति के कारण उपगूहन है, साथ ही लब्ध-प्रयोजन निमित्तक शान्ति के होने से कृति भी है।

वराप्तिः काव्यसंहारः

काव्यसंहार—श्रेष्ठ वस्तु की प्राप्ति को काव्यसंहार कहते हैं।

जैसे, नाटकों के अन्त मे प्राय यह वाक्य मिलता है—"और मैं आपका कौनसा उपकार करूँ?"

यहाँ पर काव्य के अर्थ के सहरण (उपसहार) होने से काव्य-सहार होता है।

प्रशस्तिः शुभशंसनम्।

प्रशस्ति—कल्याणप्रद वस्तु के कथन को प्रशस्ति कहते हैं।

जैसे, "यदि आप बहुत ही प्रसन्न हैं तो यह हो—

लोग अकृपण और रोगरहित दीर्घजीवी बनें, जनता सदेह छोड़-कर भगवद्भक्ति-परायण बने। राजा लोग समस्त प्रजाओं मे प्रेम रखते हुए और विद्वानों का पोषण करते हुए तथा गुणों की महत्ता पर विशेष ध्यान देते हुए सर्वदा समुज्ज्वल कार्य मे दत्तचित्त रहें।"

यहाँ पर कल्याणकारी बात के कथन होने से प्रशस्ति है। ये १४ निर्वहण सधि के अग हैं।

यहाँ तक ६४ अगों वाली पाँच सधियों को बताया गया। अब इन सन्धियों के प्रयोजन को बताते हैं।

उक्ताङ्गानां चतुःषष्टिः षोढा चैषां प्रयोजनम्॥ ५४॥

ऊपर बताई हुई ६४ सन्धियों के ६ प्रकार के प्रयोजन होते हैं:—

इष्टस्यार्थस्य रचना गोप्यगुप्तिः प्रकाशनम्।

रागः प्रयोगस्याश्चर्यं वृत्तान्तस्यानुपक्षयः॥ ५५॥

१. विवक्षित अर्थ की रचना, २. गोप्य (छिपाने योग्य) वस्तु

को गुप्त ही रखना, ३. जिस बात का कहना उचित है उसको प्रकाश मे लाना, ४. दर्शकों के अन्दर नाट्य के विषय में प्रीति पैदा करना, ५ चमत्कार पैदा करना, ६. कथा को विस्तृत करना ॥ ५४-५५ ॥

उपर्युक्त छ बातो के लिए रूपकों मे ६४ सन्ध्यङ्गों को लाना चाहिए। इसके बाद ग्रन्थकार फिर वस्तु का विभाग दूसरी दृष्टि से करते हैं —

द्वेधा विभागः कर्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुन ।
सूच्यमेव भवेत्किंचिद्दृश्यश्रव्यमथापरम् ॥ ५६ ॥

नाट्य मे आने वाली कथावस्तु को दो श्रेणियों मे बाँट देना चाहिए। उसमें एक विभाग ऐसा होना चाहिए जिसके द्वारा केवल सूचना-मात्र दी जाती हो तथा दूसरा ऐसा होना चाहिए जो सबके सुनने योग्य होने से दिखाया जा सके। इसमे पहले को 'सूच्य' तथा दूसरे को दृश्य कहते हैं ॥५६॥

नीरसोऽनुचितस्तत्र स सूच्यो वस्तुविस्तरः ।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तरः ॥ ५७ ॥

१. सूच्य—नाट्य मे आने वाली ऐसी कथावस्तु को, जो नीरस तथा अनुचित हो, उसकी केवल सूचना-मात्र दे देनी चाहिए।

२ दृश्य—ऐसी कथावस्तु को, जिसमे मधुर और उदात्त रस तथा भाव पूर्णतया (लबालब) भरे हों, दिखाना चाहिए ॥५७॥

अर्थोपक्षेपकैः सूच्यं पञ्चभिः प्रतिपादयेत् ।
विष्कम्भचूलिकाङ्कास्याङ्कावतारप्रवेशकैः ॥ ५८ ॥

सूच्य कथावस्तु की सूचना, अर्थ की सूचना देने वाले विष्कम्भक, चूलिका, अङ्कावतार, अङ्कास्य, प्रवेशक इनके द्वारा देनी चाहिए ॥५८॥

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः ॥ ५९ ॥

१. विष्कम्भक—जो कथा पहले हो चुकी हो, अथवा जो आगे

होने वाली हो, उसकी सूचना संक्षेप मे मध्यपात्र के द्वारा दी जाती है, उसे विष्कम्भक कहते हैं ॥५६॥

यह दो प्रकार का होता है—शुद्ध और संकीर्ण ।

एकानेककृत. शुद्धः संकीर्णो नीचमध्यमैः ।

शुद्ध विष्कम्भक—जब एक या दो मध्यम पात्रों के द्वारा सूचना दी जाती है तो शुद्ध विष्कम्भक होता है ।

सकीर्ण विष्कम्भक—जब मध्यम या अधम पात्रो द्वारा सूचना दी जाती है तो सकीर्ण विष्कम्भक होता है ।

तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ॥ ६० ॥

प्रवेशोऽङ्कद्वयस्यान्त' शेषार्थस्योपसूचकः ।

प्रवेशक—इसमे बीती हुई तथा आगे आने वाली बातो की सूचना दी जाती है । पर इसमे सूचक नीच पात्र ही रहते हैं । इसकी भाषा प्राकृत होती है । यह दो अकों के बीच मे आता है इसमे छूटी हुई बातों की सूचना दी जाती है ॥६०॥

अन्तर्जयनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना ॥ ६१ ॥

३ चूलिका—नेपथ्य के पात्र के द्वारा अर्थ की सूचना देने को चूलिका कहते हैं ॥६१॥

जैसे, 'उत्तररामचरित' के द्वितीय अक के आदि मे—नेपथ्य मे—'तपोधना का स्वागत है । इसके बाद तपोधना आत्रेयी प्रवेश करती हैं । इस प्रकार यहाँ नेपथ्य पात्र के द्वारा वनदेवता वासन्ती को आत्रेयी के आगमन के विषय मे सूचना दी गई है, अत यहाँ चूलिका है और जैसे महावीर चरित के चतुर्थ अक के आदि मे (नेपथ्य मे)—

वायुयान से भ्रमण करने वाले सज्जनो ! मगल मनावे, मगल मनावें—कृशाश्वमुनि के शिष्य विश्वामित्र, जिनका प्रताप सूर्यवंश मे आज भी विराज रहा है, उनकी जय हो ! और साथ ही क्षत्रियो के वैरी परशुरामजी पर विजय प्राप्त करने वाले रामचन्द्र, जो ससार को अभय प्रदान करने का व्रत धारण करते हैं और जो तीनो लोको की

रक्षा करने वाले तथा सूर्यकुल के लिए चन्द्रमा के समान हैं, उनकी जय हो।"

यहाँ पर नेपथ्य में देवों द्वारा 'परशुराम पर राम ने विजय प्राप्त कर ली', इस बात की सूचना दी गई है, अतः यहाँ चूलिका है।

अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात् ।

अङ्कास्य—अंक के अन्त में आने वाले पात्र के द्वारा अगले अंक के प्रारम्भ में आने वाले पात्रों आदि की सूचना देने को अंकास्य कहते हैं।

जैसे 'महावीर चरित' के द्वितीय अंक के अन्त में प्रविष्ट होकर सुमन्त्र कहते हैं—"आप लोगों को परशुराम के साथ-साथ वशिष्ठ और विश्वामित्र बुला रहे हैं।

अन्य लोग—भगवान् वशिष्ठ और विश्वामित्र कहाँ हैं?

सुमन्त्र—महाराज दशरथ के पास में विद्यमान हैं।

अन्य लोग—तो फिर उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर हम लोग आ रहे हैं।"

इस प्रकार द्वितीय अंक की समाप्ति हो जाती है उसके बाद तीसरे अंक के प्रारम्भ में वशिष्ठ, परशुराम और विश्वामित्र आसीन दिखाई देते हैं।

अङ्कावतार—एक अंक की कथा दूसरे अंक में बराबर चलती रहे तो उसे अङ्कावतार कहते हैं। पर इस कथा में प्रवेशक और विष्कम्भक का स्थान नहीं रहता, अर्थात् यह कथा प्रवेशक-विष्कम्भक-विहीन होती है।

का प्रयोग नही किया जाता।

मालविकाग्निमित्र' नाटक के प्रथम अंक म विदूषक कहता है—'तो आप दोना दवी के प्रेक्षागृह म जाकर सगीत का साज सजाएं और सब ठीक हो जाने के बाद सूचित करें। अथवा मृदग का शब्द ही इन्हे उठा देगा।' इस प्रकार के उपक्रम के चलते रहने पर मृदग के शब्द के सुनने के अनन्तर सभी प्रथम अक के पात्र द्वितीय अक क आरम्भ मे प्रथम अक की कथा को त्रुटित किए बिना ही द्वितीय अक के आरम्भ मे उतर पडते है। इसी को अङ्कावतार कहत हैं।

नाट्यधर्ममपेक्ष्यैतत्पुनर्वस्तु त्रिधेष्यते ॥ ६३ ॥

नाट्य धर्म की दृष्टि से ग्रन्थकार फिर वस्तु को तीन श्रेणियो मे विभक्त करते हैं ॥६३॥

य तीना भेद कैसे होते है इस बात को नीचे बताया जाता है—

सर्वेषा नियतस्यैव श्राव्यमश्राव्यमेव च ।

सर्वश्राव्य प्रकाश स्यादश्राव्य स्वगत मतम् ॥ ६४ ॥

नाट्य मे कुछ अश ऐसा होता है जिसको सब कोई सुन सकता है, पर कुछ अश ऐसा भी होता है जो किसी किसी को या सबको सुनाने के योग्य नहीं होता। इसमे प्रथम को प्रकाश तथा दूसरे को स्वगत कहते हैं ॥६४॥

द्विधान्यन्नाट्यधर्माख्य जनान्तमपवारितम् ।

इसके अलावा एक नियतश्राव्य होता है। ऐसा नाटकीय अश, जो किसी विशिष्ट व्यक्ति के ही सुनने के लिए व्यवहृत होता है, नियत श्राव्य कहलाता है। इसके दो भेद होते हैं—१ जनान्तिक और २ अपवारित।

त्रिपताकाकरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ॥ ६५ ॥

अन्योन्यामन्त्रण यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम् ।

जनान्तिक—अनामिका को छोड़कर बाकी तीन अंगुलियों की ओट करके

दो आदमियों की गुप्त बातचीत को जनान्तिक कहते हैं ॥६५॥

रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्त्यापवारितम् ॥ ६६ ॥

अपवारित—पास विद्यमान पात्र की ओर से मुँह फेरकर उसमे छिपाकर उसके किसी रहस्य की बात पर कटाक्ष करने को अपवारित कहते हैं ॥६६॥

नाट्यधर्म की चर्चा छिड गई है, अत. इसी सिलसिले मे आकाश-भाषित को बताते हैं—

किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत् ।

श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥ ६७ ॥

आकाशभाषित—ऊपर देखता हुआ अकेला ही कोई पात्र बिना किसी दूसरे के कहे-सुने ही सुनने का नाट्य करता हुआ जब स्वय प्रश्नो को दुहराता है या स्वय उसका उत्तर देता है, उसे आकाशभाषित कहते हैं। बिना किसी के कुछ बोले ही क्या कह रहे हो ? इस प्रकार से प्रश्नो को करके उसका उत्तर भी कुछ मन से बनाकर फिर कुछ बोलता है। इस प्रकार का क्रम इसमे जारी रहता है, इसी को आकाशभाषित कहते हैं ॥६७॥

कुछ लोगो ने ऊपर बताए हुए नाट्य-धर्मों के साथ-साथ कुछ और भी नाट्य-धर्मों को बताया है, पर वे हमारी दृष्टि मे नाट्य-धर्म के भीतर नहीं आ सकते क्योंकि एक तो वे अभारतीय हैं, (भरत मुनि के कहे हुए नहीं हैं) इनकी केवल नामावली मे ही प्रसिद्धि है। दूसरे उनमे से अधिकांश देश भाषा मे प्रयुक्त होते हैं। अत इनको नाट्य का धर्म न मानना ही उचित समझकर इनके लक्षण आदि का प्रदर्शन नहीं किया गया है।

इत्याद्यशेषमिह वस्तुविभेद जातं

रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथां च ।

आसूत्रयेत्तदनु नेतृरसानुगुण्या-

च्चित्रां कथामुचितचारुवचः प्रपञ्चैः ॥ ६८ ॥

रामायण और बृहद् कथा के देखने और उनके ऊपर सूक्ष्म विचार करने से वस्तु के अनगिनत भेद दिखाई देते हैं, अतः नाट्य-प्रणेता के लिए यह उचित है कि वह उन वस्तुओं को नेता और रस के अनुकूल सुन्दर वचन रचना-चातुरी से सजाकर विचित्र-विचित्र कथाओं का प्रणयन करे ॥६८॥

धनंजयकृत दशरूपक का प्रथम प्रकाश समाप्त।

वस्तु वर्णनीय विषय को कहते हैं, उसके अनेक भेद होते हैं। (वह बात पहले बताई जा चुकी है) बृहद् कथा की चर्चा कारिका में आई है वह गुणाढ्य द्वारा निर्मित है। नाट्य-प्रणेताओं को उस बृहद् कथा और रामायण आदि का सम्यक् रूप से अध्ययन करके तब लेखनी का व्यापार करना चाहिए। नेता और रस के बारे में आगे के प्रकरणों में बताया जाएगा। उसका भी समुचित ज्ञान नाटककार के लिए आवश्यक है। कथा का अर्थ आख्यायिका समझना चाहिए। ये आख्यायिकाएँ सुन्दरता और विचित्रता से भरी होनी चाहिएँ। उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर सुन्दर-सुन्दर वचन रचना-चातुरी के द्वारा कथा को विस्तार के साथ वर्णन करना चाहिए। जैसे 'मुद्राराक्षस' नाटक की मूलकथा अति अल्प रही, पर कवि ने अपनी वचन रचना-चातुरी के द्वारा कथा का इतना विस्तार दिया। बृहद् कथा में मुद्राराक्षस की मूलकथा केवल इतनी ही रही—"चाणक्य नामक ब्राह्मण ने शकटाल के घर में कुछ गुप्त क्रियाओं का सम्पादन कर राजा को उसके पुत्रों के साथ मार डाला और इसके बाद जब योगानंद का केवल नाम मात्र ही शेष रह गया, उस समय नंद के पहले लड़के चन्द्रगुप्त को उस महापराक्रमशाली चाणक्य ने राजा बनाया।" इस प्रकार मुद्राराक्षस की कथा बृहद् कथा में केवल सूचित-भर कर दी गई थी और इसी सूचनामात्र कथा के आधार पर 'मुद्राराक्षस' नाटक की रचना हुई। इसी प्रकार रामायण में कथित राम-कथा को भी जानना चाहिए।

विष्णुपुत्र धनिककृत 'दशरूपावलोक' व्याख्या का प्रथम प्रकाश समाप्त।

द्वितीय प्रकाश

रूपकों का आपस में एक-दूसरे से क्या भेद है, इसकी जानकारी के लिए वस्तु के भेदों का प्रतिपादन करके अब नायक के भेद बतलाते हैं :—

> नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः ।
> रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ॥१॥
> बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः ।
> शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ॥२॥

नेता; विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियंवद, रक्तलोक शुचि, वाग्मी, रूढवंश, स्थिर, युवा, बुद्धिमान्, प्रज्ञावान्, स्मृति-सम्पन्न, उत्साही, कलावान्, शास्त्रचक्षु, आत्म-सम्मानी, शूर, दृढ, तेजस्वी और धार्मिक होना चाहिए ।१-२॥

१. नेता अर्थात् नायक विनयादि गुणों से सम्पन्न होता है। इसमें विनीत को बतलाते हैं। जैसे 'वीरचरित' नाटक में—

धनुष के टूटने से प्रकुपित परशुराम के प्रति रामचन्द्र कह रहे हैं—"हे देव, ब्रह्मज्ञानियों के द्वारा जिनके पूज्य चरणों की उपासना की जाती है, ऐसे आप, विद्या और तपस्यारूपी अनुष्ठानों में समुद्र तथा तपस्वियों में श्रेष्ठ हैं। मैंने यदि अज्ञानतावश दैवात् आपका कोई अपराध भी कर दिया हो तो क्षमा प्रदान करें। हे नाथ, प्रसन्न होइए, अपने द्वारा किये गए अपराधों के प्रति क्षमायाचना के लिए मैं करबद्ध प्रार्थी हूँ।"

२. देखने में जो प्रिय लगे उसको मधुर कहते हैं। जैसे यहीं पर—परशुराम रामचन्द्र से कह रहे हैं—'हे राम, [illegible] शरीर के

अनुकूल ही नेत्रो की मनोहरता को धारण करने वाले तथा तर्क और कल्पना मे भी न आ सकने वाले श्रेष्ठ रमणीय गुणो से सुशोभित तुम सब प्रकार से मेरे अन्त करण मे विद्यमान हो।"

३ अपने सर्वस्व का दान देने वाले को त्यागी कहते है। जैसे—

"कर्ण ने अपनी त्वचा को, शिवि ने अपने मास को, जीमूतवाहन ने अपने प्राण को, तथा दधीचि ने अपनी अस्थियो को परोपकारार्थ दे दिया है। बात ठीक ही है, महान् पुरुषो के लिए कोई भी वस्तु अदेय नही होती।

४ शीघ्रता के साथ कार्य करने वाले को दक्ष कहते हैं। जैसे 'महावीर चरित' मे—

"जैसे हाथी का बच्चा अपनी सूँड से पत्थर के टुकडो को अनायास ही (बिना परिश्रम के) शीघ्रता के साथ फेंक दे, उसी प्रकार वत्स राम ने देवताओ के तेज से बढे हुए, शिवजी के धनुप को बिना परिश्रम के ही झट से उठा लिया, उठाने के साथ ही धनुप की प्रत्यचा जोर की आवाज करती हुई चढ गई और वह धनुप टूट गया। धनुप की प्रत्यचा के चढने और धनुप के टूटने मे इतनी शीघ्रता हुई कि लोगो ने और कुछ न देखकर केवल राम के सामने हजारो वज्र के गिरने के समान भयकर शब्द निकल रहा है, इतना मात्र ही देखा।"

६ प्रिय बोलने वाले को प्रियवद कहते है। जैसे वही पर अर्थात् उसी नाटक मे—

रामचन्द्र परशुराम से कह रहे है—"हे सत्य, ब्रह्मज्ञान और तपस्या के निधि, भगवन्! आपके अन्दर कौनसी ऐसी बात है जो लोकोत्तर न हो? अर्थात् आपकी प्रत्येक बात ही लोकोत्तर है। देखिए, आपका जन्म महर्षि जमदग्नि से हुआ, आपके गुरु प्रसिद्ध धनुर्धारी भगवान् शकर ठहरे, और आपमे जितना पराक्रम है वह वाणी का विषय नही हो सकता, अर्थात् आपमे इतने अधिक और लोकोत्तर पराक्रम विद्यमान है जिनके वर्णन करने मे कोई समर्थ नही हो सकता। इस

प्रकार का अलौकिक पराक्रम निश्चय ही आपके कार्यों से व्यक्त है। आपके त्याग के बारे में क्या कहना, आपने सातों समुद्रों से घिरी हुई पृथ्वी को बिना किसी हिचक के ब्राह्मणों को दान दे दिया।"

७ रक्तलोक—(अर्थात् सबका प्रिय होना) जैसे वहीं पर—

अयोध्या की प्रजाएं महाराज दशरथ से कह रही हैं—'हे महाराज, वेदत्रयी के रक्षा करने वाले आपके पुत्र जो रामचन्द्र हैं वे आपकी कृपा से राजगद्दी पर सुशोभित हो गए, उनके ऐसे राजा को पाकर हम लोगों की सारी अभिलाषाएँ और मनोरथ पूरे हो गए, अत हम लोग आनंद के साथ विचर रहे हैं।"

इसी प्रकार शुचि आदि का भी उदाहरण दिया जा सकता है।

८. शुचि (शौच)—मानसिक पवित्रता से काम आदि दोषों को दबा देने का नाम शौच (शुचि) है। जैसे 'रघुवश' महाकाव्य मे—

'हे शुभे, तुम कौन हो तथा किसकी प्रेयसी हो ? और इस अर्धरात्रि के समय एकान्त मे मेरे पास किस मनोरथ से आई हुई हो ? पर हाँ, मेरे प्रश्नों का उत्तर इस बात पर ध्यान रखकर देना कि रघुवशियों का मन पराई स्त्री से विमुख रहने वाले स्वभाव का होता है।"

९ वाग्मी—झट से युक्तियुक्त बात करने वाले को वाग्मी कहते हैं।

'सूर्य वंश के क्षत्रिय कुल में संतान रूपी मल्ली (बेला का फूल) पुष्प की न मुरझाई हुई माला के समान जो आपने राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, इन चार पुत्रों को पैदा किया है, उनमें प्रथम, ताड़कारूपी काल-रात्रि के लिए प्रभात के समान, तथा सुचरित कथा रूपी कदली के मूलकंद के समान जो ये राम हैं, - ये अपने गुणों से सबसे बढ़कर हैं और इनके गुणों की कोई सीमा नहीं है।"

११ स्थिर—वाणी, मन और क्रिया आदि से जो अचचल हो उसे स्थिर कहते हैं। जैसे 'महावीरचरित' नाटक में परशुराम द्वारा दिये गए धनुष को चढ़ाकर रामचन्द्र कहते हैं—'हे मुनि, गुरुजन के अनादर के कारण मुझे भले ही प्रायश्चित्त करना पड़े, इसकी मुझे कोई चिन्ता नहीं, पर इस प्रकार से अर्थात् आप पर दया करके धनुष का चढ़ाना निष्फल कर दूँ और शस्त्र ग्रहणरूपी महाव्रत को दूषित कर दूँ ऐसा मुझसे कदापि नहीं हो सकता।" अथवा जैसे 'भर्तृहरि शतक' में—"कवि कहता है कि इस संसार में तीन ही प्रकार के पुरुष पाए जाते हैं—(१) नीच, (२) मध्यम और (३) उत्तम। इसमें नीच या अधम पुरुष का यही लक्षण है कि वह विघ्नों के भय से किसी काम को शुरू ही नहीं करता। मध्यम पुरुष कार्यों को आरम्भ तो अवश्य करता है, पर विघ्नों के आ जाने पर अपने कार्य को बीच में ही छोड़कर बैठ जाता है, पर उत्तम पुरुष की यह विशेषता होती है कि वह विघ्नों के बार-बार प्रहार के बावजूद भी जब तक कार्य पूर्णरूपेण समाप्त नहीं हो जाता तब तक करता रहता है।"

१२ युवा—युवा अवस्था तो प्रसिद्ध ही है। बुद्धि ज्ञान को कहते हैं। वही बुद्धि विशेष रूप से ग्रहण की जाने पर प्रज्ञा कहलाती है। जैसे 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में—

"मैं जो-जो भाव उसे सिखलाता हूँ उन्हें जब वह और सुन्दरता के साथ करके दिखाने लगती है तो ऐसा जान पड़ता है मानो वह उलटे मुझे ही सिखला रही है।" और सब तो स्पष्ट ही है।

नेता के साधारण गुणों में अवतक पुरुष के बाद अब उनके विशेष

गुणों को बतलाया जा रहा है— '

विशेष गुणों की दृष्टि से नेता के चार भेद होते हैं : १. धीरललित, २. धीरशान्त, ३. धीरोदात्त, ४. धीरोद्धत ।

जिस क्रम से ये ऊपर के चारों भेद बताये गए हैं उसी क्रम से इनके लक्षण और उदाहरण भी दिए जाते हैं—

धीरललित

भेदैश्चतुर्धा ललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम् ।
निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः ॥३॥

धीरललित नायक निश्चिन्त होता है, कलाओं में उसकी आसक्ति रहती है। वह सुखी तथा मृदु स्वभाव का होता है ॥३॥

धीरललित नायक राज्य का सारा भार अपने योग्य मन्त्रियों को सौंपकर चिन्तारहित रहता है। किसी प्रकार की चिन्ता आदि के न रहने से गीत आदि कलाओं तथा भोगविलास में उसकी प्रवृत्ति हो जाती है। उसमें शृंगार की प्रधानता रहती है। वह कोमल स्वभाव तथा उत्तम पराक्रम वाला होता है, इसी से उसे मृदु अर्थात् मधुर स्वभाववाला कहते हैं। जैसे, *'रत्नावली'* नाटिका में महाराज उदयन अपने प्रिय मित्र विदूषक से प्रसन्नता के साथ कह रहे हैं—

धीरशान्त

सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः ।

धीरशान्त नायक सामान्य गुणों से युक्त होता है। इसके पात्र द्विज आदि (ब्राह्मण, मन्त्री वैश्य) होते हैं।

नेता के विनीत आदि जो साधारण गुण हैं उससे युक्त होते हुए धीरशान्त द्विजादिक (ब्राह्मण, मन्त्री, वणिक्) ही होते है, यह जो बात बताई गई है इससे ग्रन्थकार को धीरशान्त नायक रूप मे प्रकरण का ही नायक विवक्षित है ऐसा प्रतीत होता है। इसी से ब्राह्मण आदि मे धीरललित नायक की निश्चिन्तता आदि गुणो के रहने की सम्भावना रहते हुए भी उसको धीरशान्त ही माना जाता है, धीरललित नही। जैसे मालतीमाधव और मृच्छकटिक आदि प्रकरणो मे माधव और चारुदत्त आदि धीरशान्त ही माने जाते हैं। मालतीमाधव प्रकरण मे कामन्दकी मालती से माधव का परिचय देती हुई कहती है—

"जैसे सुन्दर गुण से युक्त देदीप्यमान किरणो तथा कलाओ वाला और नेत्रधारियो के आनन्द को बढाने वाला चन्द्रमा उदयगिरि पर्वत से उदय लेता है, ठीक उसी प्रकार ऊपर कहे हुए गुणो वाला यह माधव भी अपने श्रेष्ठ कुल से उत्पन्न हुआ है।"[1]

अथवा जैसे 'मृच्छकटिक' नाटक मे वध्य स्थान मे चाण्डालो द्वारा ले जाए जाते हुए चारुदत्त का दुःखी होकर यह कथन—

'अनेक यज्ञो से पवित्र मेरा कुल जो पहले यज्ञ-प्रभृति सभाओ मे

---

१. सत्यनारायण कविरत्न का पद्यानुवाद—

प्रगटित गुन द्युति सुन्दर महान,
अति मञ्जु मनोहर कलावान।
उदयो इक यह जगदृग अनन्द,
तिहि उदयाचल सों बालचन्द ॥

[मालतीमाधव २·१०]

पुन गिनाए जाने का भाव यही है कि इन गुणों की अधिकता विशेष भेदों में आवश्यक है।

शास्त्रार्थ

पूर्वपक्ष—नागानंद के नायक जीमूतवाहन को धीरोदात्त नायक क्यों माना जाता है ? औदात्य का अर्थ सर्वोत्कृष्टत्व होता है जोकि विजय की इच्छा रखने वाले विजेता में ही पैदा होता है और रहता है। नागानंद में कवि ने जीमूतवाहन को विजय की इच्छा से पराङ्मुख वृत्ति वाले कायर की तरह चित्रित किया है। अत जीमूतवाहन को धीरोदात्त नायक मानना ठीक नहीं है, जैसे, जीमूतवाहन सोच रहे हैं—

पिताजी के सामने जमीन पर खड़े रहने में जो आनंद आता है वैसा आनंद भला कहीं सिंहासन पर आरूढ़ होने पर मिल सकता है ? [अर्थात् कभी नहीं मिल सकता], पिताजी की शुश्रूषा करते समय उनके चरणों को दबाने में जिस आनंद की प्राप्ति होती है वह भला राज्य से कहीं मिल सकती है ? उनके जूठन खाने में जो संतोष मिलता है उसके सामने तीनों लोकों का भोग किस गणना में ? अत पिताजी से व्यक्त इस राज्य का संचालन केवल आयास मात्र ही है। और भी—"पिताजी की सेवा करने के लिए मैं अपने वंश-परम्परागत राज्य को छोड़कर अभी वन जा रहा हूँ।" इत्यादि बातों से जीमूतवाहन धीरोदात्त नहीं अपितु धीरशांत नायक ठहरते हैं, क्योंकि उनके अन्दर परम कारुणिकता और शम की प्रधानता दीख पड़ती है।

इस नाटिका के रचयिता ने जीमूतवाहन को धीरशांत नायक चित्रित करते हुए एक बहुत बड़ा दोष ला दिया है, वह यह है कि उस प्रकार के राज्य-सुख आदि की अभिलाषा न रखने वाले शांत-प्रकृति नायक के साथ बीच-बीच में मलयवती का मादकता से भरा हुआ अनुराग चित्रण प्रस्तुत करना। नाटिका में इस प्रकार के धीरशांत नायक के साथ मलयवती के अनुराग का वर्णन अनुचित है।

लग जाने के कारण विश्व का अतिक्रमण कर जाते है, अत वे सर्वोत्कृष्ट उदात्त गुण वाले है।

"तिष्ठन् भाति पितु पुरो भुवि यथा ''' पिताजी के सामने जमीन पर खडे रहने म जो आनद आता है वह सिंहासन पर आसीन रहने म कहाँ ?" इत्यादि उदाहरण मे विषयपराङमुखता देख जीमूतवाहन पर जो कायरता का आरोप किया जाता है सो ठीक नही है, क्योंकि कृपणता और कायरता का कारण जो सुख की प्राप्ति रूप तृष्णा है उससे तटस्थ रहना उसकी इच्छा न रखना ही असली विजिगीषुता की पहचान है।

विजता (विजिगीषु) कैसे हुआ करते है और उनका कार्य किस प्रकार का हुआ करता है, इसके बारे मे बताया भी गया है—

'विजिगीषु पुरुष अपनी सुख की अभिलाषा न रखते हुए दूसरे के उपकार के लिए ही कष्ट सहते रहते हैं। [अथवा यो कह सकते है कि उनकी प्रतिदिन की दिनचर्या ही इस प्रकार की रहती है।] वृक्ष अपने सिर पर सूर्य के तीव्र सताप को सहते हुए भी सूर्य-किरणो से सतप्त अन्य जन के परिताप को जो उसकी छाया का आश्रयण करते हैं, निश्चय ही शात करता रहता है।" इत्यादि उदाहरणो से विजिगीषुता किसे कहते हैं यह बात साफ हो जाती है।

शात विरोधी रस का आश्रय करके रहनेवाला मलयवती का अनुराग, नायक मे शातता का अभाव ही बतलाता है। शात का अर्थ होता है अहकार का न रहना, जो कि ब्राह्मण आदि के ही अन्दर पाया जाता है। लक्षण मे भूठमूठ की अवास्तविक बातें नही है बल्कि ब्राह्मण स्वभाव से ही अहकाररहित होता है ऐसी वस्तुस्थिति है। बुद्ध और जीमूतवाहन म एक ही ऐसी कारणिकता के रहते हुए भी सकाम और निष्काम होने से आपस मे भेद है। अत जीमूतवाहन को धीरोदात्त नायक मानना ही सर्वथा उचित है।

प्रश्न—क्या नायक मे अवस्थान्तर का लाना उचित है ?

उत्तर—प्रधान नायक को छोडकर उसके अङ्गभूत नायक तथा प्रतिनायको मे एक अवस्था के बाद दूसरी अवस्था का होना अनुचित नही है। क्योकि अगभूत नायको मे प्रधान नायक की तरह महापराक्रम आदि की कोई खास व्यवस्था नही है।

किसी एक प्रबन्ध मे प्रधान नायक राम आदि मे पूर्व-कथित चार अवस्थाओ मे से किसी एक को लेकर कुछ दूर चलाने के बाद दूसरी अवस्था का ग्रहण अनुचित है। ग्रन्थकारो ने इस प्रकार का अनुचित निंदनीय कर्म किया है। उदाहरणार्थ राम को धीरोदात्त नायक के रूप मे ग्रहण करके भी बालि का छिपकर वध कराके उन्हे धीरोद्धत नायक के पद पर भी प्रतिष्ठित किया गया है। छिपकर वध करने से महापराक्रम का अभाव व्यक्त हो जाता है और मात्सर्य की प्रधानता आ जाती है जोकि धीरोद्धत नायक का प्रधान गुण हुआ करता है।

आगे शृगारिक चेष्टाओ को ध्यान मे रखकर नायक की दक्षिण, आदि चार अवस्थाएँ वर्णित हैं। इनमे एक के बाद दूसरी का आना अनुचित नही माना जाता क्योकि ये अवस्थाएं प्राय सापेक्ष रहती हैं। उदाहरणार्थ पत्नी नायिका की अपेक्षा दूसरी नायिका मे नायक के चित्त के खिच जाने से एक अवस्था का दूसरी के प्रति सापेक्ष होने से जिस अवस्था को ग्रहण किया गया उसको छोड भी दिया जाए तो कोई हर्ज नही है, क्योकि वे आपस मे अगागि भाव सम्बन्ध रहने से एक-दूसरे की विरोधी नही हो सकती, अत इनमे कोई विरोध नही है।

स दक्षिणः शठो धृष्टः पूर्वां प्रत्यन्यया हृतः ॥६॥

पहली नायिका के रहते दूसरी नायिका के प्रति नायक के चित्त के खिच जाने से उसकी दक्षिण, शठ, धृष्ट, ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। इस प्रकार इन तीन अवस्थाओं और आगे बताए जाने वाली एक अवस्था भेद को लेकर कुल संख्या चार हो जाती है ॥६॥

नायक की पहले चार धीरललित, धीरशान्त, धीरोदात्त, धीरोद्धत,

ये चार अवस्थाएँ बताई गई हैं। इनमे से प्रत्येक दक्षिण, शठ, धृष्ट और अनुकूल इन भेदो से चार-चार प्रकार की होती हैं। इस प्रकार से नायकों की कुल संख्या १६ होती है।

दक्षिणोऽस्यां सहृदयः

दक्षिणनायक—जो पहली अर्थात् जेठी नायिका में हृदय के साथ व्यवहार करे उसे दक्षिण कहते हैं।

जैसे मेरा ही पद्य—(कोई नायिका अपनी सखी से कहती है कि) हे सखि, "एक मेरा परिचित व्यक्ति है। वह प्राय बडे विश्वास के साथ मुझसे कहता है कि मेरे प्रियतम का प्रेम किसी दूसरी नायिका मे आबद्ध हो गया है। पर उसकी बातों पर मुझे विश्वास नही होता क्योंकि मैं देखती हूँ कि जब वह (मेरा पति) मुझे देखता है तो प्रसन्न हो जाता है। उसका मेरे प्रति प्रेम भी बढता ही हुआ तथा प्रतिदिन की रतिक्रीडा मे अपूर्व ही विनय के साथ मिला हुआ दीख पडता है। इन सब बातो से उसके विषय मे सन्देह करने की कोई बात ही नही दीख पडती है।" अथवा जैसे दूसरा यह पद्य—(कोई नायिका अपनी सखी से कहती है कि) "हे सखि, उचित तो मेरे लिए यही है कि मैं अपने प्रियतम से स्नेह का नाता तोड लूँ क्योंकि उसकी ऐसी अनेक हरकतें देख चुकी। यद्यपि रँगीले जी अपनी प्यारी प्रियतमा (अपने ही को कहती है) के सेवा-सत्कार मे कोई कसर नही उठा रखते हैं बल्कि पहले से (दूसरी नायिका के प्रेम-सूत्र मे बँधने के पहले से) भी अधिक चाटुकारिता करते है, पर तारीफ यह है कि वह केवल ऊपर से दिखलावा-मात्र ही रहता है।"

गूढविप्रियकृच्छठः।

शठनायक—छिपे ढग से जो दूसरी नायिका से प्रेम-व्यवहार चलाता है उसे शठ कहते हैं।

जैसे—(शठ) नायक जब अपनी पूर्वा नायिका के साथ प्रेम-व्यापार मे प्रवृत्त था इतने ही म उसके कान मे (अन्य नायिका की) करधनी की

मणियों की झनझनाहट पड़ी, फिर क्या था—गाढालिंगन में प्रवृत्त उसकी भुजाओं का बन्धन ढीला हो गया। भुज-ग्रन्थि के शिथिल हो जाने से नायिका ताड़ गई कि हजरत दूसरे में आसक्त हैं, अतः कुपित हो बैठी। अब नायक का माथा ठनका और वे उसकी सखी के पास मनाने के लिए प्रार्थना करने लग गए। उनकी बातों को सुन सखी बोली—देखने में घी-मधु की तरह तथा परिणाम में विष का काम देने वाली चाटुकारितायुक्त बातों से क्या लाभ? तुम्हारे इस प्रकार के विषैले वचनों से मेरी सखी के सिर में चक्कर आने लगा है, अब तेरी इन बातों में किसी को तनिक भी विश्वास नहीं है।

व्यक्ताङ्गवैकृतो धृष्टो

धृष्टनायक—जिस नायक के शरीर में विकार[1] स्पष्ट लक्षित होता है उसे धृष्ट कहते हैं। जैसे 'अमरुशतक' में—कोई नायक रात-भर पर-नायिका से रमण करने के बाद प्रातःकाल जब अपनी पहली नायिका के पास आया तो उस हरिणाक्षी ने नायक के ललाट में महावर, गले में विजायठ के चिह्न, मुख पर काजल की कालिमा, नेत्रों में ताम्बूल की ललाई आदि चिह्नों को देख क्रोध से उत्पन्न उच्छ्वासों को अपने हाथों के लीलाकमल के भीतर समाप्त कर दिया।"

अब इन तीन भेदों को बताकर चौथा भेद बताते हैं—

अनुकूलस्त्वेकनायिकः ॥७॥

अनुकूल नायक—केवल एक ही नायिका में जो आसक्त रहे उसे अनुकूल कहते हैं। जैसे 'उत्तररामचरित' में राम की उक्ति—'जो सुख और दुःख में एक रूप है और सभी अवस्थाओं में अनुगत है, जिसमें हृदय का विश्राम है, जिससे प्रीति बुढ़ापे से भी नहीं हटती, जो कि विवाह से लेकर मरण-पर्यन्त, परिपक्व और उत्कृष्ट प्रेम में अवस्थित रहता है, दाम्पत्य का वह कल्याणमय प्रेम कोई पुण्य से पाया जाता है ॥७॥

१ विकार—अन्य नायिका के साथ किए सम्भोग आदि के चिह्न।

प्रश्न—'रत्नावली' आदि नाटिकाओं में वर्णित वत्सराज आदि किस अवस्था के नायक हैं ?

उत्तर—पहले केवल एक ही नायिका के रहने से अनुकूल और बाद में दूसरी नायिका के आ जाने से दक्षिण अवस्था के हैं ।

प्रश्न—पहली नायिका वासवदत्ता से छिपकर अन्य नायिका रत्नावली के साथ वत्सराज का प्रेम-व्यापार चलता है, अतः शठ तथा रत्नावली के प्रेम को जब वासवदत्ता स्पष्ट देख लेती है तो धृष्ट, नायक को इन दोनों अवस्थाओं में युक्त क्यों न माना जाए ?

उत्तर—प्रबन्ध की समाप्ति-पर्यन्त विप्रकारित्व के रहते हुए भी वत्सराज आदि का पहली नायिका वासवदत्ता आदि के साथ सहृदयता के साथ व्यवहार होता है, अतः वे दक्षिण हैं ।

प्रश्न—दक्षिण की दी हुई परिभाषा के अनुसार तो किसी का दक्षिण होना असम्भवप्राय है, क्योंकि दी हुई परिभाषा के अनुसार नई नायिका के प्रेम में आसक्त रहते हुए भी पहली नायिका के साथ उसका बर्ताव पहले ही के समान होना चाहिए। पर ऐसा होना सम्भव नहीं प्रतीत होता, क्योंकि दो नायिकाओं में समान प्रेम नहीं रह सकता ?

उत्तर—दो नायिकाओं में समान प्रीति हो सकती है। इसमें कोई विरोध नहीं है। महाकवियों के प्रबन्ध इस बात के साक्षी हैं—

("कोई कंचुकी कह रहा है कि) जब मैंने महाराज से यह निवेदन किया कि महाराज, कुन्तलेश्वर की दुहिता स्नान करके तैयार है, आज अंग देश के राजा की लड़की की भी पारी है, रानी कमला ने भी जुए में आज की रात को जीत लिया है, इसके अलावा आज महारानी को भी प्रसन्न करना आवश्यक ही है, ऐसी मेरी बातों को सुनकर महाराज दो-तीन घड़ी तक किंकर्तव्यविमूढ़ हो स्तब्ध-से रह गए।"
इसके अलावा आचार्य भरत ने भी कहा है—

"उत्तम नायक मधुर स्वभाव का तथा त्यागी होता है। किसी वस्तु में उसकी विशेष आसक्ति नहीं होती। वह काम के भी वशीभूत

नही होता, और स्त्री द्वारा अपमानित होने पर उसकी प्रवृत्ति वैराग्य की तरफ हो जाती है।"

आचार्य भरत मुनि के "किसी वस्तु मे उसकी विशेष आसक्ति नहीं होती, वह काम के भी वशीभूत नही होता" इत्यादि कथनो से दक्षिण नायक का किसी एक नायिका मे अधिक प्रेम होने का निषेध ही होता है, अत वत्सराज आदि का प्रबन्ध की समाप्ति पर्यन्त दक्षिणता का ही प्रतिपादन होता है।

ऊपर नायक के १६ भेद बतला चुके हैं। फिर इनमे से प्रत्येक के ज्येष्ठ मध्यम और अधम, ये तीन-तीन भेद होते हैं और इस प्रकार से नायक के कुल ४८ भेद हुए।

अब नायक के सहायकों को बतलाते हैं—

पताकानायकस्त्वन्यः पीठमर्दो विचक्षणः।
तस्यैवानुचरो भक्तः किंचिदूनश्च तद्गुणैः ॥८॥

प्रधान नायक की अपेक्षा पताका का नायक अन्य व्यक्ति होता है जिसको पीठमर्द कहते हैं। यह विचक्षण होता है और प्रधान नायक का अनुचर, उसका भक्त तथा उससे कुछ ही कम गुणवाला रहता है ॥ ८॥

पहले बताया जा चुका है कि प्रासगिक कथा के पताका और प्रकरी दो भेद होते हैं। उसी बताए हुए पताका के नायक की सज्ञा पीठमर्द है। पीठमर्द प्रधान कथानायक का सहायक हुआ करता है, जैसे मालती-माधव नामक प्रकरण मे मकरन्द और रामायण मे सुग्रीव। अब नायक के अन्य सहायकों को बताते है—

नायक के सहायक विट और विदूषक हुआ करते हैं। विट एक विद्या का पण्डित होता है। हँसाने वाले पात्र को विदूषक कहते हैं।

एकविद्यो विटश्चान्यो हास्यकृच्च विदूषकः।

नायक के उपयोग में आनेवाली गीत आदि विद्याओं मे से जो किसी

एक विद्या का ज्ञाता होता है उसे विट कहते हैं। नायक के हँसाने के प्रयत्न करने वाले को विदूषक कहते हैं।

यह अपनी आकृति और विकृति (विचित्र-विचित्र वेशभूषा, बोलचाल आदि) के द्वारा हँसाने का प्रयत्न करता है। 'नागानन्द' नाटिका में शेखरक विट है। विदूषक के उदाहरण की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह प्राय: हरेक रूपक में आता है। अतः प्रसिद्ध है।

अब प्रतिनायक का लक्षण देते हैं—

लुब्धो धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृद्व्यसनी रिपुः ॥९॥

प्रतिनायक—यह लुब्ध, धीरोद्धत्त, स्तब्ध, पाप करनेवाला तथा व्यसनी और नायक का शत्रु हुआ करता है। उसका उदाहरण राम (नायक) का रावण और युधिष्ठिर (नायक) का दुर्योधन है॥ ९॥

इसके बाद नायक के सात्त्विक गुणों को बताते हैं—

शोभा विलासो माधुर्यं गाम्भीर्यं धैर्यतेजसी।
ललितौदार्यमित्यष्टौ सत्त्वजाः पौरुषा गुणाः ॥१०॥

शोभा, विलास, माधुर्य, गाभीर्य, स्थैर्य, तेज, ललित, औदार्य, ये आठ नायक के सात्त्विक गुण हैं॥ १०॥

नीचे घृणाऽधिके स्पर्धा शोभायां शौर्यदक्षते।

शोभा—नीच के प्रति घृणा, अधिक गुणवाले के साथ स्पर्धा, शौर्य-शोभा, शौर्य-दक्षता, इनको शोभा कहते हैं।

नीच के प्रति घृणा, जैसे 'महावीरचरित' में—

"ताडका के भयकर उछल-कूद आदि उत्पातों के होने पर उसके मारने के लिए नियुक्त रामचन्द्र तनिक भी भयभीत न हो सके।"

अधिक गुणवाले के साथ स्पर्धा का उदाहरण—

"हिमालय के उस प्रदेश में जहाँ शिवजी और अर्जुन का युद्ध हुआ था, मैं महाराज के साथ गया और उनको बताया कि महाराज, यह सामने दिखाई देनेवाली वही भूमि है जहाँ किरात वेषधारी भगवान्

शंकर के मस्तक पर अर्जुन ने प्रकुपित होकर वेग के साथ अपने बाणों का प्रहार किया था। मेरे इस कथन के श्रवण-मात्र से ही महाराज अपनी दोनों भुजाओं को धीरे-धीरे घुमाने लगे।"

शौर्यशोभा का उदाहरण, जैसे मेरा ही पद्य—रणस्थल में घायल वीर योद्धा का वर्णन—"वह इतना घायल हो गया है कि उसका शरीर व्रणों से भर गया है, शस्त्र चुभे हुए हैं, उत्साह के कारण उत्पन्न रोमांच ही कवच का काम दे रहे हैं, बाहर निकली हुई अंतड़ियों ने उसके पैर को बांध रखा है जिससे पैर को आगे बढ़ाने में असमर्थ है, इतने पर भी जब होश में आता है तो लड़ने के लिए आगे बढ़ता है, उसके ऐसे कर्मों से उसके पक्ष के घायलों में उत्साह तथा शत्रु पक्षी योद्धाओं में सन्तर्जन पैदा हो रहा है। इस प्रकार भयानक रण रूपी खम्भे के लिए पताका के सदृश सुशोभित होने वाला जयश्री का धाम वह वीर धन्य ही है।

दक्षशोभा का उदाहरण, जैसे 'महावीरचरित' के इस पद्य में—

"राम ने सहस्र बज्रों से भी कठोर तथा त्रिपुरासुर का वध करने वाले शंकर के उस धनुष को जिसने कि देव-तेज से काफी गुरुता को प्राप्त कर लिया था, झट से उठाकर वैसे ही तोड़ डाला, जैसे पर्वत शृंग पर मदा तीव्र शक्तिसम्पन्न गजशावक अपनी भुजाओं से वृक्षों को तोड़ डालता है।"

गुप्ता के धारण करने के कारण ऐसा लगता है मानों साक्षात् वीर रस हो, अथवा दर्प का मूर्तिमान रूप हो।"

दलक्षणो विकारो माधुर्यं संक्षोभे सुमहत्यपि।

माधुर्य—महान् संक्षोभ रहते हुए भी अर्थात् महान् विकार पैदा करने वाले कारणों के रहते भी मधुर विकार होने का नाम माधुर्य है।

"मर्यादापुरुषोत्तम राम हास्य लिये हुए प्रसन्नतावश रोमाञ्चित अपने मुखकमल को हाथी के बच्चे के दाँत की शोभा को चुगने वाले सीता के स्वच्छ कपोलों में बार-बार देख रहे हैं। साथ ही राक्षसों की सेना की कलकल ध्वनि को सुनते हुए अपनी जटाओं की गाँठ को कस रहे हैं।"

गाम्भीर्यं यत्प्रभावेन विकारो नोपलक्ष्यते ॥१२॥

गाम्भीर्य—जिसके प्रभाव से विकार लक्षित न हो सके उसे गाम्भीर्य कहते हैं ।१२॥

माधुर्य और गाभीर्य में अन्तर यह है कि एक (माधुर्य) में मधुरता से युक्त विकार लक्षित होता है, दूसरे (गाभीर्य) में बिलकुल दिखाई नहीं पड़ता। जैसे—आहूतस्याभिषेकाय इसका अर्थ पहले आ चुका है (पृ० १४७)।

व्यवसायादचलनं स्थैर्यं विघ्नकुलादपि।

स्थैर्य या स्थिरता—विघ्न-समूहों के रहते हुए भी अपने कर्तव्य में अडिग बने रहने का नाम स्थैर्य या स्थिरता है।

जैसे, 'महावीरचरित' में—प्रायश्चित्त चरिष्यामि आदि।

अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि ॥१३॥

तेज—प्राण-संकट के समुपस्थित रहते भी जो अपमान को न सह सके उसे तेज कहते हैं ॥१३॥

जैसे—"इहाँ कुम्हड़ बतिया कोउ नाही,
जो तरजनी देखि मरि जाही।"

शृङ्गाराकारचेष्टात्वं सहजं ललितं मृदु।

ललित—शृङ्गार के अनुरूप स्वाभाविक और मनोहर चेष्टा को ललित कहते हैं।

जैसे मेरे ही पद्य में—(कोई नायिका अपनी सखी से कहती है कि) हे सखि, स्वाभाविक सुकुमारता और मनोहर लावण्य आदि तथा मन को आन्दोलित करने वाले अपने विलासों के द्वारा जो (कामदेव) मुझे उपदेश दिया करता है वह क्या मेरे ही समान मेरे प्रियतम को भी विषम तापों से तापित नहीं करता होगा ?

प्रियोक्त्याऽऽजीविताद्दानमौदार्यं सदुपग्रहः ॥१४॥

औदार्य—यह दो प्रकार का होता है। प्रियवचन के साथ जीवन तक को दूसरे के लिए समर्पित कर देना पहला भेद है। दूसरा सज्जनों के सत्कार करने को कहते हैं ॥१४॥

प्रथम का उदाहरण नागानन्द का—"शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तम्"[1] 'हे गरुड़, मेरे शरीर में' आदि यह पद्य है।

द्वितीय उदाहरण 'कुमारसम्भव' का यह पद—सप्तर्षिमण्डल के अपने घर पहुँचने पर हिमालय उनसे बोले—"यहाँ आपकी आज्ञापालन के लिए मैं आपके आगे खड़ा ही हूँ। ये मेरी स्त्रियाँ हैं और यह मेरी घर-भर की प्यारी कन्या है, इनमें से जिनसे भी आपका काम बने, उसे आज्ञा दीजिए, क्योंकि धन-सम्पत्ति आदि जितनी भी बाह्य वस्तुएँ हैं वे तो आपकी सेवा के लिए तुच्छ ही हैं, इसलिए उनका नाम लेते हुए भी मुझे हिचक हो रही है।

नायिका

पूर्वकथित गुणों से युक्त नायिका तीन प्रकार की होती है—स्वीया, परकीया और सामान्या।

पूर्वकथित गुणों से युक्त कहने का भाव यही है कि पहले नायक

1. देखिए पृ० १४७।

में रहने वाले जिन-जिन सामान्य गुणों को गिनाया है, उनमे से जहाँ तक हो सके उनका नायिका मे रहना भी वाञ्छनीय है। विभाग करने पर नायिका तीन प्रकार की होती है—(१) स्वीया (अपनी), (२) परकीया (दूसरे की), (३) सामान्या (सर्वसाधारण की उपभोग्य) वेश्या आदि।

स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा।

स्वीया—स्वीया (अपनी) नायिका के तीन भेद होते हैं—(१) मुग्धा, (२) मध्या और (३) प्रगल्भा। शील और सरलता से युक्त रहनेवाली नायिका को स्वीया कहते हैं। शील से युक्त कहने का भाव यह है कि उसका चरित्र सुन्दर हो, पतिव्रता हो, कुटिला न हो, तथा लज्जावती होने के साथ-साथ अपने पति के प्रसादन मे निपुण हो।

मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्वीया शीलार्जवादियुक् ॥ १५ ॥

शीलवती नायिका जैसे—"कुलबालिका के यौवन और लावण्य के विभ्रम और विलास को तो देखो जो प्रियतम के प्रवास के साथ ही चला जाता है और उनके आते ही आ जाता है" ॥१५॥

सरलता से युक्त नायिका का उदाहरण जैसे—

"जो बिना कुछ सोचे-समझे, सरल भाव से भोलापन लिये हुए हँसे, जिनके चाल-ढाल, घूमना-फिरना, उठना-बैठना, बोलना-चालना आदि बिना किसी बनावट के, स्वाभाविक होते हैं, ऐसी स्त्रियाँ भाग्यवानों के ही घर मे पाई जाती हैं।"

लज्जावती नायिका का उदाहरण, जैसे—

"जिनकी लज्जा ही पर्याप्त प्रसाधन है, जिनको दूसरे को प्रसन्न करने की ही प्यास लगी रहती है, ऐसी सुन्दर गुणसम्पन्न स्त्रियाँ भाग्यवानो के घर मे ही पाई जाती हैं।"

स्वीया नायिका के भी मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा तीन भेद होते हैं।

मुग्धा नववय:कामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि ॥

मुग्धा का लक्षण—जिसके शरीर मे तारुण्य का प्रवेश हो, काम का

संचार भी होने लगा हो, रतिकाल में भी जो प्रतिकूलता का आचरण करती हो, कदाचित् प्रकुपित हो, तो भी उसका क्रोध मिठास लिए हो हो। ऐसी नायिका को मुग्धा कहते हैं।

मुग्धा के भी कई भेद होते हैं—वयोमुग्धा, काममुग्धा, रतिकाल में प्रतिकूल आचारयिनी मृदुकोपना।

वयोमुग्धा का उदाहरण—

"इसका विस्तार को प्राप्त होनेवाला स्तनमण्डल जितना ऊँचा होना चाहिए अभी उस उच्चता को प्राप्त नहीं कर पाया है, त्रिवली की रेखाएँ यद्यपि उद्भासित हो गई हैं किन्तु उनके अन्दर अभी ऊँचाई-निचाई स्पष्ट नहीं हो पाई है। इसके मध्यभाग में विस्तृत भूरी रंग की रोमावली बन गई है। इस प्रकार से इसके सुन्दर वय ने शैशव और यौवन का संघटित रूप प्राप्त कर लिया है।"

अथवा जैसे मेरा यह पद्य—

"मण्डल-पर्यन्त रेखावाले तथा कुड्मल को कसके बांधे हुए नायिका के दोनों स्तन उच्छ्वसित होते हुए मानों कह रहे हैं कि मेरी वृद्धि के लिए सीना (छाती) अपर्याप्त है।"

काममुग्धा का उदाहरण, जैसे—

"उसकी दृष्टि अलसाई हुई रहती है, बालक्रीडा में अब उसे कोई आनन्द नहीं मिलता। सखियाँ जब कभी शृङ्गारिक बातें करना आरम्भ करती हैं तो उन्हें सुनने के लिए अपने कानों को वह सावधान कर लेती है। पहले वह बिना किसी हिचक के पुरुष की गोद में बैठ जाती थी, पर अब ऐसा नहीं करती। इस प्रकार की नवीन चेष्टाओं आदि से वह बाला मानो नई अवस्था में लिपटी जा रही है।

शिवजी को इन बातों में भी कम आनन्द नहीं मिलता था।

मृदुकोपना—कुपित होने पर जो आसानी से प्रसन्न की जाए— "पति के किसी बुरे आचरण को देख, बाला को पहले-पहल जब क्रोध आया तो किस प्रकार से क्रोध को व्यक्त किया जाता है, इसके न जानने से वह अपनी भुजाओं को झुकाकर पति की गोद में जाकर बैठ गई। इसके बाद उसके प्रियतम ने उसकी ठुड्डी को उठाकर, गिर रहे हैं, ऐसी अपनी रोती हुई प्रियतमा के अश्रु-सिक्त ओष्ठों को भी चूमा।"

इस प्रकार से लज्जा तथा अनुराग से भरे हुए मुग्धा नायिका के और भी व्यवहारों की कल्पना की जा सकती है। जैसे—"नायक और नायिका दोनों बैठे हुए हैं। सामने प्याले में पेय पदार्थ रखा है। नायक का प्रतिबिम्ब उसमें पड़ रहा है। लज्जावती नायिका प्रियतम के प्रतिबिम्ब को अनुराग के साथ देख रही है। नायक उस पेय पदार्थ में कुछ सुगन्धित पुष्प रस आदि छोड़ना चाहता है, पर नायिका को भय है कि अगर इसमें कुछ छोड़ा गया तो प्रियतम के प्रतिबिम्ब के देखने में बाधा आ जाएगी। अतः उसको पुष्प-रस आदि का छोड़ा जाना भी असह्य है। अतः सात्त्विक भाव से रोमांचित वह न तो उस पेय पदार्थ को ही पीती है और न बरतन को ही हिलाती है। और तो और, वह अपनी निःश्वासों को भी दबाकर इसलिए छोड़ती है कि कहीं पात्र में तरंगों के आ जाने से प्रियतम के प्रतिबिम्ब-दर्शन में बाधा न आ जाए। बस, वह टकटकी लगाकर प्रियतम के प्रतिबिम्ब को ही देख रही है।'

मध्या

मध्योद्यद्यौवनानङ्गा मोहान्तसुरतक्षमा ॥ १६ ॥

ज्वानी की सब कामनाओं से भरी हुई और मूर्च्छा की अवस्था पर्यंत रति में समर्थ रहने वाली नायिका को मध्या कहते हैं ॥१६॥

इसमें यौवनवती का उदाहरण, जैसे—"उसके भ्रूविलास आदिके

ने आलाप (बातचीत) में कमी ला दी है। मस्ती से भुजाओं को घुमाकर उसका चलना बहुत ही चित्ताकर्षक होता है। उसके नितम्ब का मध्य भाग थोड़ा निम्न हो गया है नीवी की गाँठ बढ़ती जा रही है उसके पार्श्वों में विकास और सीने में कुचों का बढ़ाव जारी है। इस प्रकार मृगनयनी के यौवन की शोभा को देखने से ऐसा लगता है मानो कामदेव अपने धनुष के अग्रभाग से उसका स्पर्श कर रहा है।'

कामवती मध्या का उदाहरण, जैसे—

"कामदेव रूपी नई नदी के प्रवाह में बहते हुए वे दोनों (नायक और नायिका), जिनके मनोरथ अभी पूरे नहीं हो पाए हैं, गुरुजनरूपी सेतु से यद्यपि रोक लिये गए हैं, फिर भी लिखित के समान एक-दूसरे पर आकृष्ट हुए नेत्र-रूपी कमल के डण्ठल से एक दूसरे के रसरूपी जल का पान कर रहे हैं।"

मध्या-सम्भोगा का उदाहरण, जैसे—

'महिलाओं के विभ्रम विलास आदि रति के समय में तभी तक चलते रहते हैं जब तक नीलकमल के समान स्वच्छ आभा वाले उनके नेत्र बन्द नहीं हो जाते।"

इसी प्रकार इनकी धीरा, अधीरा, धीरा अधीरा आदि अवस्थाओं को भी समझना चाहिए।

अब इनके नायक के साथ होने वाले व्यवहार को बताते हैं—

धीरा सोत्प्रासवक्रोक्त्या मध्या साश्रु कृतागसम्।
खेदयेद्दयितं कोपादधीरा परुषाक्षरम् ॥ १७ ॥

मध्याधीरा हास्ययुक्त वक्र उक्तियों से, मध्याधीराधीरा आँसुओं सहित वक्र उक्तियों से, और मध्या अधीरा क्रोध के साथ कटुवचनों द्वारा अपने अपराधी प्रियतम को फटकारती हैं ॥१७॥

मध्या धीरा द्वारा हास्ययुक्त वक्र उक्तियों से नायक का फटकारा जाना—कोई अपराधी नायक अपनी प्रेयसी को प्रसन्न करने के लिए आम्रमञ्जरी अर्पित करना चाहता है नायिका उसको अस्वीकार करती

हुई कहती है—"इस दान के ग्रहण करने के योग्य हम लोग नहीं हैं (अर्थात् मैं नहीं हूँ), तुम उसे ही ले जाकर इसे दो जो एकान्त में स्वयं अपने अधरों का पान कराती और तुम्हारे अधरों का पान किया करती है।" धीराधीरा का आँसुओं के साथ वक्रोक्ति द्वारा नायक को खेद उत्पन्न करना—"प्रकुपित नायिका को नायक मना रहा है—कहता है, 'हे बाले', उधर से उत्तर आता है, 'नाथ' ! फिर नायक कहता है—'हे मानिनी, कोप छोडो', उधर से उत्तर आता है—'मैं क्रोध ही करके क्या कर लूँगी ?' फिर नायक कहता है—'मेरा कोई अपराध नहीं है', उधर से उत्तर आता है—'तो आपसे कौन कहता है कि आपने अपराध किया है, सारे अपराध मेरे हैं।' नायक पूछता है—'यदि ऐसी ही बात है तो फिर गद्गद् वाणी से रो क्यों रही हो ?' उत्तर आता है—'मैं किसके सामने रो रही हूँ ?' नायक बोलता है—'मेरे सामने रो रही हो।' उत्तर आता है—'मैं आपकी कौन हूँ कि रोऊँगी ?' नायक कहता है—'तुम मेरी प्रियतमा हो।' नायिका उत्तर देती है—'मैं आपकी नहीं हूँ, इसी से तो रो रही हूँ'।"

आँसुओं के साथ अधीरा नायिका के कटु वचनों द्वारा नायक को फटकारना—

"हे सखि, इसको जाने दो, जाने दो, रोकने की और आदर दिखाने की क्या आवश्यकता ? सौत के अधर से कलंकित इस प्रियतम पापी को मैं देखना भी पसन्द नहीं करती।"

इसी प्रकार के मध्या के व्यवहार लज्जा से अनावृत और स्वयं सुरत में प्रवृत्त न होने वाले होते हैं। जैसे—

'नायक के प्रति आन्तरिक अनुराग के कारण नायिका के शरीर में सात्विक भावों का संचार हो गया है, उसके मुख पर पसीने की छोटी-छोटी बूँदें झलकने लगी हैं। रोमांच हो आया है, नायक के सिवा और किसी के वहाँ न रहने के कारण गुरुजन का भय भी दूर हो गया है, स्तनों पर कँचुकी का तोना भी बँधा हुआ है। मन में ऐसी प्रबल इच्छा

है कि नायक उसके केशों को पकड़कर जोरों के साथ आलिंगन रूपी अमृत का पान कराए, पर इतना होते हुए भी नायक, नायिका द्वारा स्वयं सुरत में प्रवृत्त नहीं कराया गया।"

यहाँ पर नायिका ने स्वयं आश्लेष नहीं किया। इसके बारे में यह कहा गया है कि वह नायक द्वारा बलजोरी से केश खींचे जाते हुए घनाश्लेष रूपी अमृतपान की मानो लुब्धा है। इस प्रकार से यहाँ उत्प्रेक्षा की प्रतीति होती है।

यौवनान्धा स्मरोन्मत्ता प्रगल्भा दयिताङ्गके।
विलीयमानेवानन्दाद्रतारम्भेऽप्यचेतना॥ १८॥

प्रगल्भा नायिका यौवन से अन्धी, रति में उन्मत्त, कामकलाओं में निपुण रति के समय मानो नायक के अंगों में ही प्रविष्ट हो जाएगी, इस प्रकार की इच्छा वाली तथा सुरतारम्भ में ही आनन्दविभोर हो बेहोश हो जाने वाली होती है। [इसके कई भेद होते हैं, नीचे उनका उदाहरण दिया जाता है] ॥१८॥

गाढयौवना—' अद्भुत युवावस्था वाली उस नायिका के छाती पर के स्तन ऊँचे उठ आए हैं नेत्र बड़े हो गए हैं, भौंहें तिरछी हो गई हैं वाणी का क्या कहना उसमें तो घोर वक्रिमा [नाज, नखरे आदि] आ गई है, कमर पतली तथा नितम्ब स्थूल हो गया है। गति भी मंद हो गई है।"

रतप्रगल्भा का उदाहरण—"कोई नायिका अपनी सखी से कहती है कि प्रियतम के सेज पर आने के साथ ही मेरी नीवी की ग्रन्थि अपने-आप खुल जाती है। नितम्ब पर करधनी में अटके हुए को छोड़ सारा-का-सारा वस्त्र शरीर से अलग हो जाता है। उनके अंगों के सम्पर्क से शरीर में कँपकँपी आ जाती है, इतने तक का तो मुझे ज्ञान रहता है पर इसके बाद 'वे कौन हैं', 'मैं क्या हूँ', 'काम-क्रीडा किसे कहते हैं और कैसे किया जाता है', आदि बातों का मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं रहता।"

लज्जा की यन्त्रणा से उन्मुक्त और वैदग्ध्य से युक्त इस प्रकार के प्रगल्भा के अन्य व्यवहारों को भी समझना चाहिए।

जैसे—"शैया पर बिछी हुई चादर नायिका की काम-सम्बन्धी अनेक अवस्थाओं को कह रही है, क्योंकि उसका कोई भाग ताम्बूल से लाल हो गया है, कोई भाग अगुरु के पंक से मलिन हो गया है। कहीं पर कपूर के चूर्ण दिखाई दे रहे हैं तो कहीं पर महावर लगे पद-चिह्न, ऐसे ही कहीं पर त्रिवली के चिह्न झलक रहे हैं तो कहीं पुष्प बिखरे नजर आ रहे हैं।"

प्रगल्भा की कोप-चेष्टा

सावहित्थादरोदास्ते रतौ धीरेतरा क्रुधा।
सतर्ज्यं ताडयेन्मध्या मध्याधीरेव तं वदेत् ॥ १६ ॥

प्रगल्भा धीरा अपने क्रोध को छिपाकर ऊपर से आदर-सत्कार प्रदर्शित करती है, पर सुरत से उदासीन बनी रहती है। प्रगल्भा धीरा-धीरा मध्या की भाँति क्रोधयुक्त वक्रोक्ति से नायक को फटकारती है और प्रगल्भा अधीरा क्रुद्ध होकर नायक को डराती-धमकाती तथा मारती भी है ॥१६॥

क्रोध छिपाकर आदर प्रदर्शित करने वाली धीरा प्रगल्भा, जैसे—'प्रियतम को दूर से आते देख खड़ी हो एक आसन पर बैठने की स्थिति को उसने दूर कर दिया, ताम्बूल लाने आदि के बहाने से हटकर वेग के

साथ किए जाने वाले आलिंगन में भी बाधा डाल दी। प्रियतम की सेवा में परिजनों को नियुक्त करने के बहाने उसने बातचीत करने में भी आनाकानी कर दी। इस प्रकार उस चतुर नायिका ने अपनी चतुराई से उपचार आदि के बहाने नायक के प्रति उत्पन्न कोप को कृतार्थ कर दिया।"

रति में उदासीन रहने वाली नायिका, जैसे—नायक अपने मित्र से कह रहा है कि उसकी आज की चेष्टाओं से ऐसा लगता है मानो उसने मेरे सारे दोषों की जानकारी प्राप्त कर ली है क्योंकि—"रति के प्रसंग में वस्त्रों को खोलते समय पहले वह कलह कर बैठती थी और केश-ग्रहण के साथ काम में प्रवृत्त होने पर जब मैं उसके अधर के काटने की कोशिश करता था उस समय वह भौंह टेढ़ी कर काटने नहीं देती थी, पर आज वह स्वयं अपने अधरों को सौंप रही है। पहले जब मैं हठात् आलिंगन में प्रवृत्त होता था तो वह उस समय प्रतिकूल ही आचरण करती थी, पर आज तो वह स्वयं अपने अंगों को समर्पित कर रही है। पता नहीं, इसने कोप करने का यह नया ढंग कहाँ से सीख लिया है।"

इसके अलावा अधीराप्रगल्भा कुपित होने पर भय उत्पादन करने के साथ-साथ मारती भी है। जैसे, अमरूशतक में—

"प्रकुपित नायिका अपने कोमल चंचल बाहुरूपी लतिका के पाश में दृढ़ता से बाँधकर नायक को अपने क्रीडागृह से घसीटती हुई सखियों के सामने ले जाकर उसके दुर्व्यवहार-सूचक चिह्नों को दिखा-दिखाकर यह कहती हुई कि 'फिर तो ऐसा नहीं करोगे' रोती हुई मार रही है और नायक उन चिह्नों को ढकने का यत्न करता हुआ हँस रहा है। (कवि कहता है कि) ऐसे अवस्थापन्न व्यक्ति का जीवन धन्य है।"

धीराधीरप्रगल्भा मध्याधीरा के समान ही सहास वक्रोक्ति के द्वारा नायक से बोलती है। जैसे—

"अपने पैर पर गिरे हुए नायक से उसकी नायिका कहती है—देखो, एक वह दिन था जब हम दोनों में से कोई किसी पर नाराज

होता तो भौंहों का चढ़ जाना ही कोप का सबसे बड़ा (परिणाम) होना, मौन ही दण्ड होना, आपस में एक-दूसरे को देखकर हँस देना ही अनुग्रह और दृष्टिपात ही प्रसन्नता का कारण होता था, पर देखो न, वह प्रेम आज इस दशा को पहुँच गया है कि तुम मेरे पैरों पर पड़े हो और मैं मान कर बैठी हूँ और तुम्हारी प्रार्थना पर भी मुझ अभागिनी का कोप शान्त नहीं हो रहा है।"

द्वेधा ज्येष्ठा कनिष्ठा चेत्यमुग्धा द्वादशोदिताः ।

मध्या और प्रगल्भा नायिकाओं के प्रत्येक भेदों के ज्येष्ठा और कनिष्ठा भेद होते हैं। इस प्रकार मध्या और प्रगल्भा के कुल भेदों की सम्मिलित संख्या १२ होती है।

मुग्धा के सब भेद नहीं होते हैं, वह एक ही रूप की रहती है।

ज्येष्ठा और कनिष्ठा का उदाहरण 'अमरुशतक' के एक ही श्लोक में मिल जाता है—"एक आसन पर बैठी हुई अपनी दोनों प्रेमिकाओं को देख, क्रीड़ा के बहाने पीछे से आकर नायक एक की आँख मूँद कर अपने कन्धे को जरा घुमाकर प्रेम से उल्लसित मनवाली तथा आनन्द से विकसित मुखवाली अपनी दूसरी नायिका का प्रसन्नता के साथ चूम रहा है।"

नायिका के ज्येष्ठा और कनिष्ठा ये भेद नायक के दाक्षिण्य और प्रेम इन दोनों के कारण ही नहीं होते अपितु केवल प्रेम के कारण भी होते हैं। दाक्षिण्य के कारण ज्येष्ठा कनिष्ठा व्यवहार नहीं होता है। जो नायक सहृदयता से ज्येष्ठा से आचरण करे वह दक्षिण कहलाता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि सहृदयता के साथ जिसके साथ व्यवहार होता है वह ज्येष्ठा है। इस बात को दक्षिण की परिभाषा देते समय स्पष्ट कर दिया गया है।

इस प्रकार से नायिका के (१) धीरमध्या, (२) अधीरमध्या और (३) धीराधीरमध्या, (४) धीरप्रगल्भा, (५) अधीरप्रगल्भा और (६) धीराधीरप्रगल्भा ये ६ भेद हुए। फिर इनके ज्येष्ठा और

कनिष्ठा भेद करके कुल १२ भेद हुए।

'रत्नावली' नाटिका में वासवदत्ता और रत्नावली के उदाहरण ज्येष्ठा-कनिष्ठा के हैं। इसी प्रकार महाकवियों के और प्रबन्धों में भी इस बात को समझ लेना चाहिए।

परकीया नायिका

अन्यस्त्री कन्यकोढा च नान्योढाङ्गिरसे क्वचित् ॥ २० ॥
कन्यानुरागमिच्छातः कुर्यादङ्गाङ्गिसंश्रयम् ।

परकीया नायिका के दो भेद होते हैं—(१) कन्या और (२) विवाहिता। विवाहिता को ऊढा तथा कन्या को अनूढा कहते हैं। प्रधान रस के वर्णन में ऊढा नायिका का प्रेम-प्रदर्शन कहीं भी दोष नहीं है। हाँ कन्या के अनुराग का प्रदर्शन प्रधान और अप्रधान दोनों रसों में हो सकता है॥ २० ॥

दूसरे नायक से सम्बन्ध रखने वाली ऊढा का वर्णन—नायिका अपनी पड़ोसिन से कह रही है—"हे बहन, थोड़ी देर के लिए जरा मेरे घर का भी खयाल रखना क्योंकि मेरे इस लड़के का पिता अर्थात मेरा पति इस कुएँ के स्वादरहित जल को प्राय नहीं पीता है। देखो बहन यद्यपि मैं एकाकिनी हूँ, और जिस तालाब का पानी लेने जा रही हूँ वहाँ तमाल के इतने घने वृक्ष हैं कि दिन में भी अन्धकार का साम्राज्य रहता है। और भी दिक्कत यह है कि वहाँ नरकट के ऐसे पुराने पुराने वृक्ष लगे हुए हैं जिनमें तीखी गाँठें पड़ गई हैं। अत उनके भीतर से पानी निकलना खतरे से खाली नहीं है, खैर, मुझे तो जाना ही है चाहे जिन-जिन मुसीबतों का सामना करना पड़े।"

इस प्रकार की ऊढा को प्रधान अंगी रस का विषय कभी भी नहीं रखना चाहिए। इस बात को केवल संक्षेप में बताया गया है। कन्या यद्यपि अविवाहित रहती है, फिर भी पिता, माता आदि के अधीन रहने

के कारण परकीया कही जाती है। कन्या पिता आदि के वशीभूत होने से अलभ्य ही रहती है, फिर भी उसके माता-पिता आदि तथा अपनी स्त्री से छिपकर ही नायक उसके साथ प्रेम-व्यापार में प्रवृत्त होता है।[1] जैसे 'मालतीमाधव' में माधव का मालती से तथा 'रत्नावली' नाटिका में वत्सराज का रत्नावली (सागरिका) से प्रेम करना।

कन्या के अनुराग को प्रधान-अप्रधान दोनों रसों में बिना किसी रोक-टोक के स्वेच्छया वर्णन करना चाहिए। जैसे 'रत्नावली' नाटिका में रत्नावली तथा 'नागानन्द' नाटिका में मलयवती का अनुराग-वर्णन।

साधारणस्त्री गणिका कलाप्रागल्भ्यधौर्त्ययुक् ॥ २१ ॥

सामान्य नायिका—गणिका को सामान्य नायिका कहते हैं। यह कला, प्रगल्भता और धूर्तता से युक्त होती है ॥२१॥

इसके व्यवहार का अन्य शास्त्रों में विस्तृत वर्णन है। मैं केवल उसे संक्षेप में बता रहा हूँ—

छन्नकामसुखार्थाज्ञस्वतन्त्राहंयुपण्डकान्।
रक्तेव रञ्जयेदाढ्यान्नि:स्वान्मात्रा विवासयेत् ॥ २२ ॥

यह (गणिका) केवल धन से प्रेम करती है। छिपकर प्रेम करने वाले, जैसे पण्डित, बनिया, ब्रह्मचारी आदि, और आसानी से धन कमाने वाले मूर्ख, उच्छृंखल, पाण्डुरोगी, नपुंसक, इन लोगों से वह ऐसे हाव-भाव, आदि से प्रेम-प्रदर्शन करती है मानो वह वास्तव में अनुरक्त हो, और तब तक यह अपना प्रेम-व्यापार चलाती है जब तक उनके पास पैसा रहता है। धन ग्रहण करते-करते जब उनके पास कुछ भी नहीं रह जाता तब वह उनका अपमान करके घर से अपनी माता के द्वारा

1. 'मालती माधव' प्रकरण का नायक माधव अविवाहित है, अत: उसके लिए अपनी स्त्री से छिपकर प्रेम-व्यापार चलाने की बात ही नहीं उठती। 'रत्नावली' नाटिका के नायक में यह बात अवश्य घटित होती है

निकलवा देती है।

यह उसके स्वाभाविक रूप का वर्णन है ॥२२॥

किन्तु प्रहसन को छोडकर अन्य रूपकों मे खास करके प्रकरण मे वेश्या के वास्तविक प्रेम का ही वर्णन रहता है।

जैसे 'मृच्छकटिक' प्रकरण मे वसन्तसेना और चारुदत्त का प्रेम।

रक्तैव त्वप्रहसने नैषा दिव्यनृपाश्रये।

प्रहसन मे नायिका (वेश्या) यदि नायक मे अनुरक्त न हो तो भी उसके प्रेम-व्यापार को दिखा सकते है, क्योकि प्रहसन की रचना और उसका अभिनय हास्य के लिए ही होता है। पर नाटको मे जहाँ देवता, राजा आदि नायक हो वहाँ पर गणिका का नायिका रूप मे कदापि नहीं रखना चाहिए।

अब नायिका के अन्य भेदो को बताते है—

आसामष्टाववस्थाः स्युः स्वाधीनपतिकादिकाः ॥ २३ ॥

इनकी स्वाधीनपतिका आदि आठ अवस्थाएँ होती हैं—

१ स्वाधीनपतिका, २. वासकसज्जा, ३ विरहोत्कण्ठिता, ४ खडिता, ५ कलहान्तरिता, ६ विप्रलब्धा, ७ प्रोषितपतिका और ८. अभिसारिका ॥२३॥

ये आठ स्वीया, परकीया और सामान्या नायिका की अवस्थाएँ व्यवहार और दशा-भेद के अनुसार होती है। पहले बताये हुए सोलह प्रकार के भेदों को बताकर फिर नायिका की आठ अवस्थाएँ बताई गई है। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि उन-उन अवस्थाओ से युक्त नायिकाएँ इन-इन अवस्थाओ के धर्म से भी युक्त हुआ करती हैं। अवस्था भेद बताने के समय किसी को उनके अधिक न्यून होने के सम्बन्ध मे भ्रम न हो जाए, अत स्पष्टीकरणार्थ आठ लिख दिया।

नायिका की ये आठो अवस्थाएँ एक दूसरे से भिन्न हुआ करती हैं। उनका आपस मे किसी के भीतर किसी का अन्तर्भाव नहीं हो सकता

कि दूसरी ने कहा कि हे सखि, तू प्रिय की अपने हाथों-प्रथित मंजरी को इस प्रकार दिखाती हुई गर्व कर रही है यह उचित नहीं है, दूसरी कोई भी इस प्रकार के सौभाग्य का पात्र बन सकती थी यदि हाथ की कंपकंपी बीच में ही विघ्न न कर देती।"

मुदा वासकसज्जा स्वं मण्डयत्येष्यति प्रिये ॥ २४ ॥

२ वासकसज्जा—उस नायिका को वासकसज्जा कहते हैं जो प्रसन्नता के साथ सब शृंगारों से सजकर प्रिय के आगमन की प्रतीक्षा करती रहती है ॥ २४ ॥

जैसे—माघ का यह पद्य—

"अन्य कोई रमणी हस्तपल्लव के आघात से मुखकमल की वायु को रोककर नाक के छिद्रों की ओर से उठने वाली मुख-सुगन्धि की परीक्षा कर प्रसन्न होने लगी।"

चिरयत्यव्यलीके तु विरहोत्कण्ठितोन्मनाः ।

विरहोत्कठिता—विरहोत्कंठिता नायिका उसे कहते हैं जिसका पति निश्चित समय पर नहीं आता। इसे अपने प्रिय का कोई अपराध मालूम नहीं रहता। प्रिय के विरह में उससे मिलने के लिए इसका चित्त उत्कंठित रहता है।

ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता ॥ २५ ॥

खण्डिता—उसे कहते हैं जो पति के शरीर में अन्य स्त्री के साथ किए गए संभोग के चिह्नों को देखकर जल उठे ॥ २५ ॥

जैसे—"कोई नायिका अपने पति के शरीर में परस्त्रीकृत संभोग-चिह्नों को देखकर उससे कहती है—अन्य स्त्री के द्वारा किए हुए ताजे नखक्षत को तो कपड़े से ढककर छिपा रहे हो, उसके द्वारा किए गए दन्तक्षत को भी तुमने हाथों से ढक लिया है, पर यह तो बताओ कि परस्त्री के संभोग को व्यक्त करने वाला जो सुन्दर सुवास तुम्हारे इर्द-गिर्द फैल रहा है, भला उसको कैसे रोक सकोगे ?"

कलहान्तरितामर्षाद्विधूतेऽनुशयार्तियुक् ।

कलहान्तरिता—उसे कहते हैं जो प्रियतम को क्षमा-याचना करते समय फटकार बैठे और बाद में अपनी करतूत पर पश्चात्ताप करे।

जैसे, कोई नायिका सोच रही है—पता नहीं, सखियों ने मान में कौनसा ऐसा गुण देखा था जो मुझे करने को कहा और मैं भी हत-भागिनी उसे कर बैठी। अब क्या करूं ? प्रियतम ने आकर मुझे मनाया और जब मैं नहीं मानी बल्कि उलटे उसका तिरस्कार कर बैठी तो वह दुखी होकर चला गया। अब उसके वियोग में मेरी यह हालत है कि निश्वास मुँह को जला रहा है, हृदय को मथ रहा है, निद्रा आ नहीं रही है, रात-दिन रो रही हूँ, अंग सूख गए हैं। न मालूम उस समय मुझे क्या हो गया था जो मैं सखियों की बातों में आकर पैर पड़े हुए प्रियतम की उपेक्षा कर बैठी।

विप्रलब्धोक्तसमयमप्राप्तेऽतिविमानिता ॥ २६ ॥

विप्रलब्धा—उसे कहते हैं जिसका प्रियतम बताए हुए समय पर न आए। उसके न आने के कारण उसे अपमान सी मालूम होता है अतः यह विमानिता या अपमानिता होती है ॥ २६ ॥

जैसे—कोई अपनी दूती से कह रही है— दूती, उठ, अब मैं जा

रही हूँ क्योंकि रात्रि का जो समय उसने आने के लिए तय किया था वह तो बीत गया, पर न आ सका, अतः यहाँ से अब चला जाना ही ठीक है। अब इतने बड़े अपमान-सहन के बाद भी जो जीती बच जाए बस वह उसी का प्राणनाथ होगा।"

दूरदेशान्तरस्थे तु कार्यतः प्रोषितप्रिया।

प्रोषितप्रिया—उसे कहते हैं जिसका पति किसी कार्यवश विदेश चला गया हो।

जैसे 'अमरुशतक' में—"कोई प्रेयसी अपने प्रियतम की बाट जोह रही थी। जहाँ तक आँख देख सकती थीं उसने वहाँ तक देखा पर उसके प्रियतम की आहट न मिल सकी। निदान, खिन्न हो उठी क्योंकि पथिकों का आना-जाना भी बन्द हो चला था, सन्ध्या हो आई थी, दिशाओं में धीरे-धीरे अन्धकार का प्रसार हो रहा था। सो, निराश हो उसने घर में प्रवेश पाने के लिए एक पैर बढ़ाया ही था कि उसके मन में यह बात आई कि प्रियतम कहीं आता न हो, फिर क्या था, उसने अपनी गर्दन को घुमाकर देखना आरम्भ कर दिया।"

कामार्ताभिसरेत् कान्तं सारयेद्वाभिसारिका ॥ २७ ॥

अभिसारिका—काम से आर्त्त (व्याकुल) हो जो स्वयं प्रियतम से मिलने जाए अथवा उसे अपने पास बुलाए, उसे अभिसारिका कहते हैं ॥ २७ ॥

मणिनूपुर सुशोभित हो रहे हैं। ग्रत तेरे इस ग्रासयुक्त देखने और मशक्ति चलने ग्रादि से क्या लाभ ?"

जैसे और भी—"कोई नायिका प्रियतम के ग्रभिसरण कराने (बुलाने) के लिए दूती को भेज रही है, और उससे कह रही है कि हे दूती, उनके पास जाकर इस प्रकार से चतुराई के साथ मेरा सदेश जतलाना ताकि मेरी लघुता भी व्यक्त न होने पाए, साथ ही उनके मन मे मेरे प्रति करुणा भी उत्पन्न हो जाए।"

चिन्तानिःश्वासखेदाश्रुवैवर्ण्यग्लान्यभूषणैः ।

युक्ताः षडन्त्या द्वे चाद्ये क्रीडौज्ज्वल्यप्रहर्षितैः ॥ २८ ॥

इन उपर्युक्त ग्राठ ग्रवस्थावाली नायिकाओं में शुरू की दो ग्रर्थात् स्वाधीनपतिका और वासकसज्जा सदा प्रसन्न रहती हैं, तथा शृगारिक क्रीडा ग्रादि मे लगी रहती हैं। ये इनको छोड शेष छ चिन्ता, नि श्वास खेद, अश्रु, ग्लानि, वैवर्ण्य, ग्राभूषणाभाव ग्रादि से युक्त होती हैं ॥ २८ ॥

परकीया नायिका की, वह चाहे ऊढा या ग्रनूढा, इन ग्रवस्थाग्रो में से केवल तीन ग्रवस्थाएँ हो सकती है। शेष पांच ग्रवस्थाएँ इनकी नहीं होती, क्योंकि ये पराधीन होती हैं। परकीया नायिका सकेत स्थान पर चलने के पहले विरहोत्कण्ठिता रहती है, और बाद मे विदूषक ग्रादि के साथ ग्रभिसरण करने से ग्रभिसारिका तथा सकेतस्थल मे दैवात् प्रियतम से यदि भेंट न हो सकी तो विप्रलब्धा हो जाती है। 'मालविकाग्निमित्र' नाटक मे रानी के सामने राजा की परवशता देख मालविका कहती है—'हाँ, ग्राज जो नही डर रहे हैं उन महाराज का साहस, उस दिन देवी इरावतीजी के ग्राने पर मैं भली भाँति देख चुकी हूँ।'

यह सुनकर राजा कहते हैं—"हे बिम्बा के समान लाल-लाल ओंठों वाली ! प्रेमी लोग यों दिखाने के लिए सभी से प्रेम करते हैं। पर हे

बड़ी-बड़ी आंखों वाली ! मेरे प्राण तो तुम्हें ही पाने की आशा पर लटके हुए हैं।" खण्डिता नायिका का पति जैसी अनुनय विनय करता है वह बात यहाँ नहीं पाई जाती। यहां पर राजा का मालविका से इस प्रकार कहने का उद्देश्य है कि मालविका अपनी अबोधता के कारण राजा को हर तरह से रानी के अधीन समझ निराश न हो जाए, अतः उसके अन्दर विश्वास पैदा करना है।

मालविका परकीया नायिका है, अतः वह खण्डिता नहीं हो सकती, क्योंकि परकीया के सम्बन्ध से स्वकीया खण्डिता होती है, ऐसा नियम है। स्वकीया के सम्बन्ध से परकीया खण्डिता नहीं होती। यहाँ तो राजा दक्षिण नायक है जिसका पहली नायिका के साथ सहृदयतापूर्वक व्यवहार करना उचित ही है।

इसी प्रकार प्रियतम के परदेश में होने पर भी परकीया प्रोषितपतिका नहीं होती। समागम के पूर्व देश का व्यवधान परकीया और नायक के बीच रहा ही करता है। इसलिए वह मिलने के लिए उत्सुक विरहोत्कंठिता मात्र हो सकती है।

नायिका के कार्यों में सहायता पहुँचाने वाली दूतियाँ—

दूत्यो दासी सखी कारूर्धात्रेयी प्रतिवेशिका।
लिङ्गिनी शिल्पिनी स्वं च नेतृमित्रगुणान्विताः ॥ २६ ॥

दासी सखी, धोबिन, घर के काम-काज करने वाली नौकरानियाँ, पड़ोसिन, भिक्षुणी, चित्र आदि बनाने वाली स्त्रियाँ आदि जो नायक के सहायक मित्रों के समान गुणवाली होती हैं, नायिका की दूतियाँ होती हैं ॥ २६ ॥

नायिका अपनी कार्य-सिद्धि के लिए स्वयं भी दूती बन जाती है। नायक के सहायक पीठमर्द आदि में जो गुण होते हैं उन्हें दूतियों के अन्दर भी रहना चाहिए। जैसे 'मालतीमाधव' प्रकरण में—

"उसे शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान है, ज्ञान के ही अनुरूप सहज बोध है, गुणों में प्रगल्भता प्राप्त उसकी वाणी है। समय की पहचान, प्रतिभा

शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता ।
औदार्यं धैर्यमित्येते सप्त भावा अयत्नजाः ॥३१॥
लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलकिञ्चितम् ।
मोट्टायितं कुट्टमितं बिब्बोको ललितं तथा ॥३२॥
विहृतं चेति विज्ञेया दश भावाः स्वभावजाः ।
निर्विकारात्मकात्सत्त्वाद्भावस्तत्राद्यविक्रिया ॥३३॥

इनमें भाव, हाव और हेला, ये तीन अंगों से उत्पन्न होते हैं। शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य, धैर्य, ये सात भाव बिना यत्न के ही पैदा होते हैं, इसीलिए इनको अयत्नज कहते हैं। लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, बिब्बोक, ललित तथा विहृत, ये दस भाव स्वभावज अर्थात् स्वभाव से पैदा होते हैं ॥ ३०-३३ ॥

नीचे इनके बारे में बताया जाता है—

भाव—जन्म से विकार-रहित मन में विकार के उत्पन्न होने को भाव कहते हैं।

विकार की सामग्री रहते हुए भी विकार का न पैदा होना सत्त्व (भाव) कहलाता है, जैसे—"इसी बीच अप्सराओं ने नाचना-गाना प्रारम्भ कर दिया, पर महादेवजी टस-से-मस न हुए, अपने ध्यान में ही लगे रह गए, क्योंकि जो लोग अपने मन को वश में कर लेते हैं उनकी समाधि क्या भला कोई छुड़ा सकता है !" इस प्रकार के विकार-रहित मन में पहले-पहल विकार के पैदा होने से इसका नाम भाव है। मिट्टी और जल के संयोग से बीज के अंकुरित होने को पहले बीज की जो दशा होती है, वैसी ही मन की दशा का नाम विकार है। इस प्रकार सर्वप्रथम मन में आए हुए विकार का नाम भाव है—जैसे दृष्टि: सालसतां बिभर्ति" (पृ० १६२ पर इसका अर्थ लिखा जा चुका है।) अथवा जैसे 'कुमारसम्भव' में—'कामदेव ने पार्वतीजी को पूजा करते देख

जैसे—"शृंगार करने वाली सुहागिन स्त्रियो ने पार्वतीजी को स्नान आदि कराके कोहबर मे ले जाकर पूरब की ओर मुँह करके बिठा दिया। शृंगार की सब वस्तुएँ पास मे होने पर भी वे सब पार्वतीजी की स्वाभाविक शोभा पर ही इतनी लट्टू हो गई कि कुछ देर तक तो वे सुधबुध भूलकर उनकी ओर एकटक निहारती हुई बैठी रह गई।" इत्यादि, और जैसे 'अभिज्ञान शाकुन्तल' मे —

महाराज दुष्यन्त शकुन्तला के विषय मे कह रहे हैं—

"मेरी दृष्टि मे उसका रूप वैसा ही पवित्र है जैसा बिना सूँघा फूल, नखों से बिना काटे हुए पत्ते, बिना बिंधा हुआ रत्न, बिना चखा हुआ नया मधु, तथा बिना भोगा हुआ अखण्ड पुण्यो का फल। पर पता नहीं इस रूप के उपभोग करने के लिए ब्रह्मा ने किसे बनाया है।"

मन्मथामापितच्छाया सैव कान्तिरिति स्मृता ॥३५॥

कान्ति—काम के विकार से बढ़ी हुई शरीर की शोभा को कान्ति कहते हैं ॥ ३५ ॥

(शोभा ही जब प्रेमाधिक्य से बढ जाती है तो उसे कान्ति कहते हैं।) जैसे नायिका के अङ्ग सुख के अभिलाषी अन्धकार ने जब उसके मुख के पास जाने की इच्छा की तो वहाँ से उसे नायिका के मुखचन्द्र की किरणो ने निकाल भगाया, उसके बाद जब वह उसके स्थूल कुचों के पास तथा हाथो के पास डेरा डालने के लिए गया तो वहाँ पर भी कुच और हाथो की कान्ति द्वारा दुत्कारा गया। इस प्रकार हर जगह से तिरस्कृत वह अन्धकार ऐसा लगता है मानो प्रकुपित हो पैरो पर ही जाकर चिपक गया हो।

इसी प्रकार कान्ति का उदाहरण बाणभट्ट की 'कादम्बरी' का महाश्वेता वृतान्त भी है।

अनुल्बणत्वं माधुर्यं

माधुर्य—जिस गुण के रहने से नायिका हरेक अवस्था में रमणीय मालूम होती है उसे माधुर्य कहते हैं।

जैसे, 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में—

"सिवार से घिरे रहने पर भी कमल सुन्दर लगता है और चन्द्रमा में पड़ा हुआ कलंक भी उसकी शोभा को बढ़ाता है, वैसे ही यह रमणी वल्कल पहने हुए भी बड़ी सुन्दर लग रही है। वस्तुतः बात यह है कि सुन्दर शरीर पर हरेक वस्तु सुन्दर लगती है।"

दीप्तिः कान्तेस्तु विस्तरः ।

दीप्ति—अत्यन्त विस्तार पाने पर कान्ति ही दीप्ति कहलाती है।

जैसे—"प्रार्थना करती हूँ, अरी अपनी मुखचन्द्र की ज्योत्स्ना से अन्धकार को दूर भगाने वाली ! प्रसन्न हो जाओ, मेरी बात मानकर अब आगे मत बढ़ो। हे हतासिनी, तू अन्य अभिसारिकाओं की सिद्ध

"प्रतिरात्रि नभ मे चन्द्र पूरन हृदय बरु तापत रहे।
अरु मृत्यु सो आगे करै कहा, मदन चाहे नित दहै॥
मम इष्ट पावन परम, पितु औ मातु कुल को मान है।
तिहि त्यागि बस चहिए न मोहि, प्रानेस औ यह प्रान है॥"

प्रियानुकरणं लीला मधुराङ्गविचेष्टितैः ॥३७॥

लीला—नायिका द्वारा प्रियतम के शृङ्गारिक चेष्टाओं, वेशभूषा, बातचीत आदि के अनुकरण किए जाने का नाम लीला है ॥३७॥

जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—

"उसका देखना, बोलना, बैठना आदि सब ठीक उसी प्रकार के होते हैं जैसे उसके प्रियतम का देखना, बोलना आदि उसके सौतो की साथ होता है।" अथवा जैसे—"उसका कहना, बोलना, गाना वैसा ही होता है जैसा इसका आदि।"

तात्कालिको विशेषस्तु विलासोऽङ्गक्रियादिषु।

विलास—प्रियतम के अवलोकन आदि के समय नायिकाओं की आकृति, नेत्र तथा चेष्टाओं मे जो विशेषता आ जाती है उसे विलास कहते हैं।

जैसे 'मालतीमाधव' मे माधव मालती के विषय मे कहता है—

"इतने ही मे जो कछु वाने करयो
कहिबे नहिं बैननि मे चतुराई।
जय सील अनेक विलासिन को,
प्रकटाइ छटा चहुँधा छिटकाई॥
बहु सात्विक भाव सनी मिस काउवे,
ऐसी अधीर जताई दिखाई।
वह बाल बडी-बडी आंखिनि की,
मनु मैनु महीप ने आपु पढाई॥"

विच्छित्ति—अल्प वेश विन्यास के होते हुए भी नायिका के अंगों में अधिक कमनीयता के आ जाने का नाम विच्छित्ति है।

आकल्परचनाल्पापि विच्छित्तिः कान्तिपोषकृत् ॥३८॥

अर्थात् कान्ति जिससे अधिक चमत्कृत हो उठती है उसको विच्छित्ति कहते हैं ॥३८॥

जैसे 'कुमारसम्भव' में—"पार्वतीजी के कानों पर लटके हुए जो के अंकुर तथा लोध्र से पुते तथा गोरोचना लगे हुए गोरे-गोरे गाल इतने सुन्दर लगने लगे कि सबकी आँखें हठात् उनकी ओर खिंच जाती थीं।"

विभ्रमस्त्वरया काले भूषास्थानविपर्ययः ।

विभ्रम—शीघ्रतावश आभूषणों को जहाँ पहनना चाहिए वहाँ न पहनकर अन्यत्र पहन लेना, इस प्रकार के आचरण को विभ्रम कहते हैं।

जैसे—"रात हो आई चन्द्रमा निकल आया, यह देख नायिका ने शीघ्रतावश प्रिय से मिलने के लिए आभूषणों को पहनना आरम्भ कर दिया। इधर वह गहना पहन रही थी और उधर इसकी सखियाँ इसके प्रिय की दूती से बातचीत करने में लगी थीं, सो प्रिय की बातों को सुनने के लिए इसने भी अपने मन और आँखों को उधर ही लगा दिया, निदान जो आभूषण जहाँ पहनना चाहिए था, उसे वहाँ न पहनकर अन्यत्र ही पहन बैठी, यह देख उसकी सखियाँ हँस पड़ीं।"

अथवा जैसा मेरा (धनिक का) ही पद्य—"नायिका आभूषणों से अपने अंगों को सजा ही रही थी कि इतने में उसने सुना कि उसका प्रियतम बाहर आ गया है। बस क्या था, शीघ्र ही सज-धजकर तैयार हो गई। इस पर जल्दी करने का परिणाम यह निकला कि उसने भाल में अंजन, आँखों में महावर और कपोलों पर तिलक कर लिया।

क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादेः संकरः किलकिञ्चितम् ॥३९॥

किलकिञ्चित—उस अवस्था को कहते हैं जिसमें नायक के सम्पर्क से नायिका के अन्दर क्रोध, अश्रु, हर्ष, भय, ये चारों मिले हुए पैदा होते हैं॥३९॥

जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—

नायक अपने मित्र से कहता है—"रतिक्रीड़ा रूपी द्यूत में मैंने किसी

प्रकार से मौका पाकर ना, मा आदि वाक्यों को कहने वाली नायिका के अधरों को तो काट ही लिया। मेरे इस व्यवहार से पहले तो उसने भौंहों को चढाया, फिर कुछ लज्जा का अनुभव किया और उसके बाद थोडा-थोडा रोना भी आरम्भ कर दिया। इसके बाद उसके मुख पर ईषद् हास्य दिखाई दिए, इतने मे क्या देखता हूँ कि वह फिर क्रोध से विचलित हो उठी।"

मोट्टायित तु तद्भावभावनेष्टकथादिषु ।

मोट्टायित—प्रियतम-सम्बन्धी मनचाही कथावार्ता को सुनने तथा सोचते-सोचते प्रिय के अनुराग मे तन्मय (सराबोर) हो जाने का नाम मोट्टायित है।

जैसे 'पद्मगुप्त' काव्य के इस पद्य मे—

"नायिका प्रिय के चित्र को देख रही थी, देखते-देखते उसके अनुराग मे इतनी विभोर हो उठी कि उसने उस चित्र को ही प्रियतम समझ झट से लज्जा के मारे अपनी ग्रीवा को टेढा कर लिया।"

अथवा जैसे—"ऐ भोली, हृदय मे किसे रखकर रोमाञ्चित हो रही है, और सुन्दर अपांग प्रदेश, जिसमे कनीनिकाएँ जँभाई के कारण उल्लसित हो रही हैं, धारण कर रही है। और तो और, उसके कारण तेरी यह दशा हो आई है कि तू सोई हुई-सी, चित्रलिखी-सी बस मात्र अवशिष्ट शून्य हृदयवाली हो गई है। हे अपने-आप अपना विनाश चाहनेवाली! लज्जा क्यों कर रही है? साफ-साफ बताओ भी तो सही, मुझे तो ऐसा लगता है कि तेरे अन्दर मे छिपा हुआ काम ही तुझे अनेक प्रकार से सता रहा है।"

अथवा जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—

कोई दूती नायक से उसके प्रेम मे मरनेवाली किसी नायिका के बारे मे बताती है—'हे सुन्दर! सखियों के मन मे जब यह आता है कि उसके मन मे छिपी हुई कामवासना को जरा उभार दिया जाए तो वे सब तुम्हारे अनुपम सौन्दर्य आदि का वर्णन करना आरम्भ कर देती

हैं। और जब तुम्हारा वर्णन आरम्भ हो जाता है तो फिर क्या कहना? उस चौड़ी पीठ और मोटे स्तनों वाली के अंग-प्रत्यंगों में मरोड़ पैदा हो जाती है, जँभाई आने लगती है, और भुजाएँ वलयित हो जाती हैं। (दोनों हाथों के द्वारा अपने सीने को कसना यहाँ वलयित शब्द से अभिप्रेत है।)

सानन्दान्तः कुट्टमितं कुप्येत् केशाधरग्रहे ॥४०॥

कुट्टमित—सम्भोग में प्रवृत्त होते समय केशग्रहण और अधरक्षत के कारण भीतर से प्रसन्न होते हुए भी ऊपर से नायिकाओं द्वारा जो कोप का प्रदर्शन होता है उसे कुट्टमित कहते हैं॥ ४० ॥

जैसे—

"हाथों के अग्रभाग अर्थात् अंगुलियों से रोके जाते रहने पर भी प्रियतम के द्वारा ओठों के काट लिए जाने से झूठमूठ का रुदन और सीत्कार करने वाली नायिकाओं की जय होवे, जिनका इस प्रकार का सीत्कार रतिरूपी नाटक के विभ्रम का नान्दी पाठ है अथवा कामदेव का महत्त्वपूर्ण आदेश है।"

गर्वाभिमानादिष्टेऽपि बिब्बोकोऽनादरक्रिया।

बिब्बोक—गर्व और अभिमान से इच्छित वस्तु के अनादर करने को बिब्बोक कहते हैं।

जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—

"मैंने भौंहों को तानकर अनादर के साथ प्रियतम को जो देखा और इस प्रकार से जो उसकी अवहेलना कर दी, इसका परिणाम यह हुआ कि मेरा भी मनोरथ चरितार्थ न हो सका। अरी, मैंने भी तो हद कर डाली। केवल भौंहों का तरेरना ही किया होता सो भी नहीं। मैंने बहाने से क्रोध के आवेश में तिलक और केशों को हाथों से बिखेर दिया और भावावेश में अनेक बार अपनी नीली साड़ी के आँचल को स्तनों पर से उठाया और रखा।"

सुकुमाराङ्गविन्यासो मसृणो ललितं भवेत् ॥४१॥

ललित—कोमल अंगों को सुकुमारता के साथ रखने का नाम ललित है ॥४१॥

जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—

"उसका भौंहों को नचाकर किसलय सदृश अंगुलियों को इधर-उधर घुमाकर बोलना, और लोचन के अंचलों से अति मधुर देखना, तथा स्वच्छन्दता के साथ जाते हुए कमलवत् चरणों का रखना आदि देखकर ऐसा प्रतीत होता है, मानो वह कमलनयनी चढ़ती हुई जवानी के द्वारा बिना संगीत के ही नचाई जा रही है।"

प्राप्तकालं न यद्ब्रूयाद्व्रीडया विहृतं हि तत् ।

विहृत—उपयुक्त अवसर के पाने पर भी लज्जा के कारण न बोल सकने का नाम विहृत है।

जैसे—

"पल्लव सदृश कान्तिवाले पैर के अंगूठे से धरती को खोदती हुई और उसी बहाने कालिमा से चित्रित अपने चंचल नेत्रों को मेरे ऊपर फेंकती हुई, लज्जा से नम्र मुखवाली, तथा बोलने की चाह से फड़कते हुए अधरोंवाली प्रियतमा सामने खड़ी होते हुए भी लज्जा के कारण जो-कुछ न बोल सकी, ये सब बातें स्मृति-पथ में आते ही हृदय को कुरेदने लगती हैं।"

इसके बाद नेता के अन्य कार्य-सहायकों को बताते हैं—

मन्त्री स्वं वोभयं वापि सखा तस्यार्थचिन्तने ॥४२॥

अपने राष्ट्र तथा अन्य राष्ट्र की देखभाल आदि मामलों में राजा के सहायक मन्त्री हुआ करते हैं। कहीं राजा स्वयं अकेले कार्यभार वहन करता है। कहीं राजा और मन्त्री दोनों तथा कहीं मन्त्री ही ॥४२॥

मन्त्रिणा ललितः शेषा मन्त्रिस्वायत्तसिद्धयः ।

ऊपर बताये हुए नायकों में से धीरललित नायक अर्थसिद्धि के लिए

मन्त्रियों पर अवलम्बित रहा करता है। अन्य नायकों (धीरोदात्त, धीरशान्त और धीरोद्धत) मे कहीं राजा कहीं मन्त्री और कहीं दोनों कार्य-भार को वहन करते हैं।

इनके लिए (धीरोदात्त, धीरशान्त, धीरोद्धत के लिए) कोई खास नियम नही है कि प्रमुख नायक का सहायक मन्त्री हो, अथवा स्वय हो अथवा आप भी हो और मन्त्री भी।

ऋत्विक्पुरोहितौ धर्मे तपस्विब्रह्मवादिनः ॥४३॥

राजा के धार्मिक कार्यों मे सहायता पहुँचाने वाले ऋत्विक्, पुरोहित, तपस्वी और ब्रह्मज्ञानी हुआ करते हैं।

वेद के पठन-पाठन करनेवाले और उसके व्याख्याता को ब्रह्मज्ञानी कहते हैं। पुरोहित आदि के अर्थ बतलाने की कोई आवश्यकता नही है क्योंकि इनके अर्थ तो स्पष्ट ही हैं।

दुष्टो के दमन करने को दण्ड कहते हैं।

सुहृत्कुमाराटविका दण्डे सामन्तसैनिकाः।

राजा के दण्डकार्यों मे सहायता पहुँचानेवाले मित्र, कुमार, आटविक (सीमारक्षक) सामन्त और सैनिक होते हैं।

ये प्रत्येक अपने-अपने अनुरूप कार्यों मे लगाए जाते हैं अर्थात् जो जिस कार्य के योग्य होता है वह उस कार्य मे राजा की सहायता पहुँचाया करता है। जैसा कहा भी है—

अन्तःपुरे वर्षवराः किराता मूकवामनाः ॥४४॥

म्लेच्छाभीरशकाराद्याः स्वस्वकार्योपयोगिनः।

अन्त पुर में क्लीव (नपुंसक) किरात, गूंगा, बौना, म्लेच्छ, अहीर, शकार, ये सब सेवा करने के लिए रहते हैं। इनमे जो जिस कार्य के उपयुक्त होता है उसे वह कार्य करने को दिया जाता है ॥४४॥

शकार राजा का साला हुआ करता है। वह निम्न जाति का हुआ करता है। (यह राजा के निम्नजातिवाली पत्नी का भाई होता है।)

ज्येष्ठमध्याधमत्वेन सर्वेषां च त्रिरूपता ॥४५॥

तारतम्याद्यथोक्तानां गुणानां चोत्तमादिता ।

एवं नाट्ये विधातव्यो नायकः सपरिच्छदः ॥४६॥

पहले बताये हुए नायक-नायिका, दूत दूती, पुरोहित, मन्त्री आदि के उत्तम, मध्यम और अधम, इनके द्वारा प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं। यह जो उत्तम, मध्यम और अधम भेद है वह गुणों की घटती बढ़ती को ध्यान मे रखकर नहीं किया गया है, किन्तु गुणाधिक्य को ध्यान में रखकर किया गया है ॥४५-४६॥

अब ऊपर बताये हुए नायक के व्यवहारों को बताते है—

तद्व्यापारात्मिका वृत्तिश्चतुर्धा तत्र कैशिकी ।

•नायक और नायिका के व्यवहार को वृत्ति कहते हैं। यह चार प्रकार की होती है—१. कैशिकी, २ सात्वती, ३ आरभटी और ४ भारती।

गीतनृत्यविलासाद्यैर्मृदुः शृङ्गारचेष्टितैः ॥४७॥

कैशिकी वृत्ति—कैशिकी वृत्ति उसे कहते हैं जिसमे नायक-नायिका का व्यवहार गीत, नृत्य, विलास तथा शृङ्गारिक चेष्टाओं (काम की इच्छा से युक्त चेष्टाओं) के द्वारा सुकुमारता को प्राप्त हुआ रहता है ॥४७॥

नर्मतत्स्फिञ्जतत्स्फोटतद्गर्भैश्चतुरङ्गिका ।

वैदग्ध्यक्रीडितं नर्म प्रियोपच्छन्दनात्मकम् ॥४८॥

कैशिकी के चार भेद होते हैं—१. नर्म, २ नर्म स्फिञ्ज, ३ नर्म स्फोट और ४ नर्म गर्भ।

१ नर्म—प्रिय को प्रसन्न करने वाली चातुर्य से युक्त क्रीडा को नर्म कहते हैं। इसके तीन भेद होते हैं—१. हास्य नर्म, २. सहास्य शृङ्गार नर्म और ३ सहास्य भय नर्म। इनमें सहास्य शृङ्गार नर्म के ३ तीन भेद होते हैं—१ आत्मोपक्षेप नर्म, २. सम्भोग नर्म और

३ भय नर्म। सहास्य भय नर्म के भी दो भेद होते हैं—१ शुद्धभय नर्म, और २ शृंगारान्तर्गत भय नर्म।

हास्येनैव सशृङ्गारभयेन विहितं त्रिधा।

भय नर्म या सहास्य भय नर्म के भी शुद्ध और शृंगारान्तर्गत भय-नर्म ये दो भेद होते हैं।

आत्मोपक्षेपसंभोगमानैः शृङ्गार्यपि त्रिधा ॥४९॥

फिर ये वाणी, वाणीवेष और चेष्टा, इनके द्वारा तीन तीन प्रकार के होते हैं।

शुद्धमङ्गं भयं द्वेधा त्रेधा वाग्वेषचेष्टितैः।
सर्वं सहास्यमित्येवं नर्माष्टादशधोदितम् ॥५०॥

इस प्रकार सब मिलाकर कुल १८ भेद होते हैं ॥४८-५०॥

धनिक की वृत्ति—प्रियजन को प्रसन्न करने के लिए किये गए परिहास का नाम नर्म है। इसमें ग्राम्य परिहास का होना निषिद्ध है। यह १. शुद्ध हास्य, २. सहास शृंगार और सहास भय, इनके द्वारा तीन प्रकार का होता है। इसमें दूसरे का स्वानुराग निवेदन (अपने प्रेम को जतलाना) सम्भोगेच्छा प्रकाशन (अपनी सम्भोग की इच्छा को व्यक्त करना), सापराध प्रिय प्रतिभेदन (अपराध करके आये हुए नायक का भण्डाफोड़ करना) इन भेदों से तीन प्रकार का होता है।

इसमें वाणी द्वारा उत्पन्न हास्यनर्म का उदाहरण—"पार्वतीजी के चरणों में सखी जब महावर लगा चुकी तब उसने ठिठोली करते हुए आशीर्वाद दिया कि भगवान् करे इन पैरों से अपने पति के सिर की चन्द्र-कला को छुओ। इस पर पार्वतीजी मुँह से कुछ न बोलीं पर एक माला उठाकर (धीरे से) उसकी पीठ पर जड़ दी।

वेषनर्म का उदाहरण 'नागानन्द' नाटक में विदूषक शेखरक की वेश-भूषा आदि का वर्णन।

क्रियानर्म का उदाहरण—'मालविकाग्निमित्र' नाटक में स्वप्न देखते

हुए विदूषक को डराने के लिए निपुणिका द्वारा उसके ऊपर डण्डे का फेंका जाना ताकि वह सर्प समझकर चौंक उठे।

इस प्रकार वाणी, वेश, चेष्टा आदि के द्वारा हुए और भेदो को भी जानना चाहिए।

अब सहास शृंगारनर्म के भेदो का उदाहरण देखिए—

आत्मोपक्षेपनर्म, जैसे—गरमी का दिन है, कोई पानी पिलाने वाली स्त्री प्याऊ पर बैठी है। इतने मे गरमी और रास्ते से क्लान्त और श्रान्त एक पथिक पानी पीने की इच्छा से वहाँ आता है, उसे देख प्रपापालिका (प्याऊवाली) कहने लगती है—"हे बटोही, दोपहरी यही बिताइए, पसीना सूख जाने दीजिए, थोडी देर रुककर जल पीजिए। हे पथिक, मैं यहाँ अकेली हूँ, यह सोचकर आप यहाँ से चले न जाइए। यह मेरा पनीसरावाला घर बहुत ठण्डा है, अत यही आपका रुकना हर तरह से आरामदायक होगा। साथ-ही साथ यहीं से बैठे-बैठे कामदेव के बाणो से त्रस्त अपनी प्रियतमा का भी ध्यान लगा सकते हैं, क्योंकि आपके मन को लुभाने में शायद पानी पिलानेवाली समर्थ न हो सके।'

सम्भोगनर्म, जैसे—"अभी सूर्य दिखाई ही दे रहे थे कि गृहिणी ने अपने पति को पकडकर उसकी इच्छा की परवा किये बिना ही हँसती और हंसाती हुई पैरो को दबाने लगी।

माननर्म—जैसे कोई शठनायक किसी मे रमण कर किसी दूसरी नायिका के पास 'तुम मेरी प्रिया हो' इत्यादि कहता हुआ पहुँचा। नायिका ने उसके शरीर पर दूसरी स्त्री की साडी आदि को (नायक जल्दी जल्दी मे साडी ही पहनकर चल दिया था) देख फटकारना शुरू कर दिया—'तुम मेरी प्रिया हो' यह आपका कहना सर्वथा सत्य है, क्योंकि यदि मैं आपकी प्रिया न होती तो आप अपने प्रियजन (दूसरी नायिका के पहने हुए वस्त्र) उपयुक्त इस साडी को पहनकर न आये होते। बात ठीक भी है कामीजन को अपने को आभूषण आदि से सुसज्जित करना प्रियजन के देख लेने मात्र से ही चरितार्थ हो जाता है।"

नयनर्म—जैसे, 'रत्नावली' नाटिका में चित्र देख लेने के बाद सुसंगता कहती है—'हाँ मुझे चित्र के साथ-ही साथ सारी बातें मालूम हो गईं। अब तो मैं जाकर देवी से यह बात कहूँगी", इत्यादि।

शृंगारान्तर्गत नयनर्म—"अपने अपराध के व्यक्त हो जाने पर नायक ने अपनी नायिका को प्रसन्न करने के लिए अनेक उपायों का सहारा लिया, पर जब किसी से भी सफलता न मिल सकी तो बहुत सोचने पर एक उपाय की सूझ उसके मन में आई। वह यह कि इसको भयभीत किया जाए, सो वह लगा कहने, 'देखो यह पीठ-पीछे क्या है ?' 'देखो यह पीठ-पीछे क्या है ?' इस प्रकार से नायिका को भयभीत करके झट मौका पाकर वह शठ नायक मन्द-मन्द मुस्कान करने वाली प्रिया का आलिंगन कर रहा है।"

नर्मस्फिञ्जः सुखारम्भो भयान्तो नवसंगमे।

नर्म स्फिञ्ज—नायक-नायिका के प्रथम समागम को नर्म स्फिञ्ज कहते हैं, जिसका आरम्भ सुख के साथ तथा अन्त भय लिये हुए होता है।

जैसे, 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में संकेत-स्थल पर आई हुई नायिका (मालविका) से नायक (राजा) का यह कथन—

'हे सुन्दरि, मेरे गले लगने से मत डरो। कितने दिन से मैं तुमसे मिलने के लिए व्याकुल था। हे प्यारी आओ, और आकर मुझसे वैसे ही लिपट जाओ जैसे माधवी लता आम से लिपट जाती है।"

इसके बाद मालविका राजा से कहती है—"मुझे महारानी से बड़ा डर लगता है, अतः चाहते हुए भी ऐसा नहीं कर सकती।" इत्यादि।

नर्मस्फोटस्तु भावानां सूचितोऽल्परसो लवैः ॥५१॥

नर्म स्फोट—अल्प भावों से अल्प रस के प्रकट होने का नाम नर्म स्फोट है ॥ ५१ ॥

जैसे 'मालतीमाधव' में मकरन्द माधव की दशा का वर्णन करता है—

चलत मे यह अति ही अलसात ।
देह न धरति वृष्टि सुषमा की सूनी दृष्टि लखात ॥
चिन्तातुर सो सास भरत छिन-छिन दूनो दरसावै ।
कारन का, यहि के सिवाय कछु और समझ नहिं आवै ॥
अवसरही फिरि भुवन-भुवन मे मनमथ विजय दुहाई ।
जोर मरोर भरी जोवन नदि यहि तन मे उमडाई ॥
प्रकृति मधुर रमनीय भाव जब जोवन ज्योति प्रकासै ।
बरबस मन बस करत धीरता धीरज हू की नासै ॥

यहाँ पर माधव के गमन आदि से प्रकट होने वाले थोडे भावो से मालती के विषय मे उसका अनुराग थोडी मात्रा मे सूचित होता है।

नर्मगर्भ—

छन्ननेप्रप्रतीचारो नर्मगर्भोऽर्थहेतवे ।
अङ्गैः सहास्यनिर्हास्यैरेभिरेषात्र कैशिकी ॥५२॥

कार्यसिद्धि के लिए नायक के गुप्त व्यवहार को नर्मगर्भ कहते हैं। यह कैशिकी वृत्ति का अन्तिम चौथा भेद है। इसके भी दो भेद होते हैं—सहास्य और निर्हास्य ॥ ५२ ॥

जैसे 'अमरुशतक' मे—एक आसन पर अपनी दोनो प्रेमिकाओं को बैठा देख, कामक्रीडा के बहाने पीछे से आकर नायक एक की आँख मूँदकर अपने कन्धे को जरा मोडकर प्रेम से उल्लसित मनवाली तथा आनन्द से विकसित मुखवाली अपनी दूसरी नायिका को आनन्द से चूम रहा है।

और जैसे 'प्रियदर्शिका' के गर्भाङ्क मे वत्सराज का वेश धारण करके आई हुई सुसगता के स्थान पर पास ही मे स्वयं वत्सराज का आ जाना।

सात्वती—

विशोका सात्वती सत्त्वशौर्यत्यागदयार्जवैः ।
संलापोत्थापकावस्यां साङ्घात्यः परिवर्तकः ॥५३॥

नायक के शोकरहित सत्त्व, शौर्य, दया, त्याग और आर्जवयुक्त व्यापार को सात्वती वृत्ति कहते हैं। इसके संलापक, उत्थापक, साघात्य और परिवर्तक, ये चार भेद होते हैं ॥५३॥

संलापको गभीरोक्तिर्नानाभावरसा मिथः।

संलापक—नाना प्रकार के भाव और रसो से युक्त गम्भीर उक्ति को संलापक कहते हैं।

जैसे राम 'महावीरचरित' नाटक मे परशुराम से कहते हैं—

"निश्चय ही यह वह फरसा है जो सपरिवार कार्तिकेय के जीते जाने पर भगवान् शंकर के द्वारा हजार वर्ष तक शिष्य बने हुए आपको प्रसाद रूप मे दिया गया था।"

यह सुनकर परशुराम बोलते हैं—

"हे राम तुम्हारा कथन सत्य है, यह मेरे गुरुदेव शंकर का प्यारा वही परशु है।

"शस्त्र-परीक्षा के दिन बनावटी युद्ध मे गणो से घिरे हुए कुमार कार्तिकेय को मैंने हराया, इससे प्रसन्न हो गुणो के प्रेमी भगवान् शंकर ने प्रसाद रूप मे इसे मुझे प्रदान किया।" इत्यादि। नाना प्रकार के भावो और रसो से युक्त राम और परशुराम की गम्भीर युक्ति-प्रयुक्ति संलापक है।

उत्थापक—

उत्थापकस्तु यत्रादौ युद्धायोत्थापयेत् परम् ॥५४॥

युद्ध के लिए जहाँ नायक शत्रु को ललकारे, ऐसे स्थल पर उत्थापक होता है। अर्थात् नायक के द्वारा युद्ध के लिए शत्रु के ललकारने को उत्थापक कहते हैं ॥ ५४ ॥

जैसे 'महावीरचरित' मे परशुराम रामचन्द्र से कह रहे हैं—

"हे राम, तेरा दर्शन मेरे लिए आनन्दप्रद हुआ, अथवा आश्चर्योत्पादक हुआ, या दुःख देने के लिए हुआ, कुछ समझ मे नहीं आ रहा

है। पता नही क्यो मेरे ऐसे नीरस के नेत्रो मे भी तुझे देखते रहने की इस प्रकार की उत्कट तृष्णा पैदा हो गई है। खैर मेरी तकदीर मे तेरी सगति का सुख नहीं बदा है, अत प्रसिद्ध पराक्रमी परशुराम के जीतने के लिए तेरी भुजाओ मे मेरा यह धनुष प्रेरणा सचार करे।"

साघात्य—

मन्त्रार्थदैवशक्त्यादेः साङ्घात्यः सङ्घभेदनम् ।

मत्र, धन या दैवी शक्ति के सहारे किसी सघटना मे फूट पैदा कर देने का नाम साघात्य है।

मत्र-शक्ति द्वारा फूट पैदा करना, जैसे—

'मुद्राराक्षस' नाटक म चाणक्य का अपनी बुद्धि के द्वारा राक्षस के मित्रो म फूट पैदा कर देना।

अर्थशक्ति, जैसे—वही पर (मुद्राराक्षस नाटक मे) पर्वत के आभूषण को राक्षस के हाथ मे पहुँचाकर मलयकेतु के साथ फूट पैदा करा देना।

दैव-शक्ति का उदाहरण—रामायण मे राम का रावण से विभीषण को फोड लेना।

प्रारब्धोत्थानकार्यान्यकरणात् परिवर्तकः ॥५५॥

परिवर्तक— प्रारम्भ किये हुए कार्य को छोड दूसरे कार्य के आरम्भ कर देने को परिवर्तक कहते हैं ॥ ५५ ॥

जैसे 'महावीरचरित' में—परशुराम कहते हैं कि "हे राम, गणेश के मूसल के समान दाँतो से चिह्नित तथा स्वामी कार्तिकेय के तीक्ष्ण शरों के प्रहार के व्रण से सुशोभित मेरी छाती तेरे जैसे अद्भुत पराक्रमशाली के मिलने से रोमांचित हुई (तेरा) आलिंगन चाहती है।" यह सुनकर राम कहते हैं—

"भगवन्! आलिंगन तो प्रस्तुत व्यापार (युद्ध) के विरुद्ध है।" इत्यादि। भारती के बाद आरभटी वृत्ति को बताते हैं—

इस वृत्ति मे माया, इन्द्रजाल, सग्राम, क्रोध, उद्भ्रान्ति, प्रस्ताव आदि बातें होती हैं।

एभिरङ्गैश्चतुर्धेयं सात्त्वत्यारभटी पुनः ।
मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ॥५६॥
संक्षिप्तिका स्यात्संफेटो वस्तूत्थानावपातने ।

अवास्तविक वस्तु को मंत्र के बल से दिखलाने आदि को माया कहते हैं। इसके चार भेद होते हैं—१. संक्षिप्ति, २. संफेट, ३. वस्तूत्थापन, और ४. अवपात ॥ ५६ ॥

संक्षिप्ति—

संक्षिप्तवस्तुरचना संक्षिप्तिः शिल्पयोगतः ॥५७॥
पूर्वनेतृनिवृत्त्यान्ये नेत्रन्तरपरिग्रहः ।

शिल्प के योग से संक्षिप्त वस्तु-रचना को सक्षिप्ति कहते हैं। कुछ लोगों के मत मे प्रथम नायक के चले जाने पर उसके स्थान पर दूसरे नायक का आ जाना सक्षिप्ति है ॥ ५७ ॥

मिट्टी, बाँस, पत्तो और चमडो आदि के द्वारा वस्तु का उत्थापन अर्थात् वस्तु के तैयार हो जाने का नाम सक्षिप्ति है। इसका उदाहरण है बाँस का बना हाथी।

दूसरे लोग नायक की एक अवस्था के बाद दूसरी अवस्था के आने को सक्षिप्ति बतलाते हैं।[१] जो लोग प्रथम नायक के चले जाने पर उसके स्थान पर दूसरे नायक का आना सक्षिप्ति की परिभाषा बताते हैं, उनके अनुसार इसका उदाहरण है वालि का निधन हो जाने पर सुग्रीव का

१ ग्रन्थकार धनंजय का मत पहला है और वृत्तिकार धनिक का दूसरा है, अर्थात् एक नायक के बाद दूसरे नायक का आना सक्षिप्ति है यह ग्रन्थकार धनंजय का मत है। और एक अवस्था के बाद दूसरी अवस्था का आना वृत्तिकार धनिक का मत है।

नायक बनना। और जो लोग एक अवस्था की निवृत्ति के बाद दूसरी अवस्था के आने का नाम संक्षिप्ति बताते हैं उनके अनुसार इसका उदाहरण है—'महावीरचरित' में परशुराम का उद्धतता को त्यागकर शान्तभाव का ग्रहण करना।

सफेटस्तु समाघातः क्रुद्धसंरब्धयोर्द्वयो. ॥५८॥

सफेट—दो क्रुद्ध व्यक्तियों में एक की दूसरे के प्रति जो गाली-गलौज होती है उसे सफेट कहते हैं।

जैसे, 'मालतीमाधव' में माधव और अघोर घण्ट का और रामायण में वर्णित चरित्रों में से लक्ष्मण और मेघनाद का आपसी वाग्युद्ध आदि ॥ ५८ ॥

वस्तूत्थापन—

मायाद्युत्थापितं वस्तु वस्तूत्थापनमिष्यते।

माया आदि से उत्पन्न वस्तु को वस्तूत्थापन कहते हैं।

जैसे 'उदात्त राघव' नाटक में—

"विजयी होते हुए भी चमकती हुई सूर्य की सम्पूर्ण किरणें पता नहीं कैसे आकाशव्यापी अति सघन अन्धकार के द्वारा पराजित हो रही हैं। दूसरी तरफ भयानक कबन्धों के छेदों से निकले हुए रक्त को पी पी कर पेट भर जाने से डकारने वाली और अपनी मुखरूप कन्दरा से आग उगलनेवाली सियारिनों का करुण क्रन्दन हो रहा है।"

अवपातस्तु निष्क्रामप्रवेशत्रासविद्रवैः ॥५६॥

अवपात—निकलना, प्रवेश करना, भय करना और भागना, ये बातें अवपात के भीतर पाई जाती हैं ॥ ५६ ॥

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में, 'अश्वशाला से बन्धन को तोड़कर यह बन्दर रनिवास में प्रवेश कर रहा है। इसके गले में सोने की टूटी हुई साँकल पड़ी हुई है। वह उसे नीचे की तरफ खींचता हुआ बढ़ रहा है। यह अपनी वानर जाति के अनुरूप जब क्रीड़ा (घुड़की देना आदि)

करता है उस समय उसके पैरों में लगी हुई छोटी-छोटी घण्टियाँ भङ्कृत होने लगती हैं। वह स्त्रियों को डराते हुए तथा अश्वशाला के रक्षकों से पीछा किए जाते हुए रनिवास में प्रवेश कर रहा है।"

और भी—"मनुष्य में गिनती न होने से नपुंसक लज्जा छोड़कर छिप गए, बौने डर के मारे कंचुकी के वस्त्र में छिपने लगे, किरात ने भी अपनी जाति के अनुरूप ही कार्य किया, क्योंकि वे इधर-उधर (कोने में) तितर-बितर हो गए। और कुब्जे भी, बन्दर कहीं देख न ले इसलिए और नीचे स्थित हो गए।"

'प्रियदर्शिका' में विन्ध्यकेतु पर किये गए आक्रमणकालीन कोलाहल भी इसका उदाहरण है।

> एभिरङ्गैश्चतुर्थेयं नार्थवृत्तिरतः परा।
> चतुर्थी भारती सापि वाच्या नाटकलक्षणे ॥६०॥
> कैशिकीं सात्वतीं चार्थवृत्तिमारभटीमिति।
> पठन्तः पञ्चमीं वृत्तिमौद्भटाः प्रतिजानते ॥६१॥

[तीन वृत्तियों को बताया जा चुका है।] चौथी भारती वृत्ति का नाटकीय व्यापारों से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह केवल वाच्य वृत्ति है। इन चारों के अलावा कुछ लोग एक 'अर्थवृत्ति' नाम की पाँचवीं वृत्ति मानते हैं। इसके माननेवाले उद्भट और उसके अनुयायी हैं। पर इस वृत्ति को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि इसका कोई उदाहरण मिलता नहीं है। और यह हास्य आदि रसों में पैदा भी नहीं हो सकती, क्योंकि भारती के समान ही उसके होने से नीरसता स्वयंसिद्ध है। अर्थात् वाच्य होने के कारण भारती नीरस होती है क्योंकि रस तो व्यंग्य ही रहता है और उसी के समान ही इस पाँचवीं को भी मानें तो यह भी भला हास्यादि रसों में कैसे रह सकेगी?

साहित्य-शास्त्र में काव्य का व्यवहार रसवान् के ही लिए होता है नीरस के लिए नहीं होता; अतः तीन ही सात्वती, आरभटी और कैशिकी

वृत्ति मानना युक्तिसंगत है ॥ ६०-६१ ॥

कौन वृत्ति किस रस मे रहती है इस बात को बताते हैं—

शृङ्गारे कैशिकी वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः ।
रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती ॥६२॥

कैशिकी वृत्ति शृगार रस में, सात्त्वती वीर रस में, ग्रारभटी रौद्र ग्रौर बीभत्स रस मे तथा भारती वृत्ति सर्वत्र रहती है ॥ ६२ ॥

देशभाषाक्रियावेषलक्षणाः स्युः प्रवृत्तयः ।
लोकादेवावगम्यैता यथौचित्य प्रयोजयेत् ॥६३॥

नायक ग्रादि देश के भिन्न होने से भिन्न वेश ग्रादि मे प्रवृत्त होते हैं । ग्रर्थात् जिस देश के नायक ग्रादि होगे उसी देश की भाषा ग्रौर वेश धारण करेंगे । पात्र जिस देश के नायक ग्रादि का ग्रभिनय करता है उसी देश की भाषा, वेश, क्रिया ग्रादि का व्यवहार करता है । पात्र को लौकिक व्यवहार ग्रादि ज्ञान के द्वारा इस बात की जानकारी प्राप्त कर जहां जैसा उचित हो वहां वैसा करना चाहिए ॥ ६३ ॥

पाठ्यं तु संस्कृतं नृणामनीचानां कृतात्मनाम् ।
लिंगिनीनां महादेव्या मन्त्रिजावेश्ययोः क्वचित् ॥६४॥
स्त्रीणां तु प्राकृतं प्रायः शौरसेन्यधमेषु च ।

कौन पात्र किस भाषा का प्रयोग करे, ग्रब इस बात को बताते हैं—श्रेष्ठ पुरुष, महात्मा, ब्रह्मचारी संस्कृत भाषा का प्रयोग करें । कहीं-कहीं महारानी, मंत्री की लड़की ग्रौर वेश्या भी संस्कृत मे बोल सकती हैं । स्त्रियों को प्राकृत मे ही बोलना चाहिए । ग्रधम लोगों के लिए शौरसेनी भाषा उपयुक्त है ॥ ६४ ॥

प्रकृति कहते हैं संस्कृत को, ग्रत उससे पैदा होने के कारण देशी भाषाग्रों को प्राकृत कहते हैं । शौरसेनी ग्रौर मागधी ग्रपने स्थान पर ही होती हैं । ग्रर्थात् शौरसेनी मध्यम ग्रौर मागधी ग्रधम लोगो को बोलनी चाहिए ।

की तरह देवर से भी सम्बोधित की जाएँ ॥ ६६ ॥

एक स्त्री दूसरे को क्या कहकर बुलाती है इस बात को बताते हैं—

आमन्त्रणीयाः पतिवज्ज्येष्ठमध्याधमैः स्त्रियः ।
समा हलेति प्रेष्या च हञ्जे वेश्याऽज्जुका तथा ॥७०॥
कुट्टिन्यम्बेत्यनुगतैः पूज्या वा जरती जनैः ।
विदूषकेण भवती राज्ञी चेटीति शब्द्यते ॥७१॥

अपनी सहेलियों को हला, प्रेष्या को हञ्जे, वेश्या को अज्जुका कहकर पुकारे । कुट्टिनी अम्बा, पूज्या और जरती इन शब्दों से पुकारे जाएँ। विदूषक रानी और चेटी दोनों को 'भवती' शब्द से बुलाये ॥ ७०-७१ ॥

चेष्टागुणोदाहृतिसत्त्वभावानशेषतो नेतृदशाविभिन्नान् ।
को वक्तुमीशो भरतो न यो वा यो वा न
देवः शशिखण्डमौलिः ॥७२॥

आचार्य भरत और भगवान् शंकर के अलावा ऐसा कौन होगा जो चेष्टा, गुण, सात्त्विक भाव और अगणित नायक और नायिकाओं की विभिन्न दशाओं का वर्णन करने में समर्थ हो सके ? अर्थात् इनके वर्णन में भगवान् शंकर और आचार्य भरत के अलावा कोई भी समर्थ नहीं ॥७२॥

तृतीय प्रकाश

यद्यपि इस प्रकाश में रस का ही वर्णन होना चाहिए क्योंकि वस्तु और नेता के वर्णन के बाद उसी का क्रम प्राप्त है, पर रस के विषय में बहुत कहना है इसलिए उसको छोड़ यहाँ (इस प्रकाश में) वस्तु नेता और रस इनका पृथक्-पृथक् नाटक में क्या उपयोग होता है इस बात को बताते हैं।

प्रश्न—रूपक के दस भेदों में से सर्वप्रथम नाटक का ही क्यों बताते हैं?

प्रकृतित्वादथान्येषां भूयोरसपरिग्रहात् ।
संपूर्णलक्षणत्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते ॥१॥

उत्तर—नाटक ही सब रूपकों का मूल है, एक तो यह कारण है। दूसरी बात यह है कि इसी के भीतर रसों का प्राचुर्य रहता है। इसके अलावा तीसरा कारण यह है कि सम्पूर्ण रूपकों के लक्षण केवल इसीमें घटित होते हैं। इन्हीं कारणों से सर्वप्रथम नाटक के ही भीतर वस्तु, नेता और रस के उपयोग को बताते हैं ॥१॥

पूर्वरंगं विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते ।
प्रविश्य तद्वदपरः काव्यमास्थापयेन्नटः ॥२॥

नाटक में सर्वप्रथम पूर्वरंग होना चाहिए। पूर्वरंग के बाद सूत्रधार को जाना चाहिए और उसके चले जाने के बाद उसी के ही समान किसी दूसरे नट को रंगमंच पर आकर अभिनेय काव्य-कथा की सूचना सामाजिकों को देनी चाहिए ॥२॥

[नाटक की मुख्य कथा के आरम्भ से पहलेवाले सारे कृत्यों को

पूर्वरग कहते हैं। इसमे नाट्यशाला की रचना आदि से लेकर देवस्तुति आदि सभी बातें आ जाती हैं।]

वृत्तिकार धनिक का कहना है कि पूर्वरग तो हुई नाट्यशाला और उसमे होनेवाला प्रथम जो प्रयोग है उसके आरम्भ को पूर्वरगता कहते हैं। उसी पूर्वरगता का सम्पादन कर सूत्रधार के चले जाने के बाद उसके ही सदृश वैष्णव वेषधारी कोई दूसरा नट प्रवेश कर, जिसका अभिनय होनेवाला है, उस काव्य-कथा को सूचित करे। इस सूचना देनेवाले व्यक्ति को स्थापक कहते हैं, क्योंकि वह सूचना द्वारा काव्य-कथा को सूचित करता है।

दिव्यमर्त्ये स तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयोः।
सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथापि वा ॥३॥

स्थापक को यदि दिव्य वस्तु की सूचना देनी हो तो उसे दिव्य (देवता के) रूप से, और यदि अदिव्य वस्तु की सूचना देनी हो तो मनुष्य वेश से, तथा यदि मिश्रवस्तु की सूचना देनी हो तो दोनों में से किसी एक का रूप धारण करके सूचना देनी चाहिए।

यह सूचना चार बातों की होती है—१. वस्तु, २ बीज, ३. मुख और ४. पात्र ॥३॥

कर स्वच्छ चन्द्रमा का हास्य लिए हुए स्वच्छ-शारदकाल-रूपी राम प्रकटित हुए।"

पात्र-सूचना—जैसे 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में—

"तुम्हारे गीत के मनोहर राग ने मेरे मन को बलपूर्वक वैसे ही खींच लिया है जैसे वेग से दौड़ता हुआ यह हरिण राजा दुष्यन्त को।"

रंग प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः ।
ऋतुं कंचिदुपादाय भारतीं वृत्तिमाश्रयेत् ॥४॥

अभिनेय काव्यकथा को जिससे लक्षित होनी हो ऐसे मधुर श्लोकों से सामाजिकों को प्रसन्न करता हुआ किसी ऋतु को लेकर भारती वृत्ति का आश्रयण करे ॥४॥

उदाहरणार्थ—

"प्रथम समागम के अवसर पर भगवान् शंकर से आश्लिष्ट पार्वतीजी आप लोगों की रक्षा करें। पार्वती, जो पति के पास जाने की तैयारी कर चल चुकने के बाद भी जो नवोढा अवस्था के अनुकूल स्वाभाविक लज्जावश रोक दी गई और फिर सखियों द्वारा अनेक प्रकार की शिक्षा पाकर शिवजी के पास पहुँचा दी गई तथा वहाँ जाने पर शंकरजी के अपूर्व दर्शन से चकित हो गई और अनुरागवश उनके शरीर में रोमाञ्च हो आए। इस अवस्था को प्राप्त भगवान् शंकर द्वारा आलिंगित पार्वती आप लोगों की रक्षा करें।"

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः ।
भेदैः प्ररोचनायुक्तैर्वीथीप्रहसनामुखैः ॥५॥

भारती वृत्ति—नट के आश्रय करके होने वाले संस्कृतबहुला वाणी के व्यापार को भारती वृत्ति कहते हैं। अर्थात् भारती वृत्ति वह है जिसमें बातचीत संस्कृत में होती है और जो नट के आश्रित रहती है और जिसमें वाणी की ही प्रधानता होती है, अर्थ की नहीं।

इसके चार अंग होते हैं—१. प्ररोचना, २. वीथी, ३. प्रहसन और ४. आमुख ॥५॥

उन्मुखीकरणं तत्र प्रशंसातः प्ररोचना ।

प्ररोचना—प्रस्तुत की प्रशंसा कर सामाजिकों के भीतर उत्कण्ठा जागृत कर देने का नाम प्ररोचना है ।

जैसे 'रत्नावली' नाटिका में सूत्रधार कहता है—

"मेरे सौभाग्य से नाटक में अपेक्षित सभी गुण एक ही साथ मिल गए । इनमें से एक-एक वस्तु भी वाञ्छित फल की प्राप्ति के लिए पर्याप्त है और जब सब मिल जाएँ तो फिर क्या कहना ? देखो, इस नाटिका के रचयिता स्वयं महाराज हर्ष हैं । सामाजिक (दर्शक) भी गुणग्राही हैं और कथावस्तु का चुनाव भी अति उत्तम है । कारण यह है कि इसमें वर्णित वत्सराज उदयन का चरित्र भी लोगों के मन को चुरानेवाला (लुभानेवाला) सिद्ध हो चुका है तथा इसका अभिनय भी हम लोगों जैसे चतुर अभिनेताओं द्वारा किया जा रहा है ।"

वीथी प्रहसनं चापि स्वप्रसङ्गेऽभिधास्यते ॥६॥

वीथी और प्रहसन के बारे में आगे चलकर जहाँ उसका प्रसंग आएगा बताया जाएगा । वीथी के जो अंग हैं वही आमुख के भी हैं । अतः यहाँ पर आमुख होने के कारण वीथी के अंगों का वर्णन कर रहे हैं—

वीथ्यङ्गान्यामुखाङ्गत्वादुच्यन्तेऽत्रैव तत्पुनः ।

सूत्रधारो नटीं ब्रूते मार्षं वाथ विदूषकम् ॥७॥

स्वकार्यं प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम् ।

प्रस्तावना वा तत्र स्युः कथोद्घातः प्रवृत्तकम् ॥८॥

प्रयोगातिशयश्चाथ वीथ्यङ्गानि त्रयोदश ।

प्रस्तुत विषय पर विचित्र उक्तियों के द्वारा नटी, पारिपार्श्विक और विदूषक इनमें से किसी एक से बातचीत करता हुआ सूत्रधार का चातुर्य-पूर्ण ढंग से रूपक के प्रारम्भ करा देने का नाम आमुख है । आमुख का दूसरा नाम प्रस्तावना भी है । आमुख के तीन अंग होते हैं—१. कथोद्घात, २. प्रवृत्तक और ३. प्रयोगातिशय । वीथी के तेरह अंग होते हैं ॥७-८॥

स्वेतिवृत्तिसमं वाक्यमर्थं वा यत्र सूत्रिणः ॥६॥
गृहीत्वा प्रविशेत्पात्रं कथोद्घातो द्विधैव सः ।

कथोद्घात—अपनी कथा के ही सदृश सूत्रधार के मुख से निकले हुए वाक्य या अर्थ को ग्रहण करके पात्र के प्रवेश होने का नाम कथोद्घात है। यह दो प्रकार का होता है। पहला वाक्य ग्रहण करके पात्र का प्रवेश करना और दूसरा वाक्यार्थ ग्रहण कर पात्र का प्रवेश करना ॥६॥

पहले का उदाहरण है—

द्वीपादन्यस्मादपि—

इसका अर्थ पहले दिया जा चुका है।

वाक्यार्थ का उदाहरण, जैसे 'वेणीसंहार' में सूत्रधार कहता है—

"सन्धि के हो जाने से तथा शत्रुओं के नष्ट हो जाने के कारण शान्त हो गया है अग्निरूपी द्वेष जिनका, ऐसे पाण्डव भगवान् कृष्ण के साथ आनन्दपूर्वक विचरण करें और विग्रह-विहीन कौरव, जिन्होंने प्रेम-पूर्वक प्रजा-शासन से समस्त भूमण्डल को वशीभूत कर लिया है, वे भी अपने अनुचरों के साथ स्वस्थ होवें।'

इसके बाद पूर्व-कथित वाक्य के अर्थ को लेकर भीम का यह कहते हुए प्रवेश करना—

जैसे—पृष्ठ १८ की टिप्पणी मे दिया जा चुका है।

एषोऽयमित्युपक्षेपात् सूत्रधारप्रयोगत.।

प्रात्रप्रवेशो यत्रैष प्रयोगातिशयो मत ॥११॥

प्रयोगातिशय—जहाँ सूत्रधार नटी से किसी प्रसग को चर्चा करते हुए अभिनेय व्यक्ति का नाम लेकर सकेत करे कि 'अरे ये तो वे ही हैं' या 'उनके समान हैं।' और उसके कथन के साथ ही उस व्यक्ति के अभिनय करने वाले पात्र का प्रवेश हो जाए उसे प्रयोगातिशय कहते हैं ॥११॥

जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल का— एष राजेव दुष्यन्त"

अब वीथी के अगो को बताया जा रहा है—

उद्घात्यकावलगिते प्रपञ्चत्रिगते छलम्।

वाक्केल्यधिबले गण्डमवस्यन्दितनालिके ॥१२॥

असत्प्रलापव्याहारमृदवानि त्रयोदश।

वीथी के तेरह अग होते हैं—(१) उद्घात्यक, (२) अवलगित, (३) प्रपच (४) त्रिगत, (५) छल (६) वाक्केली, (७) अधिबल, (८) गण्ड, (९) अवस्यन्दित (१०) नालिका, (११) असत्प्रलाप, (१२) व्याहार, (१३) मृदव ॥१०॥

गूढार्थपदपर्यायमाला प्रश्नोत्तरस्य वा ॥१३॥

यत्रान्योन्य समालापो द्वेधोद्घात्य तदुच्यते।

१. उद्घात्यक—गूढार्थ की पर्यायमाला (क्रम से एक के बाद दूसरे का आना) अथवा प्रश्नोत्तर शृखला (तांता) के द्वारा जो दो व्यक्तियों की बातचीत होती है उसे उद्घात्यक कहते हैं ॥१३॥

प्रथम का उदाहरण, जैसे 'विक्रमोर्वशी' नाटक मे—

"विदूषक—हे मित्र, वह कौन कामदेव है जो तुम्हे दुख पहुँचाया करता है? वह क्या पुरुष है अथवा स्त्री?

राजा—मित्र! मन से ही उसकी उत्पत्ति होती है, अत मन ही इसकी जाति है।

यह स्वच्छन्द रहता है और सुख मे ही इस पर चला जाता है। स्नेह के इस प्रकार के ललित मार्ग को ही कामदेव कहते हैं।

विदूषक—क्या जो कोई जिस किसी वस्तु की चाह रखे वह उसके लिए काम ही हो जाएगा ?

राजा—और क्या ?

विदूषक—अच्छी बात है, तब तो मैं जान गया, भोजनालय मे मेरी भोजन करने की इच्छा का होना भी काम है।"

दूसरे भेद का उदाहरण, जैसे 'पाण्डवानन्द' काव्य मे—"गुणीजन किस वस्तु के होने से श्लाघनीय समझे जाते हैं ? 'क्षमा'। अनादर किसे कहते हैं ? 'जो अपने कुलवालो के द्वारा किया जाए।' दुःख किसे कहते है ? 'दूसरे के वश मे रहना।' ससार मे कौन प्रशसनीय है ? 'जो विपत्ति मे पडे लोगो को आश्रय दे।' मृत्यु किसे कहते हैं ? 'व्यसनो मे फँसे रहने को।' चिन्ता-रहित कौन है ? 'जिसने शत्रुओ पर विजय प्राप्त कर ली है।' ऊपर कहे तथ्यो से युक्त कौन पुरुष है ? 'विराट् नगर मे छिपे हुए पाँचों पाण्डव-पुत्र।'

यत्रैकत्र समावेशात् कार्यमन्यत्प्रसाध्यते ॥१४॥

प्रस्तुतेऽन्यत्र वान्यत्स्यात्तच्चावलगितं द्विधा।

अवलगित—(१) एक ही क्रिया के द्वारा जहाँ दो कार्यों की सिद्धि होती है, तथा (२) अन्य वस्तु के प्रस्तुत रहते अन्य क्रिया जाए उसे अवलगित कहते हैं। इस प्रकार अवलगित दो प्रकार का होता है ॥१४॥

उसमे पहले का उदाहरण, जैसे 'उत्तररामचरित' मे गर्भिणी सीता को ऋषियो के आश्रम देखने की इच्छा होती है पर इस इच्छा की पूर्ति मे वहाँ फैले हुए अपवाद के कारण वह लक्ष्मण के द्वारा छोड दी जाती हैं। दूसरे भेद का उदाहरण, जैसे 'छलितराम' मे—"राम—लक्ष्मण ! पिताजी से रहित इस अयोध्या मे विमान के द्वारा जाने मे असमर्थ हूँ, अतः उतरकर पैदल ही चलता हूँ।

"अरे सिंहासन के नीचे पादुकाओं को आगे करके बैठा हुआ अक्ष-

मालाओं तथा जटाजूटों से युक्त कौन पुरुष सुशोभित हो रहा है ?"

यहाँ भरत के दर्शनरूप कार्य की सिद्धि होती है।

असद्भूतं मिथः स्तोत्रं प्रपञ्चो हास्यकृन्मतः ॥१५॥

प्रपंच—असत्कर्मों के कारण आपस में हास्योत्पादक प्रशंसा करने का नाम प्रपंच है ॥१५॥

असत्कर्म के अन्दर परस्त्रीगमन में निपुण होना आदि बातें आती हैं।

जैसे 'कर्पूर मंजरी' में भैरवानन्द का यह कथन—"कौन ऐसा व्यक्ति होगा जिसको हमारा कौल धर्म पसन्द न आए ? रण्डा (विधवा), चण्ड अर्थात् प्रचण्ड पराक्रमशालिनी स्त्री ही तो हमारी शास्त्रविहित नारियाँ हैं। भिक्षाटन ही जीविका का साधन है। चर्म का टुकड़ा ही हमारी शैया है तथा मद्य और मांस ही हमारा पेय तथा खाद्य पदार्थ है।"

श्रुतिसाम्यादनेकार्थयोजनं त्रिगतं त्विह ।
नटादित्रितयालापः पूर्वरंगे तदिष्यते ॥१६॥

त्रिगत—शब्दों की साम्यता अर्थात् जहाँ एक उच्चारण से अनेक अर्थों की योजना होती है उसे त्रिगत कहते हैं। इसका प्रयोजन पूर्व रंग में नट आदि तीन पात्रों की बातचीत से होता है ॥१६॥

जैसे 'विक्रमोर्वशी' नाटक में—"क्या यह फूलों का रस पीकर मदोन्मत्त भौंरों की गुंजार है, या कोयल की मस्तानी कूक ? अथवा आकाश में देवताओं के साथ आई हुई अप्सराओं की मीठी तान ?"

प्रियाभैरप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्य छलनाच्छलम् ।

छलन—ऊपर से देखने में जो प्रिय लगे, पर हो अप्रिय, ऐसे वाक्यों द्वारा लुभा करके छलने (ठगने) का नाम छलन है।

जैसे भीम-अर्जुन—"द्यूतरूपी कपट का निर्माता, लाख (लाह) निर्मित भवन में आग लगानेवाला, द्रौपदी के केश और वस्त्रों के अपहरण करने में वायु के समान पराक्रम को दिखानेवाला, पाण्डव जिनके सेवक हैं

और दुःशासन आदि सौ भाइयों में ज्येष्ठ कर्ण का मित्र दुर्योधन कहाँ है ?"

विनिवृत्त्यास्य वाक्केली द्विधिः प्रत्युक्तितोऽपि वा ॥१७॥

वाक्केली—इसके दो भेद होते हैं। पहले का लक्षण—प्रकरण प्राप्त बात को कहते-कहते रुक जाना या उसको बदल देने को वाक्केली कहते हैं ॥१७॥

जैसे 'उत्तररामचरित' में वासन्ती राम से कह रही है कि आपने जिस सीता से यह कहा था कि "तुम ही मेरा जीवन-सर्वस्व हो, तुम्हीं मेरा दूसरा हृदय हो, तुम्हीं मेरे नेत्रों के लिए कौमुदी हो, और तुम्हीं मेरे अंगों के लिए अमृत हो, उसी सीता को इस प्रकार से सैकड़ों चाटुकारिता-भरी बातें करके और भरमाकर उसकी जो दशा (आपके द्वारा) की गई उसका न कहना ही ठीक है।"

वाक्केली का दूसरा लक्षण—दो-तीन व्यक्तियों की हास्ययुक्त उक्ति-

भीम भी धृतराष्ट्र और गान्धारी को प्रणाम करते हुए कहते हैं—

यहाँ से आरम्भ कर फिर दुर्योधन के इस कथन तक—"अरे नीच, मैं तेरे जैसा डींग हांकनेवाला नहीं हूँ, किन्तु शीघ्र ही तेरे भाई-बन्धु तुझे समराङ्गण के बीच मेरी गदा से टूटी पसलियों के भयानक आभूषण से सुसज्जित शीघ्र ही देखेंगे।"

यहाँ पर भीम और दुर्योधन का एक-दूसरे के प्रति बढ़-चढ़कर स्पर्धा के साथ वाक्युद्ध का होना ही अधिबल है।

गण्डः प्रस्तुतसंबन्धिभिन्नार्थं सहसोदितम् ॥१८॥

गण्ड—प्राकरणिक विषय से सम्बन्धित भिन्न अर्थ को प्रकट करने वाले त्वरायुक्त वाक्य को गण्ड कहते हैं ॥ १८ ॥

जैसे—'उत्तररामचरित' में—"यह सीता घर की लक्ष्मी है, यह नेत्रों में अमृतशलाका है, इसका यह स्पर्श शरीर में प्रचुर चन्दन का रस के समान है और यह बाहु-गले पर शीतल और कोमल मुक्ता हार है। इसकी क्या वस्तु प्रियतर नहीं है ? परन्तु इसका वियोग तो बहुत ही असहनीय है।"

प्रतिहारी (प्रवेश कर)—महाराज, उपस्थित है।

राम—अरी कौन उपस्थित है ?

प्रतिहारी—महाराज का समीपवर्ती सेवक दुर्मुख।"

रसोक्तस्यान्यथा व्याख्या यत्रावस्यन्दितं हि तत्।

अवस्यन्दित रस में कहे हुए वाक्य का दूसरे ही प्रकार से दूसरी ही व्याख्या कर देने (लेने) को अवस्यन्दित कहते हैं।

जैसे—'छलित राम' नाटक में "सीता लव और कुश दोनों बच्चों से कहती हैं—बेटा, तुम लोगों को कल अयोध्या जाना है। वहाँ उस राजा को नम्रतापूर्वक प्रणाम करना।

लव—माताजी, क्या हम लोगों को भी राजा के आश्रित होकर रहना पड़ेगा ?

सीता—बच्चो, वे तुम लोगों के पिता हैं।

लव—क्या रामचन्द्र हम लोगों के पिता हैं ?

सीता—(सशङ्क होकर) केवल तुम्हीं दोनों के नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व के पिता हैं।"

सोपहासा निगूढार्था नालिकेव प्रहेलिका ॥१६॥

नालिका—उपहासपूर्ण गूढ भाववाली पहेली को नालिका कहते हैं। १६ ॥

जैसे 'मुद्राराक्षस' नाटक में—चर—अरे ब्राह्मण, कुपित मत होओ, सभी सब-कुछ नहीं जानते, कुछ तेरे गुरु जानते हैं और कुछ मेरे ऐसे व्यक्ति भी जानते हैं।

शिष्य—(क्रोध के साथ) क्या तू गुरुजी की सर्वज्ञता नष्ट करना चाहता है ?

चर—अरे ब्राह्मण, यदि तेरा गुरु सब-कुछ जानता है तो बताए चन्द्र किसको प्रिय नहीं है ?

शिष्य—मूर्ख, इन बेकार की बातों की जानकारी की, क्या आवश्यकता ?

इन बातों को सुनकर चाणक्य समझ गया कि इसके (चर के) कहने का तात्पर्य यह है कि 'मैं चन्द्रगुप्त के शत्रुओं को जानता हूँ।'

असंबद्धकथाप्रायोऽसत्प्रलापो यथोत्तरः ।

असत्प्रलाप—असम्बद्ध बे-सिर-पैर की बात कहने को असत्प्रलाप कहते हैं।

स्वप्न में बरराते हुए की, पागल की, उन्मत्त की और शिशु आदि की कही हुई ऊँटपटांग बातें इसमें आती हैं।

जैसे—"वासुकि सर्प के मुँह में हाथ डालकर मुँह को फैलाकर विष से विमित दांतों को अंगुली से छू-छूकर एक, तीन, नव, सात, छः इस प्रकार से क्रमरहित गिनी जाती हुई भगवान् स्वामि कार्तिकेय की बाल्यावस्था की तोतली बोली आप लोगों की रक्षा करे।"

अथवा जैसे—"राजा हाथ जोडकर हस से कहता है—हे हस, मेरी जिस प्यारी की चाल तुमने चुरा ली है उसे मुझे लौटा दो क्योंकि चोर के पास यदि चोरी की हुई एक भी वस्तु मिल जाए तो उसे पूरे को लौटाना पड़ता है।"

अथवा जैसे—कोई प्रलापी कह रहा है—

"मैंने पर्वतों को खाया है, मैंने अग्नि मे स्नान भी किया है इसके अलावा ब्रह्मा, विष्णु और शिव ऐसे पुत्रों को भी पैदा किया है। बस इसी खुशी मे आनन्द के साथ नाच रहा हूँ।"

अन्यार्थमेव व्याहारो हास्यलोभकरं वचः ॥२०॥

व्याहार—दूसरे की प्रयोजन-सिद्धि के लिए हास्यपूर्ण और लोभ-जनक वचन बोलने को व्याहार कहते हैं ॥ २० ॥

जैसे 'मालविकाग्निमित्र' मे लास्य के प्रयोग के बाद मालविका जाना चाहती है, उसको जाते देख विदूषक कहता है—अभी नहीं, थोडी देर रुकके उपदेश सुनकर जाओ। यहां से शुरू करके [गणदास और विदूषक के उत्तर-प्रत्युत्तर पर्यन्त] गणदास विदूषक से कहता है—आर्य, यदि आपने इनके इस कार्य मे कोई क्रमभेद पाया हो तो कहिए।

विदूषक—सर्वप्रथम ब्राह्मण की पूजा का विधान है, इसका अवश्य इन्होंने उल्लघन किया है।

यह सुनकर मालविका हँसने लगती है। यहां पर हास्य और लोभ-कारी वचन कहे जाने का मुख्य उद्देश्य नायक को विश्रब्ध नायिका का दर्शन कराना है, अत यह व्याहार है।

दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्युर्मृदवं हि तत् ।

मृदव—जहां दोष को गुण और गुण को दोष समझा जाता हो ऐसे वर्णन को मृदव कहते हैं।

जैसे 'अभिज्ञानशाकुन्तल' मे सेनापति महाराज दुष्यन्त से कहता है—महाराज, यह व्यर्थ की बात करता है। महाराज, आप स्वय इस आखेट का गुण देख ही रहे हैं—

"आखेट से चर्बी घट जाती है, तोंद छोटी हो जाती है, शरीर हलका और फुर्तीला हो जाता है (चुस्ती आ जाती है), पशुओं के मुँह पर जो भय और क्रोध दिखाई देता है उसका ज्ञान होता है, और चलते हुए लक्ष्यों पर बाण चलाने से हाथ सध जाता है। लोग व्यर्थ में ही आखेट को बुरा कहते हैं। भला इतना मनोविनोदन और कहाँ मिल सकता है ?"[१]

और भी जैसे—"इस विजेता राजा पर तो जरा दृष्टिपात करिए, इसका चित्त राज्य आदि के झंझटों में पड़कर सर्वदा अशान्त बना रहता है और यह अनेक प्रकार के परिश्रम के कारण कष्ट सहता रहता है। चिन्ता के मारे इसे रात को भरपेट नींद भी नहीं आती। यह राज्य के मामलों में इतना सशंक रहता है कि किसी पर विश्वास नहीं करता।"

यहाँ राज्य के गुण को दोष-रूप में वर्णन किया गया है।

अब एक ही पद्य में दोनों बातें अर्थात् दोष को गुण और गुण को दोष बताया जाता है—

"सदाचार का पालन करनेवाले महात्मा लोग सर्वदा आपत्तियों में ही पड़े रहते हैं। और सदा इस बात से सशंकित रहते हैं कि कहीं कोई उनके चरित्र में दोष न निकाल दे। उनका जीवन ही सतत परोपकारपरायण रहने के कारण दुःखमय बना रहता है। इससे तो अच्छा साधारण पुरुष का जीवन है—मूर्खों को, कुछ अच्छा हुआ तो, बुरा हुआ तो, उन्हें हर्ष-विषाद नहीं होता। इसलिए मेरी दृष्टि में क्या युक्त है, क्या अयुक्त है, इस ज्ञान से मुक्त व्यक्ति ही धन्य है और उसका ही जीवन सुखकर है।"

एषामन्यतमेनार्थं पात्रं चाक्षिप्य सूत्रभृत् ॥२१॥
प्रस्तावनान्ते निर्गच्छेत्ततो वस्तु प्रपञ्चयेत् ।

उपर्युक्त बताए हुए वीथी के अंगों में से किसी एक के द्वारा अर्थ

१. यहाँ पर आखेट का दोष गुण रूप से वर्णित है।

और पात्र का प्रस्ताव करके प्रस्तावना के अंत में सूत्रधार को चला जाना चाहिए। और उसके बाद कथावस्तु का अभिनय आरम्भ हो जाना चाहिए ॥२१॥

अभिगम्यगुणैर्युक्तो धीरोदात्तः प्रतापवान् ॥२२॥
कीर्तिकामो महोत्साहस्त्रय्यास्त्राता महीपतिः ।
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्दिव्यो वा यत्र नायकः ॥२३॥
तत्प्रख्यातं विधातव्यं वृत्तमत्राधिकारिकम् ।

नाटक का नायक धीरोदात्त होना चाहिए। नायक के अन्दर अच्छे-अच्छे गुण, प्रताप और कीर्ति प्राप्त करने की इच्छा, महान् उत्साह-सम्पन्न और वेद का रक्षक होना चाहिए। इसके अलावा उसका जन्म उच्च वंश में होना चाहिए। नाटक का नायक राजा या राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष होना चाहिए ॥२२-२३॥

ऊपर कहे हुए गुणों से युक्त नायक जिस प्रसिद्ध कथा में हो वही कथा नाटक की आधिकारिक कथा कही जाती है।

जिस इतिवृत्त (कथावस्तु) में सत्यवादिता, कौटिल्यरहित श्रेष्ठ नीतिज्ञता, आदि से युक्त राजा, राजर्षि या दिव्य पुरुष का चरित वर्णन हो, उसी प्रधान कथा को नाटक की प्रधान कथावस्तु रखना चाहिए। इसके अलावा एक शर्त इसमें यह भी है कि उस कथा का वर्णन रामायण या महाभारत में अवश्य हुआ हो, तभी वह और गुणों से युक्त होते हुए नाटक की प्रधान कथावस्तु हो सकती है।

यत्तत्रानुचितं किंचिन्नायकस्य रसस्य वा ॥२४॥
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ।

उस कथावस्तु के भीतर यदि कहीं नायक के गुण या नाटकीय रस का विरोधी वृत्तान्त दिखाई देता हो तो उसे छोड़ देना चाहिए अथवा यदि उसे वर्णन करने की इच्छा ही हो तो उसे ऐसे ढंग से वर्णन करे ताकि विरुद्धता न लक्षित होती हो ॥२४॥

जैसे 'उदात्त राघव' नाटक के प्रणेता ने अपने नाटक मे छल के साथ वालि के वध का वृत्तान्त हटा दिया है। और 'महावीरचरित' नाटक मे तो कवि ने इस प्रकार से वर्णन किया है कि वालि रावण का मित्र था और राम-रावण युद्ध मे रावण की तरफ से राम से लडने गया था, पर स्वय मारा गया। इस प्रकार यहाँ पर कथा को ही अन्यथा करके वर्णन किया गया है।

आद्यन्तमेवं निश्चित्य पञ्चधा तद्विभज्य च ।।२५।।
खण्डश: संधिसंज्ञाश्च विभागानपि खण्डयेत् ।

नाटक की रचना करते समय आदि और अन्त का निश्चय कर आधिकारिक कथा को पाँच भागो मे विभक्त कर प्रत्येक खण्डों की सधि सज्ञा देनी चाहिए। उसके बाद पांचों खण्डों (सधियो) मे से प्रत्येक को अनेक भागो मे बांट देना चाहिए ।।२५।।

अनुचित और विरोधी रसो को छोडकर युद्ध सूचनीय और दर्शनीय वस्तुओ का विभाग फल के अनुसार विहित बीज, बिन्दु, पताका प्रकरी और कार्य, इनको आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति फलागम, इन पाँच अवस्थाओं के अनुकूल पाँच सधियो मे विभक्त करना चाहिए।

चतु:षष्टिस्तु तानि स्युरङ्गानीत्यपरं तथा ।।२६।।
पताकावृत्तमप्यूनमेकाद्यैरनुसंधिभिः ।

इसके बाद सधियो के प्रत्येक भाग को बारह, तेरह, चौदह इत्यादि भागों मे विभक्त करना चाहिए। इस प्रकार से सधियों के ६४ अग होते हैं ।।२६।।

ऊपर आधिकारिक कथा की बात आ चुकी है, अब कथावस्तु का दूसरा भेद अर्थात् प्रासगिक कथा के बारे मे बताते हैं।

अङ्गान्यत्र यथालाभमसंधि प्रकरीं न्यसेत् ।।२७।।

प्रासगिक इतिवृत्त दो प्रकार का होता है—१. पताका और २ प्रकरी। पताका मे प्रधान (आधिकारिक) कथावस्तु की अपेक्षा कुछ

(एक, दो या तीन) कम संधियों को रखना चाहिए। और प्रकरी में तो इतिवृत्त के प्रति अल्प होने के कारण संधि की योग्यता ही नहीं है ॥२७॥

आदौ विष्कम्भकं कुर्यादङ्कं वा कार्ययुक्तितः ।

इस प्रकार से सब विभाग आदि कर चुकने के बाद प्रस्तावना के अनन्तर काव्य-व्यापार को ध्यान मे रखकर युक्ति के साथ आदि मे विष्कभक या अंक की रचना करे।

विष्कभक और अक की रचना किस प्रकार से होनी चाहिए, इस बात को बताते हैं—

अपेक्षितं परित्यज्य नीरसं वस्तुविस्तरम् ॥२८॥
यदा संदर्शयेच्छेषं कुर्याद्विष्कम्भकं तदा ।
यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते ॥२६॥
आदावेव तदाङ्कः स्यादामुखाक्षेपसंश्रयः ।

वस्तु के उस विस्तृत भाग को, जो अपेक्षित भी हो और नीरस भी हो छोड़कर अवशिष्ट अपेक्षित भाग से विष्कभक की रचना होनी चाहिए। और जहाँ पर सरस वस्तु आरम्भ से ही हो वहाँ पर आमुख में की गई सूचना का आश्रय लेकर अक की रचना करनी चाहिए ॥२८-२६॥

प्रत्यक्षनेतृचरितो बिन्दुव्याप्तिपुरस्कृतः ॥३०॥
अङ्को नानाप्रकारार्थसंविधानरसाश्रयः ।

अक — इसमें नायक के कार्यों का प्रत्यक्ष वर्णन रहता है। यह बिन्दु के लक्षण से युक्त तथा अनेक प्रकार के प्रयोजन का करनेवाला तथा रस का आश्रय होता है। रस के आश्रय होने के कारण इसका नाम अक पड़ा है ॥३०॥

इसके अक नामकरण का तात्पर्य यह है कि जैसे उत्सग (गोद) किसी बच्चे के बैठने के लिए आश्रय होता है, वैसे ही यह (अक) भी रसो के बैठने (रहने) के लिए आश्रय होता है, इसीसे इसको अक कहते हैं।

अनुभावविभावाभ्यां स्थायिना व्यभिचारिभिः ॥३१॥
गृहीतमुक्तैः कर्तव्यमाङ्गिनः परिपोषणम् ।

इसमे भी विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव तथा स्थायीभावों के द्वारा अंगी (प्रधान) रस को पुष्ट करना चाहिए। कारिका मे 'अगिन', पद आया है, इसका अर्थ है 'अंगी रस का स्थायीभाव'। 'गृहीतमुक्तैः' का अर्थ है, 'परस्पर मिले हुए'। 'स्थायिना' का अर्थ 'अन्य रस का स्थायी' होता है ॥३१॥

न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत् ॥३२॥
रसं वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलंकारलक्षणैः ।

नाटकों को रसपूर्ण तो होना ही चाहिए, पर रस का इतना आधिक्य न होना चाहिए कि कथावस्तु का प्रवाह ही विच्छिन्न हो जाए और इसी प्रकार नाटक-रचना मे वस्तु और अलंकार तो रहना चाहिए पर ऐसा न हो जाए कि वस्तु और अलंकार के ही चक्कर मे पडकर रस ही गायब (नष्ट) हो जाए ॥३२॥

एको रसोऽङ्गीकर्तव्यो वीरः शृंगार एव वा ॥३३॥
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कुर्यान्निर्वहणेऽद्भुतम् ।

नाटक मे प्रधानता एक ही रस की होनी चाहिए, वह चाहे शृंगार हो या वीर ॥३३॥

[*तात्पर्य यह है कि नाटक-भर मे केवल एक रस की प्रधानता होती है*] और नाटक मे आये हुए अन्य रसों को प्रधान रस के अंग रूप मे ही रखना चाहिए। इसके अलावा नाटक मे जहां निर्वहण संधि का स्थल हो वहां पर अद्भुत रस की रचना होनी चाहिए।

प्रश्न—यदि कोई यह कहे कि पहले ३१वीं कारिका मे 'स्थायिना' (स्थायी के द्वारा) आया है उसका तो अर्थ 'अन्यरस का स्थायी' होता है, इसलिए इस ३१वीं कारिका के द्वारा अन्य रसो को प्रधान रस का अग होना चाहिए, यह बात कही जा चुकी है, फिर यहां पर ३३वीं

कारिका मे फिर "अङ्गमन्येरसा सर्वेकुर्यान्निर्वहणेऽद्भुतम्" इत्यादि से उसी बात को दोहराने से क्या लाभ है ?

उत्तर—ऐसी शका करना ठीक नही है, क्योकि दोनो स्थानो पर *अलग-अलग लिखे जाने का भाव भी अलग-अलग है*—जहाँ पर अन्य रस का स्थायीभाव अपने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव प्राचुर्येण हो, वहाँ अन्य रसो को प्रधान रस की अगता प्राप्त होती है अन्यथा केवल स्थायी रहने पर तो व्यभिचारी मात्र ही रहते हैं।

नाटक मे निम्नलिखित बातो को नही दिखलाना चाहिए—

दूराध्वानं वधं युद्धं राज्यदेशादिविप्लवम् ।।३४।।
संरोध भोजनं स्नानं सुरतं चानुलेपनम् ।
अम्बरग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत् ।।३५।।

दूर का रास्ता, वध, युद्ध, राज्य-विप्लव, देश-विप्लव आदि और दूसरे राजा से किया गया नगर का घेरा, भोजन, स्नान, सुरत, अनुलेपन और वस्त्रधारण करना इत्यादि, इन सब बातों को प्रत्यक्ष रूप से नहीं दिखाना चाहिए, किन्तु प्रवेशक आदि के द्वारा सूचित कर देना चाहिए। ।।३४-३५।।

नाधिकारिवधं क्वापि त्याज्यमावश्यकं न च ।

कथावस्तु के प्रधान नायक की वध दिखाने की बात दूर रही, प्रवेशक आदि से भी उसकी सूचना न होनी चाहिए और आवश्यकीय देवकार्य, पितृकार्य आदि को कभी भी नहीं छोड़ना चाहिए। उनका दिखाना आवश्यक है।

एकाहाचरितैकार्थमित्थमासन्ननायकम् ।।३६।।
पार्श्वस्थितैस्त्रिचतुरैरङ्कं तेषामन्तेऽस्य निर्गमः ।

एक अंक में प्रयोजन से सम्बन्धित एक ही दिन की कथा होनी चाहिए। साथ नायक को भी अंक मे अवश्य उपस्थित रखना चाहिए ।।३६।।

नायक के अतिरिक्त तीन या चार पात्रों को रहना चाहिए। अन्त मे सबको (यहाँ तक कि नायक) को भी निकल जाना चाहिए।

पताकास्थानकान्यत्र बिन्दुरन्ते च बीजवत् ॥३७॥
एवमङ्काः प्रकर्तव्याः प्रवेशादिपुरस्कृताः।
पञ्चाङ्कमेतदवरं दशाङ्कं नाटकं परम् ॥३८॥

इसी प्रकार यथोचित स्थान पर पताकास्थानक तथा बीज के ही सदृश बिन्दु को भी रखना चाहिए। बिन्दु की रचना अंकों के अन्त मे होनी चाहिए। इस प्रकार से प्रवेशक आदि के साथ अंकों की रचना करनी चाहिए। नाटक कम-से कम पाँच अंकों का तथा अधिक-से-अधिक दस अंक का होना चाहिए ॥३७-३८॥

इसके बाद प्रकरण-नामक रूपक-भेद को बताते हैं—

अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्यं लोकसंश्रयम्।
अमात्यविप्रवणिजामेकं कुर्याच्च नायकम् ॥३९॥
धीरप्रशान्तं सापायं धर्मकामार्थतत्परम्।
शेषं नाटकवत्संधिप्रवेशकरसादिकम् ॥४०॥

प्रकरण—इसकी कथावस्तु लौकिक तथा कविकल्पित होती है। इसका नायक धीरशान्त होता है। इसके नायक ब्राह्मण, मन्त्री, वैश्य, इनमे से कोई एक होते हैं। इसका नायक धर्म, अर्थ काम और मोक्ष मे तत्पर रहता है। *यह (नायक) विघ्न-बाधाओं का सामना करते हुए* अपनी इच्छापूर्ति मे लगा रहता है। इसमे (प्रकरण मे) शेष बातें जैसे सन्धि, प्रवेशक तथा रस आदि को नाटक के समान ही रखा जाता है ॥४०॥

नायिका तु द्विधा नेतुः कुलस्त्री गणिका तथा।
क्वचिदेकैव कुलजा वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित् ॥४१॥
कुलजाभ्यन्तरा बाह्या वेश्या नातिक्रमोऽनयोः।
आभिः प्रकरणं त्रेधा संकीर्णं धूर्तसंकुलम् ॥४२॥

प्रकरण मे नायक की गणिका, कुलजा, दोनों प्रकार की नायिका विहित हैं। कहीं पर कुलजा (कुलीन), कहीं पर गणिका और कहीं पर दोनों ही नायक की नायिका होती हैं। प्रकरण मे तीन ही प्रकार की नायिकाएं हो सकती हैं। इससे अधिक भेद नहीं किया जा सकता। इस नियम का उल्लंघन कदापि नहीं किया जा सकता। इस प्रकार प्रकरण के कुल तीन भेद हुए—पहला, जिसमे कुलकन्या नायिका होती है, वह शुद्ध भेद हुआ। जिसमे गणिका हो वह विकृत तथा जिसमे दोनों हो उसे सकीर्ण कहते हैं ॥४१-४२॥

अर्थ पैदा करना ही जिसके जीवन का प्रधान कर्म है उसे वेश्या कहते हैं, इसीमे कुछ और विशेषता आ जाती है तो गणिका शब्द से अभिहित हो जाती है। जैसे कहा भी है—

सामान्य वेश्याओ मे श्रेष्ठ, रूप, शील और गुणो से युक्त वेश्या समाज के द्वारा गणिका शब्द की ख्याति को प्राप्त करती है।

जैसे—'तरगदत्त' की नायिका वेश्या है 'पुष्पदूतिका' और 'मालती माधव' की नायिकाएं कुलजा हैं तथा 'मृच्छकटिक' की नायिका दोनो (कुलजा और वेश्या) दोनो हैं, अर्थात् सकीर्ण हैं। 'मृच्छकटिक' की नायिका वसन्तसेना जन्म से वेश्या है पर उसका आचरण कुलजा-सा है। वह वेश्या-कर्म से घृणा करती है और अपना जीवन एक कुलीन सती नारी की तरह आर्य चारुदत्त से विवाह कर बिताना चाहती है। अत इसमे दोनो का मिश्रण होने से सकीर्णता है। 'मृच्छकटिक' मे धूर्त, जुआरी, विट, चेट, आदि भरे हैं। ऐसे सकीर्ण प्रकरण मे धूर्त, जुआरी, विट आदि का वर्णन करना आवश्यक है।

लक्ष्यते नाटिकाप्यत्र संकीर्णान्यनिवृत्तये।

नाटिका—नाटक और प्रकरण से मिश्रित उपरूपक को नाटिका कहते हैं। नाटिका उपरूपको के १८ भेदो मे का प्रथम भेद है। नाटक और प्रकरण के सकीर्णों मे से यदि कोई समझा जाए तो नाटिका ही एक मात्र सकीर्ण भेद है। अन्य उपरूपक (प्रकरणिका) नहीं। यदि अन्य उप-

रूपकों की निवृत्ति के लिए अन्य उपरूपकों के साथ इसे न रखकर नाटक और प्रकरण के बाद ही इसे रखा गया।

कुछ लोगों का विचार है कि "नाटक और प्रकरण के मिश्रित" नाटिका और प्रकरणिका दो भेद होते हैं, पर अगर मिश्रित करके समझा जाए तो प्रसिद्ध नाटिका ही है प्रकरणिका नहीं।

यद्यपि उपर्युक्त भरतमुनि-विरचित श्लोक की 'नाटी' सज्ञावाले काव्य के दो भेद होते हैं। उनमे का एक भेद प्रसिद्ध है जिसे नाटिका शब्द से कहा जाता है और दूसरा भेद प्रकरणिका है। इस प्रकार की व्याख्या कुछ लोग करते हैं सो ठीक है। कारण यह है कि लक्षण और लक्ष्य ये दोनो जब तक न मिलें तब तक चीज प्रामाणिक नही मानी जाती है। प्रकरणिका कह देने मात्र से उसका अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता है जब तक उसका लक्षण कहीं न घटे।

नाटिका और प्रकरणिका दोनो का समान लक्षण होने से दोनो मे कोई भेद नहीं है। अगर कोई कहे कि प्रकरणिका और प्रकरण मे वस्तु, रस और नायक एक ही जैसे होते हैं, अत प्रकरणिका ही मानना ठीक है। तो इसका उत्तर यह है—तो फिर प्रकरण के अतिरिक्त प्रकरणिका को अलग मानना व्यर्थ है क्योंकि दोनों एक ही चीज हैं। इसलिए नाटिका का नाम पृथक् न गिनाने पर भी भरतमुनि ने जो लक्षण किया है उसका अभिप्राय यह है—"शुद्ध लक्षण के सकर से ही सकीर्ण का लक्षण स्वत सिद्ध था, फिर भी सकीर्ण का लक्षण भरतमुनि ने जो बनाया वह व्यर्थ पड़ता है और व्यर्थ पड़ के ज्ञापन करता है कि सकीर्णों मे यदि किसी की गणना हो तो बस नाटिका की ही।"

नाटक प्रकरण के मेल से कैसे प्रकरणिका बनती है, इस बात को बताते हैं—

तत्र वस्तु प्रकरणान्नाटकान्नायको नृपः ॥४३॥

प्रख्यातो धीरललितः शृङ्गारोऽङ्गी सलक्षणः।

नाटिका का इतिवृत्त प्रकरण से और नायक राजा आदि नाटक से

लेना चाहिए। नायक को ख्यातिलब्ध तथा सुन्दर लक्षणों से युक्त धीर-ललित होना चाहिए। नाटिका मे प्रधान रस शृगार को ही रखना चाहिए ॥४३॥

नाटक, प्रकरण और नाटिका, इन तीनो से वस्तु आदि के द्वारा प्रकरणिका मे कोई भेद नहीं है। अर्थात इन तीनो मे आनेवाली वस्तुओ के अतिरिक्त प्रकरणिका मे कोई भी विशेपता नही रह जाती। अत उसके मानने की कोई आवश्यकता नही है। फिर भी—

स्त्रीप्रायचतुरङ्कादिभेदकं यदि चेष्यते ॥४४॥

एकद्वित्र्यङ्कपात्रादिभेदेनानन्तरूपता ।

यदि कोई इस प्रकार से कहे—"अंक आदि के भेद से प्रकरणिका को नाटिका से अलग मानना चाहिए, क्योंकि नाटिका में स्त्रियों की प्रधानता रहती है और कैशिकी वृत्ति होती है और विमर्श सन्धि अति अल्प तथा शेष चारो सन्धियां रहती हैं।" तो इसका उत्तर यह है कि यदि अक, पात्र आदि के न्यूनाधिक्य से भेद मानने लगेंगे तब तो रूपकों के भेद की कोई सीमा ही नहीं रह जाएगी और ऐसा होने से बडा अनर्थ होगा। अत प्रकरणिका को अलग मानने की कोई आवश्यकता नहीं है ॥४४॥

नाटिका मे और कौन-कौनसी विशेपता होती है या रहती है, इस बात को बताते हैं—

देवी तत्र भवेज्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ॥४५॥
गम्भीरा मानिनी कृच्छ्रात्तद्वशान्नेतृसंगम. ।
नायिका तादृशी मुग्धा दिव्या चातिमनोहरा ॥४६॥
अन्तःपुरादिसंबन्धादासन्ना श्रुतिदर्शनैः ।
अनुरागो नवावस्थो नेतुस्तस्यां यथोत्तरम् ॥४७॥
नेता तत्र प्रवर्तेत देवीत्रासेन शङ्कितः ।
कैशिक्यङ्गैश्चतुर्भिश्च युक्ताङ्कैरिव नाटिका ॥४८॥

नाटिका मे महारानी राजवंश की प्रगल्भा नायिका होती है। वही ज्येष्ठा होती है। उसका स्वभाव गम्भीर होता है और वह पद-पद पर मान करनेवाली होती है। द्वितीय नायिका भी महारानी के ही वंश-परिवार की रहती है और उसके साथ नायक का मिलन कठिनाई के साथ हुआ करता है। नायक की दूसरी नायिका, जिसके प्रेम मे वह दीवाना बना रहता है, वह भी राजकुमारी ही होती है। इसका रूप अत्यन्त सुन्दर और मन को मोह लेनेवाला होता है। अवस्था की दृष्टि से यह मुग्धा होती है। इसका सम्बन्ध राजमहल से लगा रहता है। अन्त पुर मे उसके गाने आदि के देखने-सुनने से आकृष्ट हुआ नायक पहली नायिका महारानी से छिपकर डरते-डरते उससे प्रेम करता है। यह प्रेम उत्तरोत्तर बढता ही जाता है। कैशिकी वृत्ति के चारो अगो को नाटिका के चारों अकों से रचना करनी चाहिए। नाटिका के भीतर चार अक होने चाहिए ॥४५-४८॥

> भाणस्तु धूर्तचरितं स्वानुभूतं परेण वा ।
> यत्रोपवर्णयेदेको निपुणः पण्डितो विटः ॥४९॥
> संबोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः ।
> सूचयेद्वीरशृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यसंस्तवैः ॥५०॥
> भूयसा भारती वृत्तिरेकाङ्कं वस्तु कल्पितम् ।
> मुखनिर्वहणे साङ्गे लास्याङ्गानि दशापि च ॥५१॥

भाण—इसमें केवल एक ही पात्र होता है। यह कोई बुद्धिमान कार्यकुशल विट होता है। यह अपने तथा दूसरे के धूर्ततापूर्ण कार्यों का वर्णन करता है। इसका वर्णन वार्तालाप के रूप में होता है। यह किसी व्यक्ति की कल्पना करके उसको सम्बोधित करके कुछ कहता है और उसका मन से कुछ उत्तर बिठाकर फिर उसका उत्तर देता है। इस प्रकार सम्बोधन और उक्ति प्रत्युक्ति के कारण उसकी कल्पित व्यक्ति से बातचीत चलती है। इस प्रकार की बातचीत को 'आकाशभाषित'

कहते हैं। शौर्य और सौभाग्य के वर्णन द्वारा यह वीर और शृंगार रस को सूचित करता है। इसमे (भाण मे) भारती वृत्ति की अधिकता रहती है। यह एक का होता है और इसकी कथा कविकल्पित होती है। इसमे मुख तथा निर्वहण सन्धि अपने अगों के साथ रहती हैं।

इसके अलावा लास्य के निम्नलिखित दस अग भी इसमे व्यवहृत होते हैं ॥४६-५१॥

गेयं पदं स्थितं पाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका ।
प्रच्छेदकस्त्रिगूढं च सैन्धवाख्यं द्विगूढकम् ॥५२॥
उत्तमोत्तमकं चैव उक्तप्रत्युक्तमेव च ।
लास्ये दशविधं ह्येतदङ्गनिर्देशकल्पनम् ॥५३॥

लास्य के अग—ये दस अग हैं—१ गेयपद २. स्थित पाठ्य, ३. आसीन, ४ पुष्पगण्डिका, ५. प्रच्छेदक, ६. त्रिगूढ, ७ सैन्धव, ८ द्विगूढ, ९. उत्तमोत्तमक और १० उक्तप्रत्युक्त ॥५२-५३॥

तद्वत्प्रहसनं त्रेधा शुद्धवैकृतसंकरैः ।

प्रहसन—भाण के ही समान प्रहसन भी होता है। भाण के ही समान इसमें कथावस्तु, सन्धि, सन्धियों के अग और लास्य आदि भी होते हैं। यह तीन प्रकार का होता है—१. शुद्ध, २. विकृत और ३ सकर।

पाखण्डिविप्रप्रभृतिचेटचेटीविटाकुलम् ॥५४॥
चेष्टितं वेषभाषाभिः शुद्धं हास्यवचोन्वितम् ।

शुद्ध प्रहसन—पाखण्डी, ब्रह्मचारी, संन्यासी, तपस्वी, पुरोहित, चेट, चेटी और विट इनसे भरा हुआ रहता है। नायक तो सीधा ब्राह्मण, ब्रह्मचारी, सन्यासी, तपस्वी, पुरोहित आदि हुआ करते हैं। इसका व्यापार चेट और चेटी के व्यवहार से युक्त होता है। इसमें अङ्गीरस (प्रधान रस) हास्य होता है। इसका उद्देश्य सामाजिकों के भीतर हास्य को पैदा करना रहता है ॥५४॥

कामुकादिवचोवेषैः पण्डकञ्चुकितापसैः ॥५५॥
विकृतं संकराद्वीथ्या संकीर्णं धूर्तसंकुलम् ।
रसस्तु भूयसा कार्यः षड्विधो हास्य एव तु ॥५६॥

विकृत प्रहसन—इस प्रहसन मे नपुसक, कञ्चुकी और तपस्वी लोग कामुकों के वेश मे तथा कामुकों की तरह बातचीत आदि व्यवहार करते दिखाए जाते हैं ॥५५॥

संकीर्ण—यह धूर्तों से भरा रहता है। इसमें वीथी के तेरहों अग रहते हैं। वीथी के अगों की संकीर्णता के कारण ही इसे सकीर्ण कहते हैं। इसमे रस की प्रचुरता रहती है और हास्य के छहों भेद होते हैं ॥५६॥

डिमे वस्तु प्रसिद्धं स्याद्वृत्तयः कैशिकीं विना ।
नेतारो देवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगाः ॥५७॥
भूतप्रेतपिशाचाद्याः षोडशात्यन्तमुद्धताः ।
रसैरहास्यशृङ्गारैः षड्भिर्दीप्तैः समन्वितः ॥५८॥
मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ।
चन्द्रसूर्योपरागैश्च न्याय्ये रौद्ररसेऽङ्गिनिः ॥५९॥
चतुरङ्कश्चतु.संधिर्निविमर्शो डिमः स्मृतः ।

डिम—डिम, अर्थात् अनेक नायकों का सघात। इसकी कथावस्तु इतिहास प्रसिद्ध होती है। इसमे कैशिकी के अलावा शेष सभी वृत्तियों का प्रयोग होता है। इसके नेता देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, महोरग, भूत, प्रेत, पिशाच आदि सोलह होते हैं। इसमे हास्य और शृगार के अलावा शेष छहों रसों का भी प्रयोग किया जाता है। यह माया, इन्द्रजाल, सग्राम, क्रोध, उन्मत्त आदि की चेष्टाओं तथा सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण आदि बातों से भरा रहता है। इसमे चार अंक और चार ही सन्धियाँ होती हैं। विमर्श सन्धि इसमे नहीं होती। इसमे प्रधान रस रौद्र रहता है ॥५७-५९॥

"ब्रह्मा ने त्रिपुरदाह मे डिम के इन लक्षणों को कहा था, इसलिए त्रिपुरदाह को डिम कहा जाता है।" भरतमुनि ने स्वय त्रिपुरदाह की कथा

वस्तु को डिम की तुलना मे दिखलाया है, अर्थात् डिम का उदाहरण त्रिपुरदाह है।

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः ख्यातोद्धतनराश्रयः ॥६०॥
हीनो गर्भविमर्शाभ्यां दीप्ताः स्युर्डिमवद्रसाः।
अस्त्रीनिमित्तसंग्रामो जामदग्न्यजये यथा ॥६१॥
एकाहाचरितैकाङ्को व्यायोगो बहुभिर्नरैः।

व्यायोग—इसकी कथा-वस्तु इतिहास-प्रसिद्ध होती है। नायक इतिहास प्रसिद्ध और धीरोद्धत होता है। इसमे गर्भ और विमर्श सन्धि नहीं होती। इसमे डिम के समान ही रसो का सन्निवश होता है, अर्थात् जो रस डिम मे होते हैं वही इसमे भी रहते हैं। इसमे वे सभी पात्र पुरुष होते हैं। इसमे युद्ध आदि भी स्त्री के लिए नहीं होता। इसमे एक ही अक होता है और उसमे एक ही दिन का वृत्तान्त रहता है। उदाहरणार्थ—

सहस्रार्जुन ने परशुराम के पिता जमदग्नि को मारा। पिता की मृत्यु की खबर सुनकर प्रकुपित परशुराम ने सहस्रार्जुन को मारा। इसमे (व्यायोग में) पात्रों की बहुलता रहती है।

व्यायोग शब्द का शाब्दिक अर्थ—"जिसमें बहुत पुरुष लगे हुए हों ऐसे कार्य को व्यायोग कहते हैं।' इसमे शृगार और हास्य को छोडकर शेष सब रसों का परिपाक डिम के सदृश होता है ॥६०-६१॥

समवकार—इसमे नाटक आदि के सदृश आमुख रहना चाहिए। इसकी कथावस्तु देवता और असुरों से सम्बन्धित इतिहास-प्रसिद्ध होती है। विमर्श को छोड शेष चारों सन्धियाँ इसमे होती हैं। इसमे सभी वृत्तियों का प्रयोग होता है, किन्तु कैशिकी वृत्ति का प्रयोग अल्प ही मात्रा में होता है। इसके नायक देवता होते हैं और उनकी कुल संख्या बारह होती है। इनका चरित्र उज्ज्वल होता है। साथ ही ये वीर भी होते हैं। इन बारहों नायकों की फल-प्राप्ति भी पृथक् पृथक् ही होती है। जैसे

समुद्र-मन्थन के समय में विष्णु को लक्ष्मी, इन्द्र को रत्न, देवताओं को अमृत, इत्यादि पृथक्-पृथक् फल की प्राप्ति होती है। इसमें वीर रस की प्रधानता रहती है और अन्य रस उसको पुष्ट करते हैं।

> कार्यं समवकारेऽपि आमुखं नाटकादिवत् ॥६२॥
> ख्यातं देवासुरं वस्तु निर्विमर्शास्तु संधयः।
> वृत्तयो मन्दकैशिक्यो नेतारो देवदानवाः ॥६३॥
> द्वादशोदात्तविख्याताः फलं तेषां पृथक्पृथक्।
> बहुवीररसाः सर्वे यद्वदम्भोधिमन्थने ॥६४॥
> अंकैस्त्रिभिस्त्रिकपटस्त्रिशृङ्गारस्त्रिविद्रवः।
> द्विसंधिरङ्कः प्रथमः कार्यो द्वादशनालिकः ॥६५॥
> चतुर्द्विनालिकावन्त्यौ नालिका घटिकाद्वयम्।
> वस्तुस्वभावदैवारिकृताः स्युः कपटास्त्रयः ॥६६॥
> नगरोपरोधयुद्धे वाताग्न्यादिकविद्रवाः।
> धर्मार्थकामैः शृङ्गारो नात्र बिन्दुप्रवेशकौ ॥६७॥
> वीथ्यङ्गानि यथालाभं कुर्यात्प्रहसने यथा।

इसमें तीन अंक, तीनों प्रकार के कपट और तीनों ही प्रकार के विद्रव होते हैं। इसका पहला अंक बारह नालिका का होता है। इसमें दो संधियाँ होती हैं। दूसरा और तीसरा अंक क्रमशः चार और दो नालिका का होता है। एक नालिका (नाडिका) दो घड़ी के बराबर होती है। प्रहसन के समान ही इसमें वीथी के अंगों को रखना चाहिए। इसमें बिन्दु और प्रवेशक का रखना सर्वथा निषिद्ध है॥ ६२-६७॥

कपट—स्वाभाविक, दैविक, कृत्रिम (शत्रुकृत) इन भेदों के द्वारा तीन प्रकार का होता है।

विद्रव (उपद्रव)—यह भी तीन प्रकार का होता है—१. चेतनकृत (मनुष्यकृत), २. अचेतनकृत और ३ चेतनाचेतनकृत। इनमें पहले का

हरण, जैसे—शत्रु के नगर घेरने या आक्रमण करने के कारण भगदड़ आदि का होना।

दूसरे का उदाहरण, जैसे—जल, वायु अग्नि आदि के द्वारा बाढ आ जाना, वर्षा का न होना, आग लग जाना आदि। तीसरे का उदाहरण जैसे—हाथी आदि के छूटने आदि से उत्पन्न उपद्रव का होना।

इसी प्रकार शृंगार भी तीन प्रकार का होता है—१ धर्म शृंगार २ अर्थ शृंगार और ३ काम शृंगार।

ऊपर बताए हुए तीनो प्रकार के विद्रव, तीनो प्रकार के कपट, और तीनो प्रकार के शृंगार के भेदों को क्रमश समवकार के तीना अंको मे रखना चाहिए।

समवकार शब्द का शाब्दिक अर्थ है "सब नायको मे प्रयोजन का एकत्र रहना।" चूंकि समवकार रूपक मे कई नायको का प्रयोजन निहित रहता है, अत इसे भी समवकार कहते हैं।

वीथी तु कैशिकीवृत्तौ संध्यङ्गाङ्कैस्तु भाणवत् ॥६८॥
रसः सूच्यस्तु शृङ्गारः स्पृशेदपि रसान्तरम्।
युक्ता प्रस्तावनाख्यातैरङ्गैरुद्घात्यकादिभिः ॥६९॥
एवं वीथी विधातव्या द्व्येकपात्रप्रयोजिता।

वीथी—इसमे कैशिकी वृत्ति होती है। सधियाँ और उनके अग तथा अंक भाण के समान ही होते हैं। इसमे अन्य रसों का किंचित् स्पर्श रहते हुए भी प्रधानता शृगार रस की ही रहती है। इसमे पात्र दो या एक होते हैं। पहले प्रस्तावना के भीतर जो वीथी के उद्घात्यक, अवलगित आदि अग गिनाए हैं, वे सभी इसमे होते हैं ॥६८-६९॥

उत्सृष्टिकाङ्के प्रख्यातं वृत्तं बुद्ध्या प्रपञ्चयेत् ॥७०॥
रसस्तु करुणः स्थायी नेतारः प्राकृता नराः।
भाणवत्संधिवृत्त्यङ्गैर्युक्तः स्त्रीपरिदेवितैः ॥७१॥

वाचा युद्धं विधातव्यं तथा जयपराजयौ ।

अंक या उत्सृष्टिकाङ्क—इसकी कथावस्तु प्रसिद्ध पर कवि-कल्पना द्वारा अति विस्तृत की हुई रहती है । इसमें स्त्रियों के विलाप आदि का वर्णन रहता है । इसमें करुण रस की प्रधानता रहती है । इसका नायक साधारण पुरुष होता है । जय और पराजय आदि का वर्णन इसमें रहता है । युद्ध केवल वाणी द्वारा प्रदर्शित किया जाता है, अर्थात् इसमें केवल वाग्युद्ध दिखाया जाता है । और बातें, जैसे संधि, वृत्ति और अंग, इनको भाण के समान ही समझना चाहिए ॥७०-७१॥

मिश्रमीहामृगे वृत्तं चतुरङ्कं त्रिसंधिमत् ॥७२॥
नरदिव्यावनियमान्नायकप्रतिनायकौ ।
ख्यातौ धीरोद्धतावन्त्यो विपर्यासादयुक्तकृत् ॥७३॥
दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः ।
शृङ्गाराभासमप्यस्य किंचित्किंचित्प्रदर्शयेत् ॥७४॥
संरंभं परमानीय युद्धं व्याजान्निवारयेत् ।
वधप्राप्तस्य कुर्वीत वधं नैव महात्मनः ॥७५॥

ईहामृग—इसमें चार अंक तथा मुख, प्रतिमुख, और निर्वहण, ये तीन सन्धियाँ होती हैं । इसके नायक और प्रतिनायक इतिहास-प्रसिद्ध मनुष्य और देवता होते हैं । इनकी प्रकृति धीरोद्धत होती है । प्रतिनायक दिव्यनायिका को चाहता है और जब वह उसे आसानी से प्राप्त नहीं होती तो हरण करने पर तुल जाता है । इसमें शृंगार रस का भी वर्णन थोड़ा-थोड़ा होना चाहिए । इसमें युद्ध की सब तरह से तैयारी हो चुकने पर भी किसी बहाने से टल जाती है, अर्थात् युद्ध होते-होते बच जाता है । प्रकरणतः इसमें महापुरुष का वध यदि प्राप्त भी हो तो भी कदापि प्रदर्शित नहीं करना चाहिए । इसमें नायक हरिणी के समान अलभ्य नायिका को चाहता है, अतः इसे ईहामृग कहते हैं ॥७२-७५॥

इत्थं विचिन्त्य दशरूपकलक्ष्ममार्ग-
मालोक्य वस्तु परिभाव्य कविप्रबन्धान् ।
कुर्यादयत्नवदलंकृतिभिः प्रबन्धं
वाक्यैरुदारमधुरैः स्फुटमन्दवृत्तैः ॥७६॥

॥ धनजयकृत दशरूपक का तृतीय प्रकाश समाप्त ॥

इस प्रकार दशरूपको के दसों भेदों के लक्षणो और उसके निर्माण के ढंग और वस्तु देखकर तथा महाकवियों की रचनाओं का अध्ययन करके सरल छन्दो मे कृत्रिमता रहित अलकारो, उदार मधुर, वाक्यो आदि के द्वारा प्रबन्ध की रचना होनी चाहिए ॥७६॥

विष्णुपुत्र धनिककृत दशरूपावलोक नामक व्याख्या का लक्षण-प्रकाश नामक तृतीय प्रकाश समाप्त ।

चतुर्थ प्रकाश

अब यहाँ से रस के भेदों को बताते हैं—

> विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
> आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः ॥१॥

विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा परिपुष्टावस्था (स्वच्छता) को प्राप्त किया हुआ स्थायीभाव रस कहलाता है ॥१॥

आगे वर्णन किए जाने वाले विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी और सात्त्विक भावों के द्वारा काव्य में वर्णन और अभिनय में प्रदर्शन देख काव्य पढ़नेवालों और अभिनय देखनेवाले सामाजिकों के अपने हृदय में रहनेवाले स्थायीभाव (जिनका वर्णन आगे किया जाएगा) जब स्वाद करने के योग्य हो जाते हैं तो उन्हें रस की संज्ञा दी जाती है। स्वाद के योग्य बन जाने का अभिप्राय यह है कि काव्य पढ़ने और सुननेवालों और अभिनय देखनेवालों के चित्त में केवल आनन्द-ही-आनन्द रह जाता है।

का प्रयोग करते हैं, ठीक उसी तरह से रस के विषय में भी 'रसवान् काव्य है' इस प्रकार का व्यवहार होता है। वस्तुत काव्य रसवान् नहीं होता, बल्कि होते हैं सामाजिक।

ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत् ।
आलम्बनोद्दीपनत्वप्रभेदेन स च द्विधा ॥२॥

विभाव—ज्ञान के विषयीभूत हो जो भावों का ज्ञान कराएँ और भावों को परिपुष्ट करें, उन्हें विभाव कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—१. आलम्बन और २ उद्दीपन ॥२॥

'यह ऐसा ही है, यह ऐसी ही है' इस प्रकार का अतिशयोक्ति रूप में किया गया जो वर्णन और उससे उत्पादित विशिष्ट रूप से ज्ञायमान जो आलम्बन रूप नायक और नायिका, और उद्दीपन रूप जो देश, काल आदि उनको विभाव कहते हैं।

विभाव का ज्ञायमान अर्थ में जो व्यवहार किया गया है, इसमें प्रमाण है—भरत मुनि का "विभाव इति विज्ञातार्थ इति" यह वाक्य। इन वाक्यों को यथाक्रम, उनके अवसर आने पर, रसों में दिखाया जाएगा।

[क्या विभावादिकों में वस्तुशून्यता है ?]

बाह्य सत्वों की अपेक्षा न रखनेवाले इन विभाव आदि का, शब्द की उपाधि के बल से उन भावों का सामान्य रूप से अपने अपने सम्बन्धियों के द्वारा साक्षात् भावकों के चित्त में स्फुरण कराने से आलम्बनत्व उद्दीपनत्व होता है। अत इसमें वस्तुशून्यता का कोई स्थान ही नहीं है। इसी बात को भर्तृहरि ने भी कहा है—

"शब्द की उपाधि से प्राप्त स्वरूप वाले जो विभाव आदि हैं वे बुद्धि में विषयीभूत होकर कंस, राम, दुष्यन्त आदि को प्रत्यक्ष के समान ज्ञान कराने में कारण होते हैं।"

षट्सहस्रीकार ने भी 'ये विभाव आदि साधारणीकरण के द्वारा रस-निष्पादन में साधन होते हैं' इस प्रकार से लिखा है।

आलम्बन विभाव का उदाहरण, जैसे 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में पुरूरवा उर्वशी को देखकर कहता है—"इसकी सृष्टि करने के लिए कौन प्रजापति (उत्पादक) हुआ होगा ? कांति का दाता चन्द्रमा, अथवा शृंगार रस का एकमात्र रसिक स्वयं कामदेव, किंवा वसन्त ऋतु ? क्योंकि वेद पढ़ने से जड़ और विषयों से जिसका कुतूहल शांत हो गया है वह पुराना मुनि ब्रह्मा भला इस मनोहर रूप को कैसे बना सकता है ?

उद्दीपन विभाव का उदाहरण, जैसे—"जिसकी चाँदनी में सारा विश्व धोकर स्वच्छ कर दिया गया है, और जिसकी प्रभा से सम्पूर्ण आकाशमण्डल कपूर के समान धवलित हो गया है, तथा जिसकी चाँदी के सीधे-सीधे स्वच्छमलता की स्पर्धा रखनेवाले चरणों (किरणों) द्वारा यह विश्व, कमलदंड के बने हुए पिंजड़े के भीतर रखे हुए के समान प्रतीत होता है, ऐसे चन्द्रमा का उदय हो रहा है।

अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः ।

अनुभाव—(१) आन्तरिक भावों की सूचना जिनसे मिलती है ऐसे (भ्रू कटाक्ष विक्षेप आदि) विकारों को अनुभाव कहते हैं।

(२) सामाजिकों को स्थायीभाव का अनुभव कराते हुए जो रस को परिपुष्ट करें ऐसे भौंहों का चलाना और कटाक्ष विक्षेप करने आदि को अनुभाव कहते हैं। ये रसिकों के साक्षात् अनुभवकर्म के द्वारा अनुभव किए जाते हैं इसलिए इनको अनुभाव कहते हैं।

(३) रति आदि स्थायीभावों के पश्चात् इनकी उत्पत्ति होती है, अतः इनको अनुभाव कहते हैं।

नायक और नायिका के अन्तर्गत होनेवाले अनुभाव का अनुमान किया जाता है। इसलिए अलौकिक रस की दृष्टि से भ्रूकटाक्ष विक्षेप आदि की केवल कारणता है। लोक में ऐसी बात नहीं होती, वहां तो नायक और नायिका प्रत्यक्ष ही रहते हैं, अतः अनुमान करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अनुभाव का उदाहरण, जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—कोई दूती किसी अत्यन्त सुन्दरी नायिका से उसके रूप-सम्पदा की प्रशंसा करते हुए कहती है—"हे मुग्धे, तेरे मुँह पर बार-बार जँभाई आ रही है, स्तन-प्रांत बार-बार उल्लसित हो रहे हैं, चंचल भौंहें बार-बार घूम रही हैं, सारा शरीर पसीने से लथपथ हो रहा है, अत्यधिक उत्सुकता के कारण लज्जा दूर हो गई है सारे शरीर में रोमांच का प्रादुर्भाव हो गया है, तू जिसके ऊपर क्षीरसिन्धु के स्वच्छ फेन के सदृश अपनी सुन्दर स्वच्छ कटाक्ष छटा को फेंकती है, वह कोई अत्यन्त सुन्दर परम सौभाग्यशाली युवक धन्य है।"

इत्यादि बातों को रसों के प्रसंग में उदाहरणों के द्वारा क्रमानुसार स्पष्ट किया जाएगा।

हेतुकार्यात्मनोः सिद्धिस्तयोः संव्यवहारतः ॥३॥

लौकिक रस के प्रति विभाव और अनुभाव का आपस में हेतु और कार्य-सम्बन्ध है, अर्थात् लौकिक रस के प्रति विभाव तो हेतु और अनुभाव, कार्य होता है। ये बातें व्यवहार से अवगत होती हैं। इसीलिए इनका अलग से लक्षण देना ठीक नहीं है ॥३॥

कहा भी है—"विभाव और अनुभाव लोक से ही सिद्ध हैं, ये दिन-रात लौकिक व्यवहारों में आया करते हैं और लौकिक व्यवहारों के द्वारा जाने जा सकते हैं, इसलिए इनका पृथक् लक्षण नहीं दिया जा रहा है।"

सुखदुःखादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम् ।

भाव—अनुकार्य (राम आदि) को आश्रय बनाकर वर्णित सुख-दुःख भावों के द्वारा भावक के चित्त के अन्तर्वर्त्ती तद्-तद् भावों के भावन को ही भाव कहते हैं।

कहा भी है—"आश्चर्य की बात है कि रस से यह वस्तु भावित (भावना के विषयीभूत) कर दी गई है, इस गन्ध से यह वस्तु वासित (सुगंधित) कर डाली गई है।" इति।

प्राचीन आचार्यों के अनुसार, "रसों को जो भवित (पैदा हुआ) बनाएँ उनको भाव कहते हैं।" "कवि के अन्तर्गत रहनेवाले भावों को जो भावना के विषयीभूत करें उनको भाव कहते हैं।"

इस प्रकार से भाव के दो पृथक्-पृथक् लक्षण किये गए हैं, उनसे मेरे भाव के लक्षण के विरोध की कल्पना करना उचित नहीं है, क्योंकि उन लोगों ने भावात्मक काव्य और भावात्मक अभिनय, इन दोनों बातों को ध्यान में रखकर उनके अनुसार क्रमशः एक-एक लक्षण बनाए हैं। अर्थात् इनमें प्रथम मत भावात्मक काव्य को दृष्टि में रखकर तथा दूसरा भावात्मक अभिनय को दृष्टि में रखकर बनाया गया है। और (ग्रन्थकार ने) रसिकों के हृदय में रहनेवाले भाव को दृष्टि में रखकर अपनी भाव की परिभाषा दी है। अतः विषय-भेद के कारण ग्रन्थकार और प्राचीन आचार्यों के लक्षणों में कोई विरोध नहीं है।

ये भाव व्यभिचारी और स्थायी भी होते हैं, इनके विषय में अभी बताया जाएगा।

पृथग्भावा भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विकाः ॥४॥

सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम्।

सात्त्विक भाव—सात्त्विक भाव यद्यपि एक तरह से अनुभाव ही हैं, पर सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण इनकी गणना अन्य अनुभावों से पृथक् की जाती है ॥४॥

सत्त्व—दूसरे के सुख, दुःख आदि बातों में अपने अन्तःकरण को भरपूर उनके अनुकूल बना लेने का नाम सत्त्व है। किसी ने कहा भी है—सत्त्व विशेष प्रकार के मनोविकार को कहते हैं, जो एकाग्रचित्त से उत्पन्न होता है। सत्त्व को इस प्रकार से समझा जा सकता है कि जैसे जब कोई दुखी हो जाता है, अथवा अत्यधिक प्रसन्न हो जाता है

तो एकाएक उसकी आँखों से आँसू गिरने लगते हैं। इसलिए सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण इन्हें सात्त्विक कहा जाता है। अश्रु प्रभृति जो भाव हैं इनकी दो स्थितियाँ होती हैं। यदि ये किसी आन्तरिक भाव की सूचना देनेवाले हों तो अनुभाव अन्यथा सात्त्विक भाव है।

सात्त्विक भाव आठ प्रकार के होते हैं—

१ स्तम्भ, २. प्रलय, ३ रोमांच, ४ स्वेद, ५ वैवर्ण्य, ६ वेपथु, ७ अश्रु और ८. वैस्वर्य (स्वर भंग)।

स्तम्भप्रलयरोमाञ्चाः स्वेदो वैवर्ण्यवेपथू ॥५॥
अश्रुवैस्वर्यमित्यष्टौ स्तम्भोऽस्मिन्निष्क्रियाङ्गता।
प्रलयो नष्टसंज्ञत्वं शेषाः सुव्यक्तलक्षणाः ॥६॥

१ स्तम्भ—कर्मेन्द्रियों के सारे व्यापार के अचानक रुक जाने का नाम स्तम्भ है।

२. प्रलय—मूर्च्छा को प्रलय कहते हैं, जिसमें प्राणी चैतन्यरहित हो जाता है। उसकी चेतनता जाती रहती है ॥ ५-६ ॥

और भेदों को बताने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि उनके नाम ही उनके लक्षण को समझाने में समर्थ हैं।

सबका उदाहरण एक ही पद्य में, जैसे—कोई दूती किसी नायक को उसके विरह में होनेवाली अपनी सखी की पीड़ा का वर्णन करती हुई बोल रही है—"पसीने से लथपथ शरीरवाली वह मेरी सखी बार-बार तेरी याद कर काँप रही है, उसका सारा शरीर रोमांचित हो रहा है, दुःखता-वश उसके हाथ में सुन्दर निशायठ खिसककर धीरे धीरे आवाज कर रहे हैं, मुख उसका काला पड़ रहा है, मूर्छा बार-बार आ रही है, और कहाँ तक उसकी पीड़ा का वर्णन करूँ, बस केवल इतनी ही बात न समझ सकते हो कि भोली-भाली जो उसकी मुग्धरूपी लता है वह अब धैर्य धारण करने में असमर्थ है।"

विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ ॥७॥

व्यभिचारी का सामान्य लक्षण—जैसे समुद्र में तरगें उठती हैं और उसी मे विलीन होती रहती हैं, उसी प्रकार से रति आदि स्थायीभावों में जो भाव उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं उनको व्यभिचारीभाव कहते हैं ॥७॥

निर्वेदग्लानिशङ्काख्यमधृतिजडताहर्षदैन्यौग्र्यचिन्ता-
स्त्रासेर्ष्यामर्षगर्वाः स्मृतिमरणमदाः सुप्तनिद्राविबोधाः ।
व्रीडापस्मारमोहाः समतिरलसतावेगतर्कावहित्था
व्याध्युन्मादौ विषादोत्सुकचपलयुतास्त्रिंशदेते त्रयश्च ॥८॥

तत्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम् ।
तत्र चिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वासदीनताः ॥९॥

ये ३३ प्रकार के होते हैं—१. निर्वेद २. ग्लानि ३. शंका ४. श्रम ५. धृति ६. जडता ७. हर्ष ८. दैन्य ९. उग्रता १०. चिन्ता ११. त्रास १२. असूया १३. अमर्ष १४. गर्व १५. स्मृति १६. मरण १७. मद १८. स्वप्न १९. निद्रा २०. विबोध २१. व्रीडा २२. अपस्मार २३. मोह २४. मति २५. अलसता २६. आवेग २७. तर्क २८. अवहित्था २९. व्याधि ३०. उन्माद ३१. विषाद ३२. औत्सुक्य और ३३. चपलता ॥८॥

निर्वेद—तत्त्वज्ञान, आपत्ति, ईर्ष्या, आदि कारणों से मनुष्य का अपनी अवमानना करना निर्वेद कहलाता है ॥९॥

इसमें मनुष्य अपने शरीर तथा सभी लौकिक पदार्थों की अवहेलना करने लगता है। इस दशा में चिन्ता, निःश्वास-उच्छ्वास, अश्रु-विवर्णता और दैन्य, ये लक्षण प्रकट होते हैं।

तत्त्वज्ञान से होने वाला निर्वेद, जैसे—

"अगर हमने सकल मनोरथों को सिद्ध करनेवाली लक्ष्मी को ही प्राप्त कर लिया तो उससे क्या हुआ ? अगर हमने सकल रिपुमण्डली

को ध्वस्त ही कर दिया उससे ही क्या लाभ ? अगर हमने अपने इष्ट-मित्रों को ऐश्वर्यशाली बनाकर प्रसन्न ही कर लिया तो उससे ही क्या हुआ ? अगर कल्पान्त तक आयु ही प्राप्त कर ली तो उससे क्या हुआ ?" भाव यह है कि सारी वस्तुएँ बेकार हैं।

आपत्ति से होनेवाला निर्वेद, जैसे—

"मैं अपने कटु निष्फल व्यर्थ के जीवन के फल का आस्वादन कर रहा हूँ। वे फल हैं—१. राजदण्ड, २ बधुबाधवों के वियोग से उत्पन्न दुःख, ३. देश-निष्कासन, और ४ दुर्गम मार्गों से गमन का परिश्रम।"

ईर्ष्या से होनेवाला निर्वेद, जैसे—रावण की यह उक्ति—

"मुझे धिक्कार है कि मेरे ऐसे पराक्रमशाली को भी शत्रु हो गए। और शत्रु भी हुए तो ऐसे जिनका तपस्या करना ही मात्र कार्य है। और इससे भी लज्जा की बात तो यह है कि ये (शत्रु) मेरे सामने ही राक्षस वीरों को मार रहे हैं तथा इतने पर भी रावण जी रहा है ? इन्द्र को जीतनेवाले मेघनाद को भी धिक्कार है। अरे कुम्भकर्ण को ही जगाने से क्या लाभ हुआ ? और मेरी इन भुजाओं के रहने ही से क्या लाभ जो ऐसा कर्म मेरे देखते-देखते हो रहा है ?"

वीर रस और शृगार रस मे आनेवाले व्यभिचारी निर्वेद, जैसे—

"जिनकी भुजाओं का कन्ध प्रदेश शत्रुओं के कठोर कठ से छलकते हुए रुधिर से सुशोभित नही हुआ और प्रियतमा के विशाल स्तनमण्डल के ऊपर पत्रभग की रचना करते समय कुकुम रग से रजित न हो सका, ऐसे लोगों का जीवन निश्चय ही निष्फल है।"

यह कथन किसी ऐसे वीर पुरुष का है जिसे या तो अपने अनुकूल शत्रु की प्राप्ति अपना पुरुषार्थ दिखलाने के लिए नहीं हो पाई थी, अथवा किसी ऐसे विलासी पुरुष का है जिसे अपने मन के अनुकूल किसी सुन्दर रमणी की प्राप्ति नहीं हो पाई थी।

इसी प्रकार से निर्वेद और रसों का भी अग हो जाता है।

ऐसे निर्वेद का उदाहरण जो किसी भी रस का अंग नहीं है। जैसे—

"किसी पथिक ने रास्ते में खिन्न खड़े शाखोटक (सिहोर) के वृक्ष से पूछा—'भाई तुम कौन हो?' उसने उत्तर दिया—'(पूछ ही बैठे तो) सुनो, मैं दैव का मारा सिहोर का वृक्ष हूँ।' यह सुनकर पथिक ने फिर पूछा—'तुम तो विरक्त के समान बोलते हो?' उसने उत्तर दिया—'आपका कथन सत्य है।' फिर पथिक ने पूछा—'इसका (वैराग्य का) क्या कारण है?' उधर से उत्तर आया—'यदि आपको मेरे वैराग्य के बारे में जानने की अति उत्कंठा है तो सुनिए—कारण यह है कि मेरे पास ही थोड़ी दूर पर एक वट का वृक्ष है। उसके यहाँ दिन-रात पथिकों का जमघट लगा रहता है और एक मैं अभागा हूँ कि अपनी छाया के द्वारा दूसरे के उपकार के लिए रास्ते में ही सदा प्रस्तुत रहता हूँ पर मेरे यहाँ कोई आता तक नहीं है (यही मेरे वैराग्य का कारण है।")

विभाव, अनुभाव और रस के अंगों के भेदोपभेद से निर्वेद के अनेक प्रकार होते हैं।

रत्याद्यायासतृट्क्षुद्भिर्ग्लानिर्निष्प्राणतेह च ।
वैवर्ण्यकम्पानुत्साहक्षामाङ्गवचनक्रियाः ॥१०॥

ग्लानि—रतिक्रिया के अभ्यास से भूख, प्यास, परिश्रम आदि कारणों से जो उदासीनता आ जाती है उसे ग्लानि कहते हैं। इसमें विवर्णता, कम्प, अनुत्साह आदि अनुभाव दीख पड़ते हैं ॥१०॥

जैसे माघ का यह पद—

"नींद से भरी हुई नेत्र कनीनिकाओं से सुशोभित (चन्द्रनक्षत्रवाली) रमणक्रीडा से क्षीण मुख (चन्द्र) वाली नायिकाएँ रात्रि की तरह खुले हुए केशपाश (अन्धकार की तरह) से भूषित बनी, राजा के घर से सवेरे जा रही हैं।"

शेष बातों को निर्वेद के ही समान समझना चाहिए।

अनर्थप्रतिभा शङ्का परक्रौर्यात्स्वदुर्नयात् ।
कम्पशोषाभिवीक्षादिरत्र वर्णस्वरान्यता ॥११॥

शंका—दूसरे की क्रूरता या अपने ही दुर्व्यवहारों से अपनी इष्ट हानि की जो आशंका पैदा होती है उसे शंका कहते हैं। इसमें शरीर का काँपना और सूखना, चिन्तायुक्त दृष्टि-विक्षेप, विवर्णता और स्वर-भेद आदि लक्षण लक्षित होते हैं ॥११॥

दूसरे की क्रूरता के कारण होनेवाली शंका, जैसे 'रत्नावली' नाटिका में महाराज उदयन रत्नावली के बारे में कह रहे हैं—"वह इस बात से सशंकित रहती हुई कि कहीं ये लोग राजा के साथ चलनेवाले मेरे प्रेम-बर्ताव को जानते न हों लज्जावश मुँह को छिपाए रहती है। और जब दो या तीन लोगों को आपस में बातचीत करते हुए देखती है तो सोचती है कि शायद ये लोग हमारे ही विषय में कानाफूसी न करते हों। इसी प्रकार से हँसती हुई सखियों को देख भी वह सशंकित हो जाती है कि ये सब मेरे उसी सम्बन्ध में हँस रही हैं। इस प्रकार से मेरी प्रियतमा रत्नावली (सागरिका) हृदय-प्रदेश में रखे हुए आतंक से पीड़ा पा रही है।"

अपने दुर्व्यवहार से होनेवाली शंका, जैसे 'महावीरचरित' में—"जिसने पर्वताकार शरीरवाले मारीच, ताड़का, सुबाहु आदि राक्षसों का संहार किया है वही राजकुमार मेरे हृदय के लिए सन्तापकारी हो रहा है।"

इसी प्रकार से अन्यों को भी समझ लेना चाहिए।

श्रम. स्वेदोऽध्वरत्यादेः स्वेदोऽस्मिन्मर्दनादयः।

श्रम—यात्रा, रति आदि कारणों से जो थकावट उत्पन्न होती है उसे श्रम कहते हैं। इसमें पसीना आना, अवयवों में दर्द आदि का होना आदि बातें होती हैं।

रास्ते के परिश्रम से होनेवाला श्रम जैसे, 'उत्तररामचरित' में—"राम सीता से कहते हैं—तुम मार्ग में चलने के परिश्रम से आलस्ययुक्त, कोमल और सुन्दर, दृढ़ आलिंगनों से दाबे गए और परिमर्दित कमल की डण्डियों के सदृश दुर्बल अंगों को मेरी छाती पर रखकर सो गई थी।"

रति से होने वाला श्रम जैसे माघ में—

"सुरत परिश्रम से ढीली लम्बी लटवाली कामिनियाँ भारी कुच-भार तथा प्रेम की पराकाष्ठा को पाकर थक गईं।"

इसी प्रकार से और बातों को भी समझ लेना चाहिए।

संतोषो ज्ञानशक्त्यादेर्धृतिरव्यग्रभोगकृत् ॥१२॥

धृति—ज्ञान अथवा शक्ति आदि की प्राप्ति से जो अप्रतिहत आनन्द का देनेवाला सन्तोष उत्पन्न होता है उसे धृति कहते हैं ॥१२॥

ज्ञान से होनेवाली धृति, जैसे 'भर्तृहरिशतक' में—

'मैं वल्कल मात्र से प्रसन्न हूँ और तुम वसनों की प्राप्ति से। हम दोनों ही प्रसन्न हैं, हम लोगों की प्रसन्नता में कोई अन्तर नहीं है। दान ठीक भी है, दरिद्र तो वह है जिसके पास विशाल तृष्णा पड़ी हुई हो। मन की प्रसन्नता ही प्रधान वस्तु है। मन प्रसन्न है तो कौन धनी है? और कौन गरीब?"

कहते हैं। इसमे पलको का न गिरना और मूक हो जाना आदि लक्षण दिखाई देते हैं ॥१३॥

इष्ट दर्शन से होनेवाली जडता, जैसे, 'कुमारसम्भव' में—

'पार्वतीजी की सखियाँ उन्हे सिखाया करती कि देखो सखि, डरना मत, और जैसे-जैसे हम सिखाती हैं वैसे ही-वैसे अकेले शङ्करजी के साथ करना, पर इतने सीखने-पढने के बाद भी वे शिवजी के सामने पहुँचते ही घबरा जाती और सखियो की सब सीख उनके ध्यान से उतर जाती थी।"

अनिष्ट के श्रवण से होनेवाली जडता, जैसे 'उदात्तराघव' नाटक मे—

"राक्षस—ऐसे-ऐसे वीर राक्षसो को जिनके सेनापति प्रसिद्ध योद्धा खरदूषण, त्रिशर आदि थे, किसने मारा ?

दूसरा—धनुर्धारी नीच राम ने।

दूसरा—बिना देखे भला किसको विश्वास होगा ? देखो हमारी सेना की दशा—शीघ्र कटे हुए सिरवाले मुर्दों का समूह रक्त मे डूबा हुआ पडा है तथा उनके कबन्धो का ढेर ताल इतना ऊँचा दिखाई पड रहा है।

प्रथम—मित्र यदि ऐसी बात है तो फिर हम लोगो के लिए क्या करना उचित है ?" इत्यादि।

प्रसत्तिरुत्सवादिभ्यो हर्षोऽश्रुस्वेदगद्गदाः।

हर्ष—प्रिय का आगमन, पुत्रजन्म, इत्यादि उत्सवों से चित्त के प्रसन्न हो जाने का नाम हर्ष है।

इसने आँखो मे आँसू का आ जाना, पसीना निकलना, गद्गद वचन बोलना इत्यादि अनुभाव परिलक्षित होते हैं। जैसे—

"प्रोषितपतिका का पति जब ऊँट की सवारी से उसके पास पहुँचा तो वह मारे खुशी के आँखो मे प्रेमजल भरके पति के वाहन की सेवा मे यह नाचकर लग गई कि इसी ने प्रियतम को इस विशाल बजर भूमि को पार करने म सहायता की है। फिर क्या था, वह जल्दी से पीलु शमी तथा करीर के पत्तो को तोड-तोडकर ग्रास बना-बनाकर

निहारने लगी और साथ ही अति आदरवश अपने आँचल से उन ऊँट के बच्चे के केशों पर लगी हुई धूल को धीरे-धीरे पोछने लगी।"

निर्वेद की तरह इसकी (हर्ष की) और बातों को भी जान लेना चाहिए।

दौर्गत्याद्यैरनौजस्यं दैन्यं कार्ष्ण्यामृजादिमत् ॥१४॥

दैन्य—दरिद्रता और तिरस्कार आदि से होनेवाली चित्त की उदासीनता का नाम दैन्य है। इस दशा में मनुष्य के चेहरे का रंग फीका पड़ जाता है और वस्त्रों की मलिनता आदि बातें देखी जाती हैं ॥१४॥

जैसे कोई वृद्धा सोच रही है—"मेरे पति एक तो वृद्ध, दूसरे अन्धे ठहरे, अतः केवल मचान पर ही पड़े रहते हैं, उनमें धनोपार्जन का अब पुरुषार्थ रह नहीं गया है। घर में केवल थून ही मात्र बच पाया है। और इधर बरसात का समय भी आ गया है। लड़का कमाने के लिए परदेश गया, पर कुछ भेजना तो दूर की बात रही, अभी तक उसने कोई चिट्ठी-पत्री भी नहीं भेजी। बड़े यत्न के साथ मैंने एक गगरी तेल भरके रखा रहा सो भी दैव दुर्विपाक से फूटकर वह निकला, अब क्या करूँ ?" कवि कहता है कि सास अपनी गर्भभार से अलसाई हुई पुत्रवधू को देख ऊपर कथित बातों को सोच-सोचकर बहुत देर से रो रही है।"

और बातों को पहले ही के समान समझना चाहिए।

दुष्टेऽपराधदौर्मुख्यक्रौर्यैश्चण्डत्वमुग्रता ।
तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥१५॥

उग्रता—किसी दुष्ट के दुष्कर्म, दुर्वचन, क्रूरता आदि से स्वभाव के प्रचण्ड हो जाने को उग्रता कहते हैं। इसमें स्वेद का आना, कटुवचन बोलना, सिर कँपना, दूसरे को मारने पर उतारू होना और तर्जनता आदि पाया जाता है ॥१५॥

जैसे 'महावीरचरित' में परशुराम—"क्षत्रियों पर प्रकुपित हो मैंने इक्कीस बार उनका संहार किया और संहार करते समय उनके गर्भ में

पड़े हुए बच्चों को भी खुरेच-खुरेचकर मार डाला, और क्षत्रियों के रक्त से भरे हुए तालाबों में मैंने अपने पिता के श्राद्ध संस्कार को सम्पन्न किया। इस प्रकार के मेरे कर्मों को देखते हुए भी मेरा स्वभाव क्या अभी तक प्राणियों से अविदित ही है ?"

ध्यानं चिन्तेहितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृत् ।

चिन्ता—इष्ट वस्तु के न प्राप्त होने पर उसीके विषय में ध्यान बने रहने का नाम चिन्ता है। इसमें पदार्थ के न मिलने से जीवन का शून्य मालूम होना, सांस का जोर से चलना, शारीरिक ताप का बढ़ जाना आदि बातें पाई जाती हैं।

चिन्ता—जैसे कोई दूती प्रियतम के वियोग से दुखी किसी प्रोषित-पतिका से कह रही है—"हे बड़ी-बड़ी आँखोंवाली, तुम अपनी पपनियों के अग्रभाग में मोती की स्पर्धा करनेवाले स्वच्छ आँसुओं को भरकर और हृदय में भगवान् शंकर की हँसी के समान स्वच्छ मनोहर हारों को पहनकर, तथा कोमल-कोमल कमलनाल के वलय (बिजायठ) वाले अपने सुन्दर हाथों के ऊपर मुख को रखकर किस परम सौभाग्यशाली के विषय में सोच रही हो ?"

अथवा यह दूसरा उदाहरण—

"हट गया है विषय-वासनाओं से मन जिनका और बन्द हो गए हैं कमल के समान नेत्र जिनके, बार-बार चल रही है श्वास-प्रश्वास क्रिया जिनमें, इस प्रकार की अलक्ष्य वस्तु का ध्यान करनेवाली बाला की दशा योगी के समान हो गई। [योगियों की तरह नेत्रों को मूँदकर बार-बार सिसकती हुई एकमात्र प्रियतम के विषय में सोच रही है।]

गर्जितादेर्मनःक्षोभस्त्रासोऽत्रोत्कम्पितादयः ॥१६॥

त्रास—बादल के गर्जन तथा ऐसी ही अन्य भयप्रद घटनाओं से जो क्षोभ उत्पन्न होता है उसे त्रास कहते हैं। इसमें कम्प आदि का आना देखा जाता है ॥१६॥

यथा, माघ में—

"चचल पोठी (प्रोष्ठी) मछली किसी सुन्दरी के उरु युगल में एक बार छू गई। डरकर वह रमणी नाना प्रकार की अगभगियाँ दिखाने लगी। आश्चर्य है कि रमणियाँ बिना कारण विलासलीला में क्षुब्ध हो जाती हैं तो फिर कोई कारण मिल जाय तो फिर क्या कहना ?"

परोत्कर्षाक्षमासूया गर्वदौर्जन्यमन्युजा ।

दोषोक्तयवज्ञे भ्रूकुटिमन्युक्रोधेङ्गितानि च ॥१७॥

असूया—दूसरे की उन्नति न सह सकने का नाम असूया है। इसमें दूसरे के अन्दर दोष निकालना, अवज्ञा, क्रोध, भौंह का चढ़ना तथा अन्य क्रोधसूचक चेष्टाएँ दिखाई देती हैं। यह तीन कारणों से हो सकती है: १. गर्व से २. दुष्ट स्वभाव से, तथा ३. क्रोध से ॥१७॥

गर्व से होनेवाली असूया, जैसे 'वीरचरित' में—कोई राक्षस किसी से कह रहा है—

"मेरे स्वामी रावण ने सीतारूपी फल की प्राप्ति के लिए भिक्षुक बनकर याञ्चा भी की, पर वह उन्हें न मिलकर स्वामी के विरुद्ध आचरण करनेवाले, राम को मिल गई। अब यह बात समझ में नहीं आती कि शत्रु के मान और यश की वृद्धि और अपने ह्रास को तथा स्त्रियों में रत्न उस सीता को दूसरे के हाथ में देख ससार के स्वामी रावण कैसे बर्दाश्त कर सकेंगे।"

दुष्ट स्वभाववश होनेवाली असूया, जैसे —

'यदि तुझे दूसरे के गुणों को देख ईर्ष्या पैदा होती है तो फिर गुणों का ही उपार्जन क्यों नहीं करता ? हाँ, इतना समझ रखो कि तुम दूसरे के यश को निन्दा के द्वारा धो नहीं सकते। अगर तुमने अपनी इच्छा से अकारण ही दूसरे से द्वेष करना नहीं छोड़ा तो तुम्हारा परिश्रम वैसे ही बेकार हो जाएगा जैसे सूर्य की किरणों को रोकने के लिए हाथरूपी छाते का प्रयोग।"

क्रोध से होनेवाली असूया, जैसे 'अमरुशतक' में—

कोई पुरुष अपनी दयनीय स्थिति का वर्णन अपने मित्र से कर रहा है—

"जब मैं अपनी प्रिया के पास गया तो बातचीत में अचानक मेरे मुंह से अपनी नूतन प्रेयसी का नाम आ गया, फिर मैं लज्जा के मारे नीचे मुंह करके कुछ यों ही झूठमूठ का लिखने लगा। संयोगवश ऐसा हुआ कि मेरे हाथों ने अनायास ही ऐसी रेखा खींच दी जिससे वही रमणी, जिसका नाम मुंह से पहले आ चुका था, परिलक्षित होने लगी। उसके शरीर के सब अवयव हूबहू वैसे ही आ गए। फिर क्या था, यह देख मेरी देवीजी के गाल क्रोध से लाल हो आए, ओठ फड़कने लगे, और वेग के साथ वाणी भी गद्‌गद होकर निकलने लगी और चित्र को दिखा दिखाकर लगी कहने—आश्चर्य की बात है कि इनकी कलई खुल गई। यह तो वही रमणी है जिसके विषय में मुझे बहुत दिनों से सन्देह बना हुआ था। बस क्या था उसने ब्रह्मास्त्र स्वरूप अपने बाएं पैर को मेरे सिर पर जड़ ही तो दिया।"

अधिक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता।

तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥१८॥

अमर्ष—किसी के बुरे वचनों अथवा किसी के द्वारा किए गए अपमान आदि के कारण प्रतिकार में उस व्यक्ति से बदला लेने की भावना को अमर्ष कहते हैं। इसमें पसीने का आना, सिर की कपकपी, भर्त्सना-युक्त वचन, मारपीट करने का उतावलापन, इत्यादि बातें होती हैं ॥१८॥

जैसे 'महावीरचरित' में रामचन्द्र का परशुराम के प्रति यह कथन—"पूजनीय के सम्मान के अतिक्रमण का फलस्वरूप भले ही मुझे प्रायश्चित्त करना पड़े, पर मैं इस प्रकार से शस्त्रग्रहण रूपी महाव्रत को दूषित कदापि नहीं कर सकता।"

अथवा जैसे 'वेणीसंहार' में—"आपके अनोल्लपन रूपी जल में डूबता हुआ मैं ऐसी सम्भावना करता हूँ कि शस्त्रपालनरत आदमी के बीच निन्दनीय मैं ही समझा जाऊं", पर क्रोध के साथ रुधिर से लिप्त

गदा को घुमाते हुए तथा कौरवों का संहार करते हुए, आज एक दिन के लिए न तो आप मेरे ज्येष्ठ भ्राता हैं और न मैं आपका कनिष्ठ भाई।"

गर्वोऽभिजनलावण्यबलैश्वर्यादिभिर्मदः ।
कर्माण्याधर्षणावज्ञा सविलासाङ्गवीक्षणम् ॥१९॥

गर्व—अपने श्रेष्ठ कुल, सुन्दरता, ऐश्वर्य, पराक्रम आदि से होनेवाले मद को गर्व कहते हैं। दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखना, तथा अपमान आदि करना, इस अवस्था में देखे जाते हैं। साथ ही गर्वित पुरुष में विलासपूर्वक अपने अंगों को देखने की बात भी पाई जाती है ॥१९॥

जैसे 'महावीरचरित' में—रामचन्द्र परशुराम के आने पर भय-विह्वल क्षत्रियों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—'हे क्षत्रियो, डरकर काँपना छोड़ दो, निर्भय हो जाओ, क्योंकि मुनि के साथ-साथ ये वीर भी हैं, ऐसे पुरुष का सम्मान मुझे प्रिय लगता है। तपस्या के बारे में फैली हुई है कीर्ति जिनकी, और बल के दर्प से खुजला रही हैं भुजाएँ जिनकी, ऐसे परशुरामजी का सत्कार करने में मैं रघुकुलोत्पन्न रामचन्द्र नाम का क्षत्री समर्थ हूँ।"

अथवा जैसे उसी 'वीरचरित' का यह पद—'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो' आदि।

[इसका अर्थ द्वितीय प्रकाश में धीरोदात्त नायक के उदाहरण में बताया जा चुका है]

सदृशज्ञानचिन्ताद्यैः संस्कारात्स्मृतिरत्र च ।
ज्ञातत्वेनार्थभासिन्यां भ्रूसमुन्नयनादयः ॥२०॥

स्मृति—पहले की देखी हुई वस्तु के सदृश किसी अन्य वस्तु को देखकर संस्कार के द्वारा मन में उस पहली देखी हुई वस्तु का जो ज्ञान खिंच जाता है उसे स्मृति कहते हैं। इस दशा में भौहों को सिकोड़ना आदि लक्षण देखे जाते हैं ॥२०॥

जैसे—सीता को हरण कर ले जाते हुए जटायु को देख रावण की यह उक्ति है—

'क्या यह मैनाक तो नहीं है जो मेरे रास्ते को रोक रहा है ? (फिर सोचकर) पर उसको इतना साहस कहाँ ? क्योंकि वह तो इन्द्र के वज्र से ही डरता है। और यह गरुड है ऐसा भी अनुमान करना ठीक नहीं है, कारण वह अपने प्रभु विष्णु के साथ मेरे पराक्रम को जानता है। (फिर सोचकर) अरे, यह तो वृद्ध जटायु है जो वृद्धावस्था के वशीभूत होकर (वृद्धावस्था मे बुद्धि ठीक नहीं रहती यही तात्पर्य है) अपनी मृत्यु चाह रहा है।

अथवा जैसे 'मालतीमाधव' मे माधव—

'लीन कियौं प्रतिबिम्बित चित्रित ऊँची उभारिकै खोदि दई है।
धावित बज्जर लेपसो वा चिपकाइ, कै बीज समान बई है॥
कै चित पाँचहु बानन सो जडि सुन्दर काम ने ठीक ठई है।
सोच निरन्तर तन्तु के जाल सिईं बुनिकै यह प्रेम मई है॥'

मरणं सुप्रसिद्धत्वादनर्थत्वाच्च नोच्यते।

मरण—मरण के सुप्रसिद्ध तथा अनर्थकारी होने से इसकी परिभाषा नहीं दी जा रही है।

जैसे—

"पति के आने की तिथि को, जिधर से उसके आने का रास्ता था उधर ही वह झरोखे के पास बार-बार जाती रही। कुछ क्षण तक इस प्रकार के कार्यक्रम को जारी रखने के बाद काफी देर तक बैठकर उसने कुछ सोचा, और उसके बाद क्रीडा में आनेवाली सुररी पक्षी को आँसुओं के साथ सखियों को समर्पित करके, चट आम्र के साथ माधवी लता के करुणापूर्ण पाणिग्रहण-संस्कार को सम्पन्न किया।"

इस प्रकार से शृंगार रस के आलम्बन के रूप में जहाँ मरण का वर्णन करना हो वहाँ वास्तविक मरण को न दिखाकर मरण का केवल आभास-मात्र ही दिखलाना चाहिए।

शृंगार रस को छोड़ अन्य रसों के लिए कवि को पूर्ण स्वतन्त्रता है वह जिस प्रकार का चाहे वर्णन कर सकता है। जैसे 'महावीरचरित' में—"आप लोग जरा ताडका को तो देखें—रामचन्द्र के बाणों के उसके हृदय के मर्मस्थल में लग जाने से उसके अंग भंग हो गये हैं, और उसकी नासिका की दोनों ओरों से एक ही जैसा बुद्बुद शब्द करते हुए रक्त गिर रहा है। इस प्रकार वह एक तरह से मर-सी गई है।"

हर्षोत्कर्षो मदः पानात्स्खलदङ्गवचोगतिः ॥२१॥

निद्रा हासोऽत्र रुदितं ज्येष्ठमध्याधमादिषु ।

मद—मदिरा आदि मादक पदार्थों के पान से उत्पन्न होनेवाली अत्यन्त प्रसन्नता को मद कहते हैं। मद के कारण अंग, वाणी, गति शिथिल पड़ जाती है। मद्यप लोग उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकार के होते हैं। उत्तम—नशा चढ़ने पर सो जाते हैं। मध्यम श्रेणीवाले हँसी-मजाक करते हैं और अधम श्रेणीवाले रोने लगते हैं ॥२१॥

जैसे 'माघ' में—

'विलासी तरुण के समान नई मस्ती ने अधिक मात्रा में (प्रौढाओं के समान) लीला मनोहरहास्य, वाक्यों का कौशल तथा नयनों में विशेष विकार भोली वधुओं में उत्पन्न कर दिया है।

सुप्तं निद्रोद्भव तत्र श्वासोच्छ्वासक्रियापरम् ॥२२॥

सुप्त—निद्रा से उत्पन्न होनेवाली अवस्था को स्वप्नावस्था (सुषुप्ति) कहते हैं। इसमें श्वासोच्छ्वास चलता है ॥२२॥

जैसे—

जौ के खेत के कोने में पड़ी हुई छोटी कुटिया के भीतर नये धानों के पुआलों के बिछौने पर लेटे हुए कृषक दम्पति की नींद का स्तन-मण्डल की उष्णता के कारण ग्लावद्ध तुषार भग कर रहा है ॥

मनःसंमीलनं निद्रा चिन्तालस्यक्लमादिभिः ।

तत्र जृम्भाङ्गभङ्गाक्षिमीलनोत्स्वप्ननादयः ॥२३॥

निद्रा—चिन्ता, आलस्य, थकावट आदि से मन की क्रियाओं के रुक जाने को निद्रा कहते हैं। इसमे जँभाई का आना, अगों में अँगड़ाई, आँखों का बन्द हो जाना, बड़बड़ाना आदि बातें पाई जाती हैं ॥२३॥

जैसे—

कोई पुरुष मन-ही-मन सोच रहा है—"मद से अलसाई हुई और नींद के कारण आधी मुँदी हुई प्यारी के मुँह से निकलते हुए वे शब्द जो न सार्थक कहे जा सकते हैं और न निरर्थक ही, इतने दिन के बाद भी आज मेरे हृदय की कुछ विचित्र स्थिति कर रहे हैं।"

अथवा जैसे 'माघ' में—

'कोई पहरा देनेवाला, अपना पहरा समाप्त करके, निद्रा लेने की इच्छा से दूसरे प्रहरी को 'जाग-जाग' ऐसा कह-कहकर ऊँचे स्वर से बार-बार जगाने लगा। उसको उस दूसरे प्रहरी ने निद्रा के वश मे होकर अस्पष्टाक्षरों में अर्थशून्य भाव से बार-बार उत्तर दिया, परन्तु वह जाग न सका।"

विबोधः परिणामादेस्तत्र जृम्भाक्षिमर्दने ।

(१) विबोध—नींद से खुल जाने को विबोध कहते हैं। इस दशा मे जँभाई आना और आँखो का मलना आदि क्रियाएँ होती रहती हैं।

जैसे 'माघ' में—

दुराचारादिभिर्व्रीडा धाष्ट्र्याभावस्तमुन्नयेत् ।
साचीकृताङ्गावरणवैवर्ण्याधोमुखादिभिः ॥२४॥

(२) व्रीडा—दुराचार आदि कारणों से धृष्टता के अभाव का नाम व्रीडा है ॥२४॥

जैसे, 'अमरुशतक' मे—

"प्रियतमा का पति जब उसके वस्त्रों में लग जाता है तो वह लज्जा से मुख को नीचा कर लेती है और जब वह हठात् आलिंगन को उद्यत होता है तो वह अपने अगों को सिकोड़ लेती है। सखियों से मुस्कान

के साथ देखी जाती हुई वह प्रियतम के अनेक प्रयत्नों के बावजूद भी बोलने में असमर्थ ही रही है। इस प्रकार से नवेली वधु प्रियतम के प्रथम परिहास के अवसर पर लज्जा के मारे अन्दर-ही-अन्दर गड़ी जा रही है।"

> आवेशो ग्रहदुःखाद्यैरपस्मारो यथाविधिः ।
> भूपातकम्पप्रस्वेदलालाफेनोद्गमादयः ॥२५॥

अपस्मार—ग्रहों के योग से, विपत्ति तथा अन्य कारण से उत्पन्न आवेश को अपस्मार कहते हैं। इस दशा में पृथ्वी पर गिर पड़ना, पसीना बहने लगना, साँस का ज़ोर-ज़ोर से चलना और मुख से फेन का निकलना इत्यादि बातें होती हैं ॥२५॥

जैसे 'माघ' में—

"समुद्र पृथ्वी को आलिंगन किये हुए था, चंचल बाहुओं के समान उसकी बड़ी-बड़ी तरंगें इधर-उधर पड़ रही थीं; वह उच्च शब्द कर रहा था और झाग फेंक रहा था। ऐसे उस समुद्र को श्रीकृष्णजी ने मृगी के रोगी के समान समझा।"

> मोहो विचित्तता भीतिदुःखावेशानुचिन्तनैः ।
> तत्राज्ञानभ्रमाघातघूर्णनादर्शनादयः ॥२६॥

मोह—भय, दुःख, आवेश तथा स्मरण करने आदि के कारण उत्पन्न हुए चित्त के विक्षेप को मोह कहते हैं। इस दशा में अज्ञान, भ्रम, आघात घूर-घूरकर देखना आदि लक्षण दिखाई देते हैं ॥२६॥

जैसे 'कुमारसम्भव' में—

मेरे ज्ञान को कभी तिरोहित करता है और कभी प्रकाशित करता है। यह (विकार) सुख है या दुःख, मूर्च्छा है या निद्रा, विष का प्रसरण है अथवा मादक द्रव्य के सेवन से उत्पन्न मद ? यह निश्चय नहीं किया जा सकता है।"

भ्रान्तिच्छेदोपदेशाभ्यां शास्त्रादेस्तत्त्वधीर्मतिः ।

मति—शास्त्र आदि के उपदेश से अथवा भ्रान्ति के नष्ट हो जाने से जो तत्त्वज्ञान होता है उसको मति कहते हैं।

जैसे 'किरातार्जुनीयम्' में—"बिना विचारे कोई भी कार्य न करे क्योंकि विचार करके न करना ही सब विपत्तियों का स्थान है। इसके सिवाय गुण का लाभ रखनेवाली सम्पत्तियाँ खुद ही विचारकर काम करनेवाले के पास आ जाती हैं।'

और भी जैसे—

'पण्डित लोग झटपट कोई कार्य नहीं करते और किसी की बात को सुनकर पहले वे उसके तत्त्व की छानबीन करते हैं और फिर उस तत्त्व को ग्रहण कर अपने कार्य की सिद्धि के साथ साथ दूसरे के भी प्रयोजन को सिद्ध करते हैं।"

आलस्यं श्रमगर्भादेर्जाड्यजृम्भासितादिमत् ॥२७॥

आलस्य—थकावट, गर्भ का भार, आदि के कारण उत्पन्न जड़ता को आलस्य कहते हैं। इस दशा में जँभाई आती है और पड़े रहने की इच्छा बनी रहती है ॥२७॥

जैसे मेरा ही पद्य—"वह बड़ी मुश्किल से किसी प्रकार चलती-फिरती है और सखियों के द्वारा पूछे जाने पर भी बड़े कष्ट के साथ उत्तर देती है। इस प्रकार ऐसा लगता है मानो गर्भ के भार से अलसाई हुई सुन्दरी हमेशा बैठे ही रहना चाहती है।"

प्रायेणः संभ्रमोऽस्मिन्नभिसरजनिते शस्त्रनागाभियोगो वातातपांशुपदिग्धस्तरितपदगतिर्धर्मजे पिण्डिताङ्गः ।

उत्पातात्प्रस्तताङ्गे प्वहितहितकृते शोकहर्षानुभावा
वह्ने र्धूमाकुलाम्यः करिजमनु भयस्तम्भकम्पापसाराः ।।२८।।

आवेग—मन के संभ्रम को आवेग कहते हैं। यह कई कारणों से होता है, जैसे—राज्य-विप्लव से, वायु के प्रकोप से, वर्षा से, नाना प्रकार के उत्पातों से, अनिष्टवाली वस्तुओं से, इष्ट वस्तुओं से, अग्नि से, हाथी से, इसी प्रकार अन्य कारणों से भी होता है ।।२८।।

राज्य-विप्लव या आक्रमण में होनेवाले आवेग में शस्त्रास्त्रों का ढूँढना और हाथी घोड़े आदि का सजाया जाना होता है।

वायु के (आँधी) द्वारा होने वाले आवेग में धूल-धूसरित हो जाना, तथा जल्दी-जल्दी चलना आदि बातें होती हैं।

वर्षा में होनेवाले आवेग में शरीर को सिकोड़ लेना होता है। उत्पातों से होनेवाले आवेग में अंगों में शिथिलता आ जाती है।

इष्ट से होनेवाले आवेग में हर्ष और अनिष्ट से होनेवाले में शोक परिलक्षित होता है। अग्नि से होनेवाले आवेग में धूम के कारण व्याकुलता छा जाना देखा जाता है।

और हाथी के द्वारा होनेवाले आवेग में भय, स्तम्भ, कम्प और भागने का प्रयत्न देखा जाता है।

राज-विप्लव से होनेवाले आवेग का उदाहरण—"जल्दी आओ, जल्दी आओ, घोड़ों को तैयार करो, अरे जल्द मुझे तलवार दो, कटार और कवच को लाओ। अरे क्या मेरे शरीर में बाण भी लग गया? इस प्रकार के वचनों को आपके जगत में छिपे हुए शत्रु स्वप्न में आपके दर्शन-मात्र से आपस में चिल्लाने लगते हैं।" इत्यादि

और भी—"शरीर का रक्षक कवच कहाँ है? कवच कहाँ है? शस्त्र कहाँ है? इत्यादि वचनों को कहते हुए प्रसिद्ध आपके वीर शत्रु देखे गए।"

अथवा—"ये ऋषि-कन्याएँ जो वृक्षों के आलवालों में जल सींच रही थीं सहसा उसे छोड़ आकुल हो क्या देख रही हैं? आश्रम के ये

बच्चे भी वृक्षों के ऊपर चुप्पी साधे चढ रहे हैं। इसके अलावा तपस्या मे रत वानप्रस्थ भी अपनी समाधियों को भग करके पैर के अग्रभाग पर खडे हो अपने आसन से ही देख रहे हैं।"

आंधी से होनेवाला आवेग—

जैसे—'हवा के झोको से उत्तरीय वस्त्र इधर-उधर बिखर जाता है।'

वर्षा से होने वाला आवेग—

जैसे—' मूसलाधार वृष्टि मे भोजन बनाने के लिए अग्नि की खोज म स्त्रियाँ कीचड के डर से फलको (बीच बीच मे रखी हुई ईंटो आदि) के ऊपर पैर रखकर और पानी से बचने के लिए सूप की छतरी ओढ-कर ओरियौनी के पानी को हाथ से फेंक-फेंककर एक घर से दूसरे घर जा रही हैं।"

उत्पात से होनेवाला आवेग—

जैसे—"रावण की मोटी-मोटी भुजाओ के द्वारा उठाए हुए कैलाश के हिलने से चचल नेत्रवाली प्रिया पार्वती के साथ झूठ मूठ के दिखला-वटी कोप के बहाने आलिंगनपूर्वक भगवान् शकर का हँसना आप लोगो का कल्याण करे।"

अहित अर्थात् अनिष्ट के द्वारा होनेवाला आवेग देखने और सुनने दो कारणो से होना है। जैसे उदात्तराघव' मे—चित्रमय (वेग के साथ)—भगवान् रामचन्द्र, रक्षा करो, रक्षा करो, इत्यादि।

'फिर मृगरूप को छोड विशाल भयानक शरीर बनाकर इस राक्षस के द्वारा युद्ध के विषय मे सशकित लक्ष्मण ले जाए जा रहे हैं।'

राम—'अभय का समुद्र अर्थात् अत्यन्त निडर लक्ष्मण इस राक्षस से भयान्वित है, यह कैसे हो सकता है? और इधर यह कहनेवाला व्यक्ति भी डरा हुआ सा कह रहा है, इसलिए मेरी समझ मे नही आता कि क्या सच है और क्या झूठ? और जानकी का अकेले छोडकर जाना भी उचित नही है क्योकि गुरुजनों ने मुझसे यह कहा है कि "जानकी को मत छोडना। इस प्रकार से व्याकुल हुई मेरी बुद्धि न तो

जाने ही के लिए निर्णय दे रही है और न रहने ही के लिए। क्या करूँ कुछ समझ में नहीं आता।"

इष्ट-प्राप्ति से होनेवाला आवेग—

जैसे—वहीं पर (पटाक्षेप के साथ सम्भ्रान्त वानर का प्रवेश) 'महाराज! पवनसुत हनुमान के आगमन से उत्पन्न प्रहर्ष प्रहर्ष है।' इत्यादि से आरम्भ कर 'महाराज के हृदय को आनन्द देनेवाला मधुवन विदलित कर दिया गया।' यहाँ तक।

अथवा जैसे 'महावीरचरित' में—

"पूर्णिमा के चन्द्र के समान रघुकुल को आनन्द देनेवाले बेटे रामचन्द्र, आओ, आओ, मैं तुम्हारे मस्तक को चूमना तथा आलिंगन करना चाहता हूँ। मेरे मन में आ रहा है कि तुम्हें अपने हृदय में रखकर दिन-रात ढोया करूँ अथवा कमलवत् चरणों की ही वन्दना करूँ।"

अग्नि से होनेवाला आवेग—

जैसे—"त्रिपुरासुर के नगर के दाह के समय भगवान् शंकर के शर से निकली हुई अग्नि वहाँ की युवतियों के अंगों में लग जाती है तो वे उसे झटककर आगे बढ़ती हैं। जब आगे बढ़ने लगती हैं तो वह उनके आंचल को पकड़ लेती है और यदि किसी प्रकार इससे भी बच निकलती हैं तो केशों में लग जाती है और यदि वहाँ भी उनको प्राण मिल गया तो वह पैरों में लग जाती है। इस प्रकार सद्यः अपराध किये हुए अपराधी के समान आचरण करनेवाली भगवान् शंकर की शराग्नि आप लोगों के पापों को नष्ट करे।"[1]

---

1. संस्कृत में अग्नि शब्द पुल्लिंग है पर हिन्दी में स्त्रीलिंग। कवि ने अग्नि को लम्पट-पुरुष रूप में अंकित किया है, इसलिए हिन्दी में यद्यपि अग्नि को स्त्रीलिंग में ही प्रयोग किया गया है पर अर्थ लगाते समय भावकों को पुल्लिंग ही समझ लेना चाहिए अन्यथा श्लोक का स्वाद ही बिगड़ जाएगा।

अथवा जैसे 'रत्नावली' नाटिका मे—

ऐन्द्रजालिक के द्वारा सागरिका को अग्नि मे जलते हुए दिखाए जाने पर महाराज उदयन उसको बचाने की चेष्टा करते हुए अग्नि से कहते है—

"अग्नि, तू अपना अत्याचार बन्द कर शान्त हो जा, अपने धूम से कष्ट देना छोड दे, तेरी ऊँची-ऊँची अग्नि की चिनगारियो से मैं डरने-वाला नही हूँ। प्रलयाग्नि के सदृश प्रिया की विरहाग्नि मे जो (मैं) न जल सका उसका तू क्या बिगाड सकती है।"

हाथी के द्वारा होनेवाला आवेग—

जैसे 'रघुवश' मे—

"उस विशाल जगली हाथी को देखते ही सब घोडे भी रस्सा तुडा-तुडाकर भाग चले। इस भगदड मे जिन रथो के धुरे टूट गए वे जहाँ-तहाँ गिर पडे। सैनिक लोग अपनी स्त्रियो को छिपाने के लिए सुरक्षित स्थान ढूंढने लगे। इस प्रकार अकेले उस मदमत्त हाथी ने सेना मे भारी भगदड मचा दी।"

तर्को विचारः संदेहाद्भ्रूशिरोऽगुलिनर्तकः।

वितर्क या तर्क—सन्देह को हटाने के लिए उत्पन्न विचारों को तर्क कहते हैं। इसमे व्यक्ति अपनी भौंहों, अगो, सिर और अँगुलियो को नचाता है।

जैसे—

लक्ष्मण अपने-आप सोच रहे है—"क्या भरत ने लोभ के चक्कर मे पडकर इस प्रकार से मर्यादा का अतिक्रमण तो नही किया? अथवा मेरी मँझली माँ ने स्त्रीजन्य स्वाभाविक लघुतावश स्वय ही ऐसा कर्म कर डाला? पर मेरा इस प्रकार का सोचना-विचारना ठीक नही है क्योकि भरत बडे भाई आर्य राम के लघु भ्राता हैं और मँझली माँ भी मेरे पुण्यश्लोक पिता महाराज दशरथ की धर्मपत्नी हैं।"

अथवा—"यदि ऐसी बात नही है तो गुणो मे श्रेष्ठ तथा अभिषेक के यथार्थ अधिकारी बडे भाई राम को सिंहासनच्युत करने मे किसकी

पारणना स्वीकार करूँ ? (फिर सोचकर) मुझे तो ऐसा लगता है कि मेरे पुण्यों का ही यह फल है जिसके वश ब्रह्मा ने इसी बहाने मुझे सेवा करने का अवसर प्रदान किया।"

लज्जाद्यैर्विक्रियागुप्ताववहित्थाङ्गविक्रिया ।

अवहित्था—लज्जा आदि भावों के कारण उत्पन्न अंग के विकारों के छिपाने को अवहित्था कहते हैं।

जैसे 'कुमारसम्भव' में—

"यद्यपि नारद जिस समय इस प्रकार की (पार्वती के विवाह-सम्बन्धी) बातें कर रहे थे उस समय पार्वतीजी अपने पिता के पास मुँह नीचा करके लीला-कमल के पत्ते बैठी गिन रही थीं।"

व्याधयः सन्निपाताद्यास्तेषामन्यत्र विस्तरः ॥२६॥

व्याधि—सन्निपात रोग आदि को व्याधि कहते हैं। इसका विस्तृत वर्णन और ग्रन्थों में है इसलिए यहां पर इसका वर्णन संक्षेप में ही किया जा रहा है ॥२६॥

जैसे—

कोई दूती किसी नायक से उसकी नायिका की विरहजनित पीड़ा का वर्णन करती हुई कह रही है—"अनवरत प्रवहमान आँसुओं को उसने अपने सम्बन्धियों के जिम्मे और चिन्ता गुरुजनों के लिए, अपनी सारी दीनता कुटुम्बियों को, और सन्ताप सखियों के हवाले कर दिया है। इस प्रकार श्वास-प्रश्वासों के द्वारा परम दुखी वह जी रही है गोया एक या दो दिन की ही और मेहमान है। इस प्रकार उसने अपने सारे दुखों का यथोचित स्थानों में बाँट दिया है अतः अब आप विश्वस्त रहें।"

अप्रेक्षाकारितोन्मादः सन्निपातग्रहादिभिः ।

अस्मिन्नवस्था रुदितगीतहासासितादयः ॥३०॥

उन्माद—बिना सोचे-समझे काम करने को उन्माद कहते हैं। यह

सन्निपात आदि शारीरिक रोगों से तथा ग्रह आदि अन्य कारण से भी होता है। इसमे रोना, गाना, हँसना आदि बातें पाई जाती हैं ॥३०॥

जैसे—

'अरे क्षुद्र राक्षस, ठहर-ठहर, मेरी प्रियतमा को लिये कहाँ जा रहा है ?····क्यो क्या ? अरे, यह तो अभी-अभी बरसनेवाला बादल है, राक्षस नही है। और यह जो टप-टप की आवाज आ रही है यह उस राक्षस के बाण नही अपितु बूँदें हैं तथा यह जो कसौटी पर बनी सोने की रेखा के समान चमक आ रही है यह मेरी प्रिया उर्वशी नही अपितु बिजली है।'

प्रारब्धकार्यासिद्ध्यादेर्विषादः सत्त्वसंक्षयः ।
निःश्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादिकृत् ॥३१॥

विषाद—किसी आरम्भ किये हुए कार्य मे सफलता न प्राप्त कर सकने के कारण धैर्य खो जाने को विषाद कहते हैं। इसमें निश्वास और उच्छ्वास का निकलना, हृदय मे दुःख का अनुभव करना और सहायकों को ढूंढ़ना आदि बातें पाई जाती हैं ॥३१॥

जैसे 'महावीरचरित' मे—

हाय ! आर्या ताड़िका ! क्या कहा जाए तितलौकी जल मे डूब रही है और पत्थर तैर रहे है।"

मनुष्य के बच्चे के द्वारा इस प्रकार की अद्भुत पराजय को प्राप्त करना निश्चय ही राक्षसपति के स्खलित प्रताप का सूचक है। इस प्रकार का अपने इष्टमित्रों का विनाश देखकर भी जीवित बचा हुआ मैं दीनता और कार्पण्य मे जकड़ दिया गया हूँ, क्या करूँ, कुछ समझ मे नही आता !"

कालाक्षमत्वमौत्सुक्यं रम्येच्छारतिसंभ्रमैः ।
तत्रोच्छ्वासत्वरानिःश्वासहृत्तापस्वेदविभ्रमाः ॥३२॥

औत्सुक्य—किसी सुखदायक वस्तु की आकांक्षा से अथवा प्रेमास्पद

की घबराहट के कारण समय न बिता सकने को औत्सुक्य कहते हैं। इसमें श्वास-प्रश्वास का आना, हड़बड़ी, हृदय की वेदना, पसीना और भ्रम आदि बातें पाई जाती हैं ॥३२॥

जैसे 'कुमारसम्भव' में—

"अपने इस सजीले रूप को देखकर पार्वतीजी उत्र रह गईं और महादेवजी से मिलने के लिए मचल उठीं, क्योंकि स्त्रियों का शृंगार तभी सफल होता है जब उसे पति देखे।"

अथवा उसी 'कुमारसम्भव' का यह पद—

"पार्वतीजी से मिलने के लिए महादेवजी इतने उतावले हो गए कि तीन दिन भी उन्होंने बड़ी कठिनाई से काटे। बताइए, जब महादेव जैसे लोगों की प्रेम में यह दशा हो जाती है तो भला दूसरे लोग अपने मन को कैसे सँभाल सकते हैं।"

मात्सर्यद्वेषरागादेश्चापलं त्वनवस्थितिः।

तत्र भर्त्सनपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः ॥३३॥

चपलता—राग, द्वेष, मात्सर्य आदि के कारण एक स्थिति में न रह सकने को चपलता कहते हैं। इसमें भर्त्सना, कठोर वचन, स्वच्छन्द आचरण, आदि लक्षण पाए जाते हैं ॥३३॥

जैसे 'विकट नितम्बा' का यह पद—

"हे भ्रमर! तू अपने चंचल मन का रमणस्थल ऐसी सुन्दर लता को बना जो तेरी मसलन बरदाश्त कर सके। पर जिसमें रज का आरम्भ ही अभी नहीं हो पाया है ऐसी नूतन नवमल्लिका की कलियों को अकाल ही में कष्ट पहुँचाना तो ठीक नहीं है।"

अथवा जैसे—

विकट नितम्बा कह रही है—"परस्पर सघर्षण से शब्दयुक्त कठोर दांत रूपी आरों से भरा हुआ कन्दरा के समान मध्यभाग वाला मेरा मुख क्या प्रकुपित होकर अभी-अभी तुम्हारे ऊपर गिरे?"

उपरिकथित भावो के अतिरिक्त अन्य चित्तवृत्तियाँ इन्ही सबके भीतर विभाव, अनुभाव आदि स्वरूपो के द्वारा आ जाएँगी। अत उनका अलग नही गिनाया गया।

स्थायीभाव

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न य ।

आत्मभावं नयत्यन्यान्स स्थायी लवणाकरः ॥३४॥

स्थायीभाव—विरोधी अथवा अविरोधी भावों से जिसका प्रवाह विच्छिन्न न हो तथा जो अन्य भावो को आत्मसात् कर ले उसे स्थायीभाव कहते हैं ॥३४॥

सजातीय एव विजातीय भावान्तरो स जो तिरस्कृत न होकर काव्य मे उपनिबद्ध होते हैं उन रत्यादि भावा को स्थायीभाव कहते हैं। उदाहरणार्थ हम वृहत्कथा म नरवाहनदत्त का मदनमजुका के प्रति जो अनुराग है उसे ले सकते हैं। वह अनुराग अन्य नायिकाओ के अनुराग से टूटता नही है अर्थात् यहाँ सजातीय अनुरागो से मदनमजुका के अनुराग मे बाधा नही पहुँचती है। उसका प्रवाह गतिशील ही बना रहता है।

विजातीय भावो से स्थायी का उदाहरण मालतीमाधव के श्मशानाङ्क में माधव का मालती के प्रति अनुराग मे दिखाई देता है। यहाँ यद्यपि माधव की चित्तवृत्ति बीभत्स रस से आप्लावित है, जो एक विजातीय भाव है फिर भी इससे मालती के प्रति जो रति की भावना है वह टूटती नही है। वहाँ उसके हृदय मे मालती का करुण क्रन्दन कुछ क्षण के लिए दबे हुए रति भाव को जगा देता है। माधव का यह वाक्य इसम प्रमाण है—

'मेरे उस सस्कार के जागृत रहने से प्यारी की स्मृति-धारा इतनी प्रबल हो गई है कि न तो उसका प्रवाह दूसरी बातो द्वारा रोके रुकता है और न उसके मार्ग मे कोई विपयान्तर का विचार बाधा पहुँचा

सकता है। बात तो यह है कि उसके अविराम स्मरण होने से मेरे अन्त -करण की वृत्ति तदाकार (प्रियतमाकार) हो गई है। भीतर-बाहर सर्वत्र उस प्राणप्यारी का रूप अनुदृष्टिगोचर हो रहा है। बस इसी ज्ञान-ध्यान ने मुझे तन्-(प्रियतमा-) मय बना दिया है।"

अत इस प्रकार से विरोधी और अविरोधी का समावेश काव्य में स्थायी का बाधक नहीं होता क्योंकि विरोधी दो प्रकार का होता है—
१. सहानवस्थान और २ वाध्यबाधकभाव।

यहाँ पर दोनों प्रकार के विरोधों की सम्भावना नहीं है क्योंकि इनका पार्यन्तिक अवसान एकाकार होकर होता है।

स्थायी के विरोध-स्थल में 'सहानवस्थान' हो नहीं सकता क्योंकि रत्यादि भावना से उपरक्त अन्त करण में अविरोधी व्यभिचारियों का उपनिबद्धन् सक्सूत्र न्याय से समस्त भावकों की अपनी संवेदना से सिद्ध है।

जैसे यह अनुभव से सिद्ध है वैसे ही काव्य-व्यापार के आवेश में अनुकार्य में भी निवेशित किया हुआ साधरणीकरण के माध्यम से उसी प्रकार आनन्दात्मक ज्ञान के उन्मीलन में कारण बनता है। अत. भावों का सहानवस्थान सम्भव नहीं है।

अविरोधी रसान्तर से व्यवहित होकर उपनिबद्ध हो तो वहाँ विरोधी नहीं हो सकता है जैसे प्राकृत के इस श्लोक में—[1]

प्रश्न—हाँ (मैं) मान लिया कि जहाँ एक तात्पर्य से विरुद्ध और अविरुद्ध भावों को अंग रूप से रखा जाता है उनमें कोई विरोध नहीं होता क्योंकि एक प्रधान रहेगा दूसरा (विरुद्ध और अविरुद्ध) उसका अंग रहेगा, अतः विरोध नहीं होगा पर जहाँ पर दोनों समप्रधान रहें वहाँ पर क्या स्थिति होगी ? जैसे निम्नलिखित श्लोक में—

एक तरफ प्रिया रो रही है दूसरी तरफ समर-दुन्दुभि का निर्घोष हो रहा है, अतः प्रेम और रण के आवेग से वीर का मन दोलायित हो रहा है।'

यहाँ रति और उत्साह सम प्रधान हैं। इसी प्रकार नीचे के श्लोक में—

हे सज्जन लोग आप कपट को छोड़ निष्पक्ष दृष्टि से विचार करके मर्यादा के साथ निर्णय दें कि पर्वतों की कदराएँ सेवन के योग्य हैं। अथवा कामदेव के बाणों से विद्ध विलासिनियों के नितम्ब ?"

यहाँ पर रति और शम भाव की समप्रधानता है। ऐसे ही—रावण की यह उक्ति है—"इधर यह (सीता) तो त्रिभुवन की सुन्दरियों में श्रेष्ठ चचल नेत्रवाली है और उधर यह दुष्टात्मा वही है जिसने मेरी बहन के साथ दुर्व्यवहार (शूर्पणखा की नाक काटना) किया है। इधर इसको देख काम की बलवती लालसा जागृत होती है उधर उसे देख क्रोध के मारे सारा शरीर जल उठता है। और मैंने भी तो अपने वेष की रचना (साधु वेष) भी विचित्र ही कर ली है क्या करूँ कुछ समझ में नहीं आ रहा है ?'

यहाँ पर रति और क्रोध इन दोनों स्थायीभावों का समप्राधान्य है। ऐसे ही—

'इन पिशाचिनियों ने अन्तड़ियों का रक्षासूत्र बाँध रखा है। इन्होंने

1 यह श्लोक इतना जटिल है कि इसका अर्थ स्पष्ट नहीं होता है।

होता है। इस पक्ष मे 'भट' पद का उपादान और भी प्रमाण रूप मे है। इसलिए यह कहना भी ठीक नही कि करुण एव उत्साह का समप्राधान्य पारस्परिक अगागीभाव का प्रतिबन्धक है। दूसरी बात यह भी है कि जब सग्राम का आरम्भ हो चुका हो उस समय सुभट लोग कार्यान्तर मे प्रवृत्त हो, यह तो महान् अनुचित है। अत भर्ता की सग्राम मे यह रसिकता शौर्य को ही प्रकाशित करती है। और फिर प्रियतमा के करुण विप्रलम्भ से वीर रस का ही पोष होता है। अत दोनो समप्रधान नही, प्रत्युत अगागीभावापन्न हैं।

इसी प्रकार 'मात्सर्य ' ' इत्यादि श्लोक मे चिरकाल से प्रवृत्त रति वासना का हेय बुद्धि से उपादान होने के कारण शमभाव के प्रकाशन मे तत्परता जान पडती है। और इसके पोष मे 'आर्या समर्यादमिद वदन्तु' मे वदन्तु बद्ध परिकर होकर खडा है। इसी प्रकार 'इय सा लोलाक्षी'' आदि' इत्यादि मे रावण प्रतिपक्ष नायक है और वह निशाचर होने से माया-प्रधान है। अत निशाचर प्रकृति के व्यक्ति मे रौद्ररस का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ रति एव क्रोध के व्यजक का उपादान सन्देह का प्रत्यापक है जिससे 'वितर्क' व्यभिचारी भाव का जन्म होगा, और इस वितर्क व्यभिचारी भाव का रौद्ररस के पोष के लिए उपादान आवश्यक है।

'मन्ने कपिल गगल प्रतिसरा'' इत्यादि श्लोक केवल हास्यरस का ही व्यजक है। 'एव ध्यान निमीलनात्' इत्यादि भी एकमात्र 'शम' के प्रत्यायन मे तत्पर है। यहाँ 'शम' भाव मे स्थित शम्भु को भावान्तर आकृष्ट नही कर रहे हैं। यह अन्य योगियो की अपेक्षा शम्भु की विलक्षणता है। फिर विलक्षण योगी के 'शम' को भावान्तर स्खलित करें यह असम्भव है। इसी पक्ष का पोष करनेवाला 'समधिसमये' यह पद भी है। 'एकेनाक्ष्णा' इत्यादि मे समस्त वाक्य भावी विप्रलम्भपरक ही है।

(यह स्थिति अश्लिष्टार्थक श्लोकों मे रही) पर श्लिष्ट श्लोकों मे जहाँ अनेक रसो के तात्पर्य से पद पदार्थों की सघटना है वहाँ पर भी

विरोध की सम्भावना नहीं है। कारण यह है कि विरोध समप्राधान्य रहने पर होता है। श्लिष्ट स्थल में दो स्थितियाँ हो सकती हैं—पहली तो यह जहाँ दोनों अर्थों में उपमानोपमेय भाव स्थापित हो जाता हो और दूसरी वह जहाँ दोनों अर्थ स्वतन्त्र हों। इस प्रकार प्रथम स्थिति में उपमान वाच्य का अंग बन जाएगा। अतः दोनों वाक्यों में अंगांगिभाव की व्यवस्था सम्भव है। अतः समप्राधान्य नहीं है। दूसरी स्थिति में भी पृथक् पृथक् वाक्यार्थ दो विभिन्न रसों के प्रतिपादन में तत्पर होंगे। इस स्थिति में भी प्रति वाक्य पीछे एक अर्थ की ही प्रधानता रहेगी। इस तरह से यहाँ अनेक प्राधान्य सम्भव न होने से उक्त प्रकार का विरोध असम्भाव्य ही है। उदाहरणार्थ—

[सुदर्शनकर] जिनका केवल हाथ ही सुन्दर है। [अथवा सुदर्शन चक्र होने से सुदर्शनकर विष्णु] जिन्होंने केवल चरणारविन्द के सौन्दर्य से [अथवा पाद निक्षेप से] तीनों लोकों को आक्रान्त किया है और जो चन्द्ररूप [से केवल] नेत्र को धारण करते हैं [अर्थात् जिनका केवल एक नेत्र ही चन्द्ररूप है] ऐसे विष्णु ने अखिल देहव्यापी सौन्दर्यशालिनी, सर्वांग सौन्दर्य से त्रैलोक्य विजय करनेवाली और चन्द्रसदृश सम्पूर्ण मुख को धारण करनेवाली जिन [रुक्मिणी] को उचित रूप से ही अपने शरीर से उत्कृष्ट देखा वह रुक्मिणीदेवी तुम सबकी रक्षा करें।

[यहाँ व्यतिरेक की छाया का परिपुष्ट करनेवाला श्लेष वाच्य रूप से प्रतीत होता है।]

इस प्रकार उक्त विधि से रत्यादि स्थायीभावों का उपनिबन्धन करने में सर्वत्र विरोध की स्थिति परिहृत हो जाएगी। जिस प्रकार उन वाक्यों का भी, जिनमें इत्यादि वाचक पद उपनिबद्ध हैं, तात्पर्य एक ही स्थायीभाव में है, इस बात को हम आगे दिखाएँगे। वस्तुतः 'यथावाक्यमुपमा' का खण्डन करना चाहिए। 'वा—+अप्युपमा इत्यादि'—अर्थात् उन वाक्यों का तात्पर्य जिनमें रत्यादि स्ववाचक शब्द से उदात्त न हों, उनमें तो व्यंजना के द्वारा आ सकने पर रसोपयोगी

स्थायित्व को प्राप्त कर सकेंगे। अन्यथा वाच्य वृत्ति से आलिंगित रहने पर तो रत्यादि भाव नहीं कहे जा सकेंगे और फिर उनके लिए स्थायित्व की प्राप्ति असम्भव हो जाएगी।

और वे [निम्नलिखित स्थायीभाव हैं]—

रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भय शोकः।
शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ॥३५॥

'रति, उत्साह, जुगुप्सा, क्रोध, हास, स्मय, भय, शोक, ये आठ स्थायीभाव हैं। कुछ लोग शम को भी स्थायीभाव मानते हैं पर इसकी पुष्टि नाट्य में नहीं होती।' ॥३५॥

इस स्थल में शान्तरस से प्रतिवादियों की अनेक प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ हैं। उनमें से एक दल का कहना है कि शान्त नाम का कोई रस ही नहीं है। इसमें कारण है आचार्य के द्वारा इसके विभावादिकों का वर्णन न करना तथा लक्षण का अभाव।

कुछ का कहना है कि केवल आचार्य भरत ने विभाव आदि का प्रतिपादन नहीं किया है, इसीलिए शान्तरस नहीं है यह बात नहीं है, प्रत्युत वस्तुत शान्तरस नहीं है। इसका कारण स्पष्ट है—शम की पुष्टि ही शान्त है और शम की उत्पत्ति राग-द्वेष के समूल नष्ट होने पर निर्भर करती है। यह राग-द्वेष जो अनादि काल से अन्तःकरण में चलता चला आ रहा है, उसका उच्छेद वास्तविकता में बिना व्यावहारिक अवस्था के होना भी असम्भव है।

तीसरा दल यह कहता है कि शान्तरस का अन्तर्भाव वीर, बीभत्स आदि ही में किया जा सकता है। इस प्रकार कहते हुए वे शम भाव का भी खण्डन कर देते हैं।

चाहे जो भी हो, पर इतना तो सुनिश्चित है कि रूपकों में शम का स्थायित्व कुछ ग्राह्य नहीं है। कारण यह है कि नाट्य अभिनयात्मक होता है और 'शम' समस्त व्यापारों का अविषय रूप है। अतः इन दोनों (शम और अभिनय) का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? अर्थात्

किसी प्रकार इन दोनो का सम्बन्ध नही बैठ सकता।

कुछ लोगों ने नागानन्द मे शम को स्थायीभाव माना है। उनके कथन का स्पष्ट विरोध आप्रबन्धप्रवृत्त मलयवती के अनुराग एव विद्याधर की चक्रवर्तित्व प्राप्ति से है। कहने का भाव यह है कि यदि जीवमूतवाहन शम प्रधान होता तो उसे मलयवती मे अनुराग और चक्रवर्तित्व की प्राप्ति स्वीकार नही होती। एक ही अनुभाव स्वरूप विभाव का आश्रय करके परस्पर-विरोधी शम एव रति (शान्त एव शृगार) की उपलब्धि नही भी नही देखी गई। अत वस्तुत यहाँ दया-वीर के स्थायीभाव उत्साह का ही उपनिबन्ध मानना चाहिए। इस प्रकार से यहाँ शृगार का अगभाव तथा चक्रवर्तित्व की प्राप्ति का विरोध हट जाता है। कर्तव्य मात्र म इच्छा चिपकी ही रहती है। अत परोपकार रूप कर्तव्य म साभिलाष प्रवृत्त विजिगीषु (विजय की इच्छा रखनेवाले) का फल की प्राप्ति अवश्यभावी है। साभिलाष कर्तव्य और फल का नित्य सम्बन्ध है। इस विषय की चर्चा द्वितीय प्रकाश म ही पर्याप्त रूप से की जा चुकी है। अत वस्तुत आठ ही स्थायी (भाव) होते हैं।

प्रश्न—उक्त सिद्धान्त पर कुछ लोगो की यह आपत्ति है कि वस्तुत मधुर शृगार आदि रसो के समान ही इन निर्वेद आदिको की रस रूप की प्राप्ति रसन अर्थात् आस्वाद के कारण ही है। क्योकि जिस प्रकार शृगार आदि आस्वाद्य होने के कारण रस कहे जाते हैं वह आस्वाद-रूपता जब शम आदि मे भी पर्याप्त दिखाई देती है तो क्यो इन्हें रस न माना जाय? इन युक्तियो से अन्य रसो की भी कल्पना कर उनके विभिन्न स्थायीभावो की कल्पना की गई है। फिर इस प्रकार जब कई रस हो सकते हैं तो 'अष्टावेव' मे रसो की सख्या को आठ ही म बाँधना कहाँ तक युक्ति सगत है?

उत्तर—[इसका उत्तर आचार्य धनिक निम्नलिखित प्रकार से देते हैं—]

निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम् ।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मता. ॥३६॥

निर्वेद आदि भाव अपने विरोधी एव अविरोधी भावो से उच्छिन्न हो जाते हैं, अत स्थायित्व के मूल कारण का अभाव होने से ये अस्थायी हैं। फिर इनमे भला रस कोटि का आस्वाद हो कैसे सकता है ? इस स्थिति में भी यदि इसे स्थायी मानकर इसकी अन्य रसों की भाँति पोष करने के लिए सामग्रियाँ इकट्ठी की जाएँगी तो उनसे वैरस्य उत्पन्न होने को छोड सरसता कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकती ॥३६॥

किसी भी भाव के स्थायी होने का तात्पर्य है, उसका विरोधी एव अविरोधी भावो से उच्छिन्न न होना, पर निर्वेदादिकों में यह स्थिति न होने के कारण इन्हे हम अस्थायी ही कहेगे। उनका स्थायी की भाँति आस्वाद न होने ही के कारण अपने व्यभिचारी भाव चिन्ता आदि का बीच-बीच मे निक्षिप्त होने से परिपुष्ट किया जाता हुआ भी वस्तुत विरसता ही बनी रहती है। इसकी अस्थायिता का कारण इसकी निष्फलता नही है अन्यथा हास्यादिकों के भी स्थायीभावों को निष्फलता-वशात् अस्थायित्व हो सकता है। हास्यादिको मे इस दोष (निष्फलता) से मुक्ति पाने के लिए यदि यह कहा जाए कि हास्य के स्थायीभाव की परम्परा सफलता लिये हुए है, निष्फल नही है, क्योकि राजा आदि दर्शन सम्भव है प्रसन्न होकर धन-सम्पत्ति का दान नटो को प्रदान कर सकते है। अत हास्य आदि की सफलता उनके स्थायित्व की साधिका ही होगी, प्राप्ति की बाधिका नही।

पर स्थिति यह है कि यदि इस प्रकार परम्परा या फल-कल्पना की चर्चा तो शान्त आदमियो के भी स्थायीभावो की है फिर तो यह (शान्त) भी स्थायीभाव की कोटि मे आ जाएगा। अतः निष्फलता स्थायीभाव का प्रयोजक नही है, प्रत्युत विरुद्ध एव अविरुद्ध भावो से उच्छिन्न न होना ही स्थायिता का प्रयोजक है। निर्वेद आदि मे इस प्रयोजक के न होने से उनकी स्थायिता नही बन सकती। अत निर्वेद आदि की स्थायित्व

की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। इसलिए अस्थायी होने के कारण इनकी अरसता है अर्थात् ये रस नहीं हो सकते।

अब विचारणीय यह है कि इन भावों का काव्य से क्या सम्बन्ध है? काव्य से भावों का वाच्य-वाचक भाव-सम्बन्ध इसलिए सम्भव नहीं है क्योंकि भाव भी स्वशब्द से कथित नहीं होते अपितु विभावादिकों से बोध्य होते हैं। शृंगार आदि रसों से युक्त काव्यों में शृंगार आदि अथवा रत्यादि शब्द कभी भी श्रुतिगोचर तो होते नहीं जिससे हम इन भावों के अथवा इनके वर्द्धमान स्वरूप को अभिधेय कहते। अथवा मान लिया जाए कहीं रत्यादिकों का स्वशब्दवाचक शब्द (रति या शृंगार) से बोध होता भी हो तो वहाँ इसकी आस्वाद्यता का कारण यह अभिधेयक शब्द नहीं होता प्रत्युत विभाव आदि के ही कारण इनकी रसरूपता सम्भव है, केवल अभिधायक शब्द मात्र से ही वह आस्वाद्य होता हो ऐसा कभी सम्भव नहीं है।

भावों का काव्य के साथ लक्ष्य-लक्षक भाव-सम्बन्ध भी नहीं बन सकता, क्योंकि विशेष रस की प्रतीति के लिए सामान्य पद (रस) का प्रयोग होता ही नहीं है। रस सामान्यवाचक है और प्रतीति किसी विशेष रस की होती है। सामान्य रस शृंगार आदि विशेष के वाचक हो नहीं सकते।

यहाँ लक्षित लक्षणा भी नहीं हो सकती है क्योंकि जिस प्रकार 'गंगा में घोष है' इस स्थल में स्रोत-स्वरूप गंगा में घोष की आधारता (रहना) सम्भव नहीं है, अत गंगा शब्द विवक्षित अर्थ की प्रतीति कराने में पूर्णत असफल है। फलत स्वार्थ स्रोत से नित्य सम्बद्ध तटरूप अर्थ को वहाँ गंगा शब्द लक्षित करता है। इसी प्रकार किसी भी रस की प्रतिपत्ति कराने के लिए प्रयुक्त शब्द विवक्षितार्थ के बोध कराने में स्खलित गति (असमर्थ) नहीं होता है तो फिर भला वे क्यों लक्षणा से रस की प्रतीति कराएँगे? यदि बलात् इन पदों की लक्षणा की भी जाए तो हम यह पूछते हैं कि भला ऐसा कौन होगा जो रूढ़ि या प्रयोजन के

बिना ही अन्यार्थ में अन्यार्थवाचक शब्द का औपचारिक प्रयोग करेगा? इन कारणों से ही 'सिंहोमाणवक' आदि की भाँति गुणवृत्ति की भी सम्भावना नहीं है।

दूसरी बात यह है कि यदि रस वाच्य रूप से प्रतीत होता तो इस स्थिति में वाच्य-वाचक मात्र का ज्ञान रखनेवाले असहृदयजनों को भी काव्य के रस का आस्वाद होने लगता।

यह रस की प्रतीति केवल काल्पनिक नहीं है जो इसे नकारा (अस्वीकार करना) जा सके, क्योंकि सभी सहृदय रस की सत्ता का एक मत हो समर्थन करते हैं। इसीलिए इस अर्थ की सिद्धि के लिए परिकल्पित अभिधा, लक्षणा एवं गौणी से अतिरिक्त व्यञ्जकत्व लक्षणवाला व्यंजना-व्यापार स्वीकार करते हैं।

विभाव अनुभाव और व्यभिचारी के द्वारा अनुभूत होती हुई रसादि की प्रतीति वाच्य कैसे हो सकती है? जैसे 'कुमारसम्भव' में—

"पार्वतीजी फूले हुए नये कदम्ब के समान पुलकित अंगों से प्रेम जतलाती हुई, लजीली आँखों से अपना अत्यन्त सुन्दर मुख कुछ तिरछा करके खड़ी रह गई।"

इत्यादि में अनुराग से उत्पन्न होनेवाली जो अवस्था विशेषरूप अनुभाव है उससे युक्त गिरिजारूप विभाव के वर्णन से ही रस की प्रतीति होती है, यद्यपि रत्यादिवाचक शब्द यहाँ नहीं हैं। अन्य रसों के विषय में भी ऐसा ही समझना चाहिए। केवल रस ही की बात नहीं है वस्तु मात्र में भी यही स्थिति है। जैसे—

यह बात अलंकारों में भी पाई जाती है। जैसे—

हे चंचल और विशाल नेत्रोंवाली, लावण्य और कान्ति से दिगन्तर को परिपूरित कर देनेवाली तुम्हारे मुख के मन्द-मुस्कान में युक्त होने पर भी इस समुद्र में ज़रा भी क्षोभ पैदा नहीं होता है, अतः मालूम होता है कि यह वास्तव में मूढ़ता से भरा हुआ है [जलराशि का जड राशि करना पड़ता है क्योंकि संस्कृत में ल और ड में भेद नहीं माना जाता,] इत्यादि में तन्वी का वदनारविन्द चन्द्र के तुल्य है इत्यादि उपमा अलंकार की प्रतीति व्यंजना शक्ति के ही कारण है। इस प्रतीति को अर्थापत्ति से लाया हुआ नहीं कह सकते क्योंकि अर्थापत्ति के लिए अनुपपद्यमान अर्थ की अपेक्षा रहती है पर व्यंजना के लिए इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रतीति को वाच्यार्थ भी नहीं कह सकते क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ है तृतीय कक्षा का विषय। उदाहरणार्थ 'भ्रम धार्मिक विश्रब्धः' इत्यादि स्थल में पहले पदार्थ प्रतीति होती है जो अभिधा का कार्य है। इस प्रथम कक्षा की पदार्थ प्रतीति के अनन्तर द्वितीय कक्षा में क्रिया कारक संसर्ग स्वरूप वाच्यार्थ की प्रतीति होती है, तदनन्तर तृतीय कक्षा में 'भ्रमण निषेध' स्वरूप व्यंग्यार्थ, जो व्यंजना-शक्ति के अधीन है, स्पष्ट ही भासित होता है। अतः द्वितीय कक्षा में प्रतीति वाच्यार्थ से तृतीय कक्षा में प्रतीति होनेवाला व्यंग्यार्थ सदैव भिन्न है। अतः व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ कथमपि एक नहीं हो सकता।

यद्यपि 'विष भुङ्क्ष्व' इत्यादि वाक्यों में जहाँ पदार्थ-तात्पर्य शब्दतः श्रूयमाण नहीं है, और तात्पर्य है 'भोजन निषेध' आदि। वहाँ वाच्यार्थ की तृतीय कक्षा है ही। इस स्थल में व्यंजनावादी को भी 'निषेधार्थ प्रतीति' वाच्यार्थ मानना ही पड़ेगा, क्योंकि तात्पर्य से ध्वनि सर्वथा भिन्न है। यहाँ निषेध का ही तात्पर्य है व्यंग्य का नहीं और वह स्पष्टतः तृतीय कक्षा का विषय है। तथापि इस प्रकार तात्पर्यार्थ स्वरूप वाच्यार्थ भी तृतीय कक्षा का विषय हो गया, यह कहना ठीक नहीं है।

वस्तुतः 'विष भुङ्क्ष्व' जैसे वाक्यों का स्वार्थ द्वितीय कक्षा में

अविश्रान्त ही रहता है—उस कक्षा मे अभिधा की सहायता प्राप्त पदार्थों के परस्पर ससर्ग रूप वाच्यार्थ से जो द्वितीय कक्षा मे प्रतीत होती है—जिज्ञासा शान्त नही होती, अत जब तक स्वार्थ मे वाक्यार्थ विश्रान्त न हो तब तक द्वितीय कक्षा ही चलती रहती है। तृतीय कक्षा तो स्वार्थ-विश्रान्ति के अनन्तर प्रारम्भ होती है और उसे व्यग्य (कक्षा) कहते हैं। यहाँ द्वितीय कक्षा मे क्रिया, कारक, ससर्ग, रूप वाक्यार्थ अनुपपन्न इसलिए है कि इस वाच्य का प्रवक्ता पिता अपने पुत्र को विष भक्षण मे नियुक्त कैसे करेगा ?

पर सरस वाक्यो मे विभाव आदि की प्रतीति द्वितीय कक्षा मे होती है, रसो की नही। अत रस रूप व्यग्यार्थ की तृतीय कक्षा निर्विवाद सिद्ध हुई। कहा भी है—"स्वार्थ मे प्रतिष्ठित न होने के कारण अविश्रान्त वाक्य जो तात्पर्य बोधित करना चाहता है उस तात्पर्यार्थ मे तात्पर्यवृत्ति का ही मानना उचित है। किन्तु जब वाच्य स्वार्थ मे विश्रान्त होकर प्रतिष्ठित हो चुका हो और फिर भी किसी अन्य अभिप्रेत अर्थ को बताने मे उन्मुख हो तो उस अर्थ मे निश्चय ही ध्वनि की स्थिति है।" इस प्रकार सर्वत्र रस सर्वथा व्यग ही रहेंगे। परन्तु वस्तु और अलकार तो कही व्यग्य और कही वाच्य होगे। इस स्थिति मे सभी व्यग्य ध्वनि नही कहे जा सकते, प्रत्युत वही जहाँ प्रधानतया तात्पर्य विषय का हो। जहाँ व्यग्यार्थ मे प्रधान रूप से तात्पर्य नही हो, वहाँ व्यग्य के प्रधान न होने से गुणीभूत व्यग्य की स्थिति होगी। कहा भी है—

'जिस स्थान मे अपने अर्थ को गुणीभूत बनाकर शब्द एव अपने ही को अप्रधान बनाकर अर्थ अन्य अर्थ के द्योतन मे तत्पर होता है उसे विद्वानो ने ध्वनि नामक काव्य का एक (उत्तम) भेद माना है।" परन्तु जहाँ द्वितीय कक्षा वाक्यार्थ ही प्रधान होता है और रस आदि उसके अग होते हैं ऐसे काव्य मे रस आदि प्रधान के उपस्कारक होने के कारण अलकार ही होते हैं।"

जैसे 'उपोढरागेण' इत्यादि स्थल मे रसादि अलकार हैं।

उस ध्वनि के विवक्षित वाच्य और अविवक्षित वाच्य दो भेद होते हैं। अविवक्षित वाच्य के भी अत्यन्त तिरस्कृत और अर्थान्तर सक्रमित दो भेद होते हैं। विवक्षित वाच्य के भी दो भेद होते हैं—

१. असलक्ष्यक्रम और २. सलक्ष्यक्रम। इसमे रसादि असलक्ष्यक्रम मे आते हैं। ये रसादि अङ्गीरूप (प्रधान रूप) मे रहें तभी ध्वनि कहे जाते हैं और यदि अप्रधान हो जाएं तो रसवद् अलकार कहलाने लगते हैं। अप्रधान रहने पर ध्वनि नही रह जाते हैं।

इस प्रकार तृतीय कक्षा मे ज्ञात अर्थ की व्यगता को पूर्व पक्ष मे रखकर उसके तात्पर्यार्थता सिद्धान्तित करने के लिए अब 'वाच्या' इत्यादि से आरम्भ करते हैं।

वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायी भावस्तथेतरैः ॥३७॥

जिस प्रकार वाच्य अथवा प्रकरण आदि के द्वारा गम्य क्रिया कारकों से युक्त होकर वाक्यार्थ बनता है, उसी प्रकार विभावादिकों से युक्त स्थायीभाव भी वाच्यार्थ की कुक्षि मे आ सकता है ॥३७॥

जिस प्रकार 'गामभ्याज' इत्यादि लौकिक वाक्यो मे स्ववाचक पद से श्रूयमाण तथा 'द्वार द्वार' इत्यादि मे प्रकरण आदि वशात् बुद्धि मे उपारूढ क्रिया ही कारकों से ससृष्ट होकर वाच्यार्थ बनती है, उसी प्रकार का यो मे कही 'प्रीत्यै नवोढा प्रिया' इत्यादि स्थल मे स्ववाचक शब्द (प्रीतिवाचक शब्द) के उपादान करने से श्रूयमाण एव कही प्रकरणादि वशात् नियत रूप से अभिधा के द्वारा प्रतिपादित विभाव आदि के साथ नित्य सम्बन्ध होने के कारण साक्षात भावक के चित्त म स्फुरित होता हुआ रत्यादि स्थायीभाव ही अपने अपने उन विभावादिकों से, जो उनके अभिधायक शब्दो द्वारा आवेदित किये गए हैं, सस्कार परम्परा से पराप्रौढि को प्राप्त कराया जाता हुआ रस पदवी को प्राप्त करता है और यह वाच्यार्थ ही है।

हाँ, इस पर यदि आप यह कहे कि वाक्यार्थ पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध से अभिनिष्पन्न होता है अत वाक्यार्थ मे पद से अभिहित पदार्थों की ही (ससर्गसहित) प्रतीति होगी, जो पद से अभिधा के द्वारा आवेदित होगे ऐसे अपदार्थों की प्रतीति वाक्यार्थ मे सम्भव नही। रति आदि भावो की यही स्थिति है, वे दूसरे के द्वारा कभी भी बोधित नहीं हो सकते अत अपदार्थ ही होगे। और अपदार्थ इत्यादि (पुष्ट अथवा अपुष्ट) वाक्यार्थ कैसे बन सकेंगे ?

इस पर हमारा कथन यह है कि तात्पर्यार्थ तो वाक्यार्थ है ही, इसे तो आप कथमपि अस्वीकार नही करेंगे और तात्पर्य कार्यसिद्धि करने पर पर्यवसित हुआ करता है। कहने का भाव यह है कि सभी वाक्य दो भागो मे विभाजित किए जा सकते है—पौरुषेय और अपौरुषेय। और ये द्विविध वाक्य किसी-न-किसी उद्देश्य से प्रयुक्त होते हैं। यदि इनका कोई तात्पर्य नही—उद्देश्य नही तो वे उन्मत्तो के प्रलाप से अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध नही हो सकते। काव्य वाक्यो का यदि अन्वय व्यतिरेक से जिस कार्य के प्रति कारणता देखी जाती है वह निरतिशय सुखास्वाद से अतिरिक्त कुछ नही है, अत आनन्दोत्पत्ति ही कार्य रूप से निर्णीत किया गया है। इस आनन्द के अतिरिक्त किसी मान्य पदार्थ का न तो काव्य प्रतिपादक है, जो प्रतीतिपथ मे आएगा और न तो इसके अतिरिक्त प्रतीतिपथ मे आनेवाला कोई पदार्थान्तर प्रतिपाद्य ही है। इस आनन्दोद्भूति का निमित्त विभाव आदि से सम्बन्धित स्थायी ही अवगत होता है। अतः वाक्य की अभिधान शक्ति (तात्पर्य) उस स्थल के (वाक्यार्थ रस रूप) स्वार्थ की निष्पत्ति के लिए अपेक्षित अवान्तर विभावादिको का प्रतिपादन करती हुई पर्यवसन्न होती है। ऐसी स्थिति मे आप विभाव आदि को तो पदार्थ स्थानीय समझें। उन्ही से ससृष्ट इत्यादि स्थायीभाव वाक्यार्थ पदवी प्राप्त करते हैं, अर्थात् रस इस प्रकार द्वितीय कक्षा मे प्रविष्ट होनेवाला वाक्यार्थ ही है। इस प्रकार काव्य वाक्य ही है जिसका अर्थ पदार्थ एव वाक्यार्थ दोनो ही है।

इस पूर्वकथित सिद्धान्त पर यह पूर्वपक्ष खड़ा हो सकता है कि जिस प्रकार गीत आदि का उसके द्वारा उत्पन्न सुख से वाच्यवाचक भाव नहीं है, उसी प्रकार काव्य वाक्य से उत्पन्न रसादि का भी वाच्य-वाचकों में वाच्यवाचक भाव का अभाव होना चाहिए।

पर यह कथन निम्नलिखित कारणों से ग्राह्य नहीं हो सकता—

यहाँ तो रसास्वाद उन्हीं को हो सकता है जिन्हें शब्द से निवेदित अलौकिक विभाव आदि सामग्री का ज्ञान है तथा उक्त प्रकार की रत्यादि भावना हो चुकी है, अतः यहाँ गीत आदि की भाँति वाच्य वाचक भाव का उपयोग नहीं है यह कथन ठीक नहीं है। बिना वाच्य-वाचक भाव, ज्ञान एवं सहृदयता के रस के कारणों का ही अन्तःकरण में उपस्थित होना असम्भव है। इस युक्ति से अब यह आपत्ति नहीं की जा सकती कि गीत आदि से उत्पन्न होनेवाले सुख का आस्वाद लेनेवाला जिस प्रकार वाच्य-वाचक भाव आदि से रहित व्यक्ति भी हो सकता है, उसी प्रकार काव्य से उत्पन्न आस्वाद का भी वह आस्वादक बन सकेगा। वाक्यार्थ का इस प्रकार निरूपण हो जाने पर परिकल्पित अभिधा प्रभृति शक्ति की सहायता से ही समस्त रसादि रूप वाक्यार्थ का बोध हो जाएगा, अतः व्यंजना-जैसी दूसरी शक्ति की कल्पना प्रयास मात्र ही है जैसा कि हमने वाक्य-निर्णय में बताया है—

ध्वनि काव्य की भित्ति है। व्यंजना-व्यापार और उक्त रीति से यह स्पष्ट देख लिया कहा गया है कि व्यंजना-व्यापार तात्पर्य से पृथक् कोई तत्त्व नहीं है। अतः ध्वनि काव्य भी कोई पदार्थ नहीं है अथवा अन्य पदार्थ नहीं है। यदि हमारी उक्त व्यवस्था आपको स्वीकार नहीं है— अर्थात् अधुना तात्पर्य को आप तृतीय कक्षा का विषय मानकर व्यंग की एक तीसरी कोटि बनाते हैं और उसे वाच्यार्थ से भिन्न मानकर ध्वनि संज्ञा प्रदान करते हैं तो आपसे पूछते हैं कि जहाँ वाच्य का तात्पर्य शब्द से निवेदित नहीं है ऐसी अप्रस्तुत अलंकृति में आप क्या करेंगे? वहाँ भी तो आप ध्वनि काव्य स्वीकार करेंगे? यद्यपि

नहीं कर सकते। फिर इस अव्यवस्थित व्यवस्था में क्या आस्था ?

अथवा इस श्लोक के पूर्वार्द्ध को तात्पर्यवादी का एव उत्तरार्द्ध को व्यजनावादी का मत समझिए। फिर पूर्वार्द्ध की व्याख्या तो ऊपर के अनुसार कीजिए, रही बात उत्तरार्द्ध की, सो उसे यो लगाइए—

'मा विद्धि शाखोटकम्' इत्यादि अन्योक्ति के उदाहरण मे जहाँ तात्पर्य शब्दत श्रूयमाण नही है—आप क्या कहेगे ? अर्थात् यहाँ अमुक तात्पर्य है, यह कैसे कह सकेगे ? बात यह है कि—"तात्पर्य वक्तुरिच्छा" तात्पर्य वक्ता की इच्छा का नाम है। यहाँ पर शाखोटक मे इच्छा सम्भव नही है, अत इस स्थल पर तात्पर्य कहाँ सम्भव है ? अत यहाँ निर्वेद जो द्योतित हो रहा है, उसे शाखोटक का तात्पर्य कैसे कहेगे ? इस स्थिति मे यह तात्पर्य भी न बन सकेगा। पर व्यग्यार्थ के होने मे क्या हानि है ? अत व्यग्यार्थ की पृथक् कल्पना करनी ही पडेगी, जिसके ऊपर ध्वनि की अट्टालिका सहर्ष खडी की जा सकती है ॥१॥

'विष भक्षय मा चास्य' इत्यादि व्याख्या से प्रतीयमान मे प्रधानत तात्पर्य के होने से प्रसज्यमान ध्वनि का निषेध कौन कर सकता है ?

ध्वनिवादी व्यग्य एव तात्पर्य का भेद दिखाते हुए कहता है कि ध्वनि तब होती है जब स्वार्थ मे प्रतिष्ठित होकर वाक्य अर्थान्तर का बोध कराए और यदि स्वार्थ मे अविश्रान्त होकर अर्थान्तर की प्रतीति वाच्य कराता हो तो तात्पर्यार्थ कहा जाता है ॥२॥

परन्तु ध्वनिवादियो के इस भेद कथन मे अरुचि का कारण यह है कि वाच्य की तब तक विश्रान्ति ही नही होती जब तक पूर्ण अभिप्रेत अर्थ को न दे लेता हो अथवा यह कह सकते हैं कि यदि अर्थान्तर भी उससे निकालना है तो उसके पूर्व वाच्य की विश्रान्ति ही सम्भव नही है। इस प्रकार यह उक्त भेद जिस विश्रान्ति के आधार पर किया गया है वही असम्भव है। वस्तुत यह भेद का कारण नही है, अत. तात्पर्य और ध्वनि एक ही चीज है, इनमे पार्थक्य नही है ॥३॥

एतावन्मात्र अर्थ मे ही विश्रान्ति होती है। यह नियम किसने

बनाया है ? तात्पर्य तो कार्यपर्यवसायी होना है—जब तक अभिप्रेत अर्थ नही मिलता तब तक वाच्य का कार्य समाप्त नहीं होता। तात्पर्य तराजू पर रखकर तोला थोड़े ही गया है जो तात्पर्य एक घेरा के भीतर ही रहेगा। तात्पर्य यहाँ तक होगा और आगे व्यग्यार्थ होगा इसका कोई माप नही है। इस रीति से व्यग्य और तात्पर्य अभिन्न हैं।

ध्वनिवादी ध्वनि के लिए फिर दलील पेश करता है—

"भ्रम धार्मिक विस्रब्ध." इत्यादि वाक्य भ्रमण-रूप अर्थ का ही प्रतिपादक है। यहाँ पर भ्रमण का निषेधबोधक पद तो है नहीं जिसके वाच्य अर्थ से भ्रमण के निषेध का बोध हो सके। पर हमारे मत से तो वाच्य श्रवणकाल मे विस्रब्ध भ्रमण रूप विध्यात्मक अर्थ का बोध कराकर एक प्रकार से वाच्य विश्रान्त हो जाता है, उसके बाद कुलटा स्त्री की विशेषता के ज्ञान होने से उसका उद्देश्य भ्रमण के निषेध-रूप अर्थ मे ज्ञात होता है। इस प्रकार व्यग्यार्थ की पृथक् सत्ता विश्रान्ति के अर्थान्तर प्रतीति से पूर्व ही होने से सम्भव है ॥५॥

[ध्वनि के खण्डन करनेवाले ग्रन्थकार इसका उत्तर निम्नलिखित प्रकार से देते हैं]—

श्रोता की आकांक्षा निवृत्ति के लिए यदि उक्त वाक्य मे विश्रान्ति मान ली जाती है और विश्रान्ति के सम्भव होने से व्यग्यार्थ की सत्ता स्वीकार कर ली जाती है तो हम यह कह सकते हैं कि वक्ता के विवक्षित अर्थ का लाभ जब तक नही होता तब तक विनिगमन के अभाव मे वाक्य की अविश्रान्ति ही क्यो न मान ली जाए ॥६॥

पौरुषेय वाक्य किसी-न-किसी सामान्य विवक्षा से उच्चरित होते हैं, अत. वक्ता का सम्पूर्ण अभिप्रेत अर्थ वाक्य का तात्पर्य ही कहा जाएगा और जब तक अभिप्रेत अर्थ का विवक्षित अर्थ न आ जाए तब तक विश्रान्ति ही नहीं, क्योकि जब वाक्य विश्रान्त हो जाएगा तो फिर वह अन्य अर्थ का प्रत्यायन क्यो करेगा ? और यदि फिर भी करता है तो इसका स्पष्ट अर्थ है कि अभी वह विश्रान्त नहीं हुआ है ॥७॥

इस रसादि का काव्य के साथ व्यंग्य-व्यंजक भाव भी सम्भव नहीं है। तो क्या फिर इनका आपस में भाव्य भावक सम्बन्ध होगा ?

हाँ, वस्तुत काव्य है भावक और रस है भाव्य। वे स्वयं होते हुए अलौकिक विभाव का ज्ञान रखनेवाले सहृदय से भावना के विषय बनाए जाते हैं। यद्यपि अन्यत्र अर्थात् काव्य से अतिरिक्त वेदादि वाङ्मय की अन्य शाखाओं में शब्द का प्रतिपाद्य के साथ भाव्य-भावक सम्बन्ध नहीं देखा गया है अत यहाँ स्वीकार करने में कुछ व्यंग्य प्रतीत होगा तथापि भावना-व्यापार माननेवालों ने ऐसा काव्य ही में होने के कारण स्वीकार किया है। दूसरी बात यह है कि अन्यत्र शब्द का रसादि के प्रति अन्वय-व्यतिरेक वशात कारणता नहीं देखी गई है और यहाँ स्वतन्त्र सहृदय हृदय से अनुभूत है। इस पक्ष के अनुकूल एक उक्ति भी है—

नाट्य-प्रयोक्ताओं ने भाव की संज्ञा इसलिए दी है कि इनसे और अभिनय से अथवा भाव के अभिनय से इसका सम्बन्ध होने के कारण ये रस को भावित करते हैं।

प्रश्न उठता है कि पदों से स्थायी आदि भावों की प्रतिपत्ति कैसे होगी ? पद उन्हीं के प्रत्यायक हो सकते हैं जिन पदों की शक्ति होती है। भावनावादियों का उत्तर यह है कि लोक में जिस प्रकार के भावों की बोधिका जो चेष्टाएँ होती हैं स्त्री पुरुष में, वैसा ही यदि काव्य में भी उपनिबद्ध है तो रत्यादि भावों के नियमबोधक चेष्टाओं के प्रतिपादक शब्द के सुनने से शब्द प्रतीति चेष्टा रूप अभिधेय स्वसम्बन्ध भाव की प्रतीति कराएगा ही। प्रतीति 'अभिधेयाविनाभूत' होने के कारण लाक्षणिकी कही जाएगी। काव्यार्थ की भावुकता और भी आगे बताई जाएगी।

रसः स एव स्वाद्यत्वाद्रसिकस्यैव वर्तनात् ।

नानुकार्यस्य वृत्तत्वात्काव्यस्यातत्परत्वतः ॥३८॥

रस पद से काव्य में वर्णित विभाव आदि से पुष्ट स्थायीभाव की ही प्रतीति होती है क्योंकि आस्वाद्य वही है। दूसरा तर्क है उसकी

रसिकनिष्ठता का अर्थात् वह रसिक में उक्त स्थायी ही रहता है। उस रस का अनुकार्य से कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि वह रसकाल में वर्तमान ही नहीं रहता और रसवान् काव्य अनुकार्य के लिए लिखे भी नहीं जाते ॥३८॥

द्रष्टुः प्रतीतिर्व्रीडेर्ष्यारागद्वेषप्रसङ्गतः ।
लौकिकस्य स्वरमणीसंयुक्तस्येव दर्शनात् ॥३९॥

अनुकार्य से सम्बन्ध मानने पर अन्य आपत्ति यह है कि वह अपनी स्त्री से संयुक्त किसी लौकिक नायक का शृंगार आदि का प्रतीति मात्र होगा, उसमें रसता नहीं रहेगी। अथवा देखनेवाले के स्वभाववश व्रीडा, ईर्ष्या, राग, द्वेष का भी प्रसंग आ सकता है ॥३९॥

मे उसको देखने से लौकिक शृंगार की भाँति उस शृङ्गारी लौकिक नायक के समान जो अपनी स्त्री से संयुक्त है दर्शन से केवल यही प्रतीत होता है कि अमुक नाम का यह शृंगारी है। इसके अतिरिक्त वहाँ रसास्वाद नहीं होता है। सत्पुरुषों को तो जिस प्रकार लौकिक शृङ्गार का दर्शन लज्जास्पद है उसी प्रकार यह भी होता, अन्य दुष्टों को ईर्ष्या, असूया, अनुराग, अपहरण इत्यादि की भावनाएँ भी जागृत होती। [पर ऐसा नहीं होता अतः अनुमार्ग में आश्रित शृङ्गार आदि रस नहीं होते।]

इस प्रकार रस व्यंग्य नहीं हो सकता। कारण यह है कि व्यंग्य वही कहा जा सकता है जिसकी सत्ता अभिव्यंजक से पूर्व ही स्थित हो, उदाहरणार्थ जैसे *प्रदीप से (व्यंग्य) घट। व्यंजक प्रदीप से* घट की सत्ता का कोई सम्बन्ध नहीं है, अभिव्यंग्य अभिव्यंजक से अपनी सत्ता प्राप्ति नहीं करता केवल प्रकाशित मात्र होता है। और यह बात पहले ही स्पष्ट कर दी गई है कि प्रेक्षकों में रस विभाव आदि से प्रकाशित न होकर अनुभूयमान होते हैं।

धीरोदात्ताद्यवस्थानां रामादिः प्रतिपादकः ।
विभावयति रत्यादीन्स्वदन्ते रसिकस्य ते ॥४०॥

और फिर वही सीता प्रभृति साधारण नायिका के रूप में रस के विभाव बन जाती हैं । और तब सीता आदि शब्द जनक की पुत्री के इस अर्थ का प्रतिपादन करनेवाले नहीं रह जाते । इस अर्थ के प्रतिपादन की उनकी (सीता आदि) की शक्ति क्षरित हो जाती है ॥४०॥

वे स्त्री मात्र के वाचक रहकर अनिष्ट उत्पादन से रहित हो जाते हैं । फिर प्रश्न यह हो सकता है कि यदि उनकी प्रतीति सामान्य रूप से ही उपयोगी होती है तो उनका विशेष रूप से काव्य में वर्णन करने की क्या आवश्यकता है ? भाव यह कि यदि सीता को सीता रूप से जान लेने से कोई लाभ नहीं तो उन्हें काव्य का विषय बनाया ही क्यों जाता है ?

ता एव च परित्यक्तविशेषा रसहेतवः ।
क्रीडतां मृण्मयैर्यद्वद्बालानां द्विरदादिभिः ॥४१॥

इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार मिट्टी के बने असत्य हाथी आदि से खेलते हुए बालकों को उत्साह और आनन्द मिलता है, उसी प्रकार असत्य अर्जुन आदि से श्रोताओं को अपना उत्साह भी अनुभूत होने लगता है ॥४१॥

कहने का भाव यह है कि जिस प्रकार लौकिक शृंगार में स्त्री आदि का उपयोग होता है उसी प्रकार यहाँ भी होता हो सो बात नहीं है । वस्तुतः उक्त रीति से लौकिक रस में नाटय रस की विलक्षणता है । कहा भी है—

'नाटय में आठ ही रस होते हैं ।'

स्वोत्साहः स्वदते तद्वच्छ्रोतृणामर्जुनादिभिः ।
काव्यार्थभावनास्वादो नर्तकस्य न वार्यते ॥४२॥

यदि काव्यार्थ की भावना वश नर्तक को भी आस्वाद हो जाए तो हम उसे अस्वीकार नहीं करते ॥४२॥

अभिनय-काल मे जो नर्तक को रस का आस्वाद होता है वह लौकिक रस की भाँति नही होता है, कारण यह है कि वह अभिनय-काल मे अभिनेत्री को अपनी स्त्री के रूप मे नही समझता। काव्यार्थ की भावना से वशीभूत होकर यदि वह भी सामाजिकों के समान ही रस का अनुभव करे तो उसे हम नही रोकते।

काव्य से किस प्रकार स्वानन्द की उद्भूति होती है और उसका स्वरूप क्या है, अब यह बताया जाएगा—

स्वादः काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भवः।
विकाशविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः ॥४३॥

ज्ञायमान काव्यार्थ से अनुभूयमान आत्मानन्द है वही रस पद का अर्थ है। वह स्वाद, शृंगार, वीर, बीभत्स एवं रौद्र मे क्रमशः मन के विकास, विस्तार, विक्षोभ और विक्षेप अवस्था वशात् चार प्रकार का होता है॥४३॥

शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात्।
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि ॥४४॥
अतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम्।

क्रमशः हास्य, अद्भुत, भय एवं करुण मे भी मन की वही अवस्थाएँ होती हैं। यही कारण है कि पूर्व के चारों का (शृंगार-वीर-बीभत्स रौद्र का) अनन्तर चतुष्टय (हास्य-अद्भुत-भयानक-करुण का) का जनक कहा गया है। और यही रहस्य अष्टावेव (केवल आठ ही) मे अवधारण का भी है॥४४॥

काव्यार्थ विभाव आदि से सम्बन्धित स्थायी स्वरूप हैं। इस प्रकार से काव्यार्थ से भावक का चित्त अनुकार्य की चित्तावस्था की समता प्राप्त कर लेता है, जहाँ राग द्वेष का मूल मैं-तुम का भाव विगलित हो जाता है—इस अवस्था के अनन्तर जो प्रबलतर स्वानन्द की अनुभूति होती है वही है स्वाद। यद्यपि यह स्वादरूपता सकल रसों मे एकरूप है तथापि नियत विभाव आदि के कारण चित्त की चार अवस्थाएँ होती

है। चित्त की अवस्था को ही लक्ष्य मे रखकर हास्य आदि का शृगार आदि के साथ जन्य-जनक भाव कहा गया है। कार्य-कारण की दृष्टि मे रखकर नही कहा गया है।

श्लोकार्थ—'शृगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और वीभत्स से भयानक की उत्पत्ति होती है।

इस उत्पत्ति का रहस्य उसी चित्तवृत्ति की अवस्था से सम्बन्ध रखता है। शृगार से हास्य उत्पन्न नही होता प्रत्युत अपने ही विभावादिको से होता है—'शृगारानुकृतिर्यातु' इत्यादि श्लोक मे शृगार एव हास्य की एक ही प्रकार की चित्तवृत्ति की अवस्था का स्फुटीकरण होता है। और अवधारण भी इसीलिए उपपन्न हो जाता है—चित्तवृत्ति की चार अवस्था दुगुनी होकर आठ ही होती है, अत तदनुकूल रसो की भी नियत सख्या ८ ही है। भेदान्तर के अभाव से ९वाँ रस नही हो सकता।

सभी रसो की सुखरूपता—लोक मे शृगार, वीर, हास्य प्रभृति के प्रमोदात्मक होने (सदा) से सुखस्वरूप होने मे किसी बात की शका नही होती, पर दु खात्मक करुण आदि से सुखात्मकता का अनुभव होना कैसे सम्भव है? कारण यह है कि दु खात्मक करुण-काव्यों के श्रवण से दु ख का आविर्भाव एव अश्रुपात आदि रसिकों को भी अनुभूत है। यदि वे सुखात्मक होते तो ऐसा क्यों होता?

समाधान—बात तो ठीक ही है, परन्तु यह सुख वैसा ही सुख-दु खात्मक है जैसा कि सम्भोगावस्था के कुट्टमित मे प्रहरण आदि करने पर स्त्रियों को होता है। दूसरी बात यह भी है कि लौकिक करुण से काव्य का करुण कुछ विलक्षण होता है। यहाँ उत्तरोत्तर रसिकों की प्रवृत्ति बढती जाती है। यदि लौकिक करुण के समान यहाँ का भी करुण दु ख देनेवाला होता तो दर्शकों और (पाठकों) की कभी प्रवृत्ति ही (नाटक देखने और काव्य-श्रवण मे) नहीं होती। फलस्वरूप करुण रस का निधान रामायण आदि मे किसी की प्रवृत्ति न होने से इनका उच्छेद ही हो जाता। रही अश्रुपात की बात, सो वह लोकवृत्त

के आकर्षण से लौकिक विकलता के समान विकलतावश यदि हो ही जाए तो उसका हमारे पक्ष से कोई विरोध नही है। अत रसान्तर के समान करुण रस को भी आनन्दात्मक ही मानना चाहिए।

शान्त रस के अभिनेय न होने के कारण यद्यपि नाट्य मे उसका अनुप्रवेश असम्भव है तथापि श्रव्य काव्य मे उसका निवेश इसलिए नही अस्वीकार किया जा सकता, क्योकि वहाँ तो शब्द का राज्य है। शब्द से जब असम्भाव्य बातें भी बाँधी जा सकती है तो फिर शान्त का वर्णन क्यो नही हो सकता?

कहा जाता है—

शमप्रकर्षो निर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मता ।।४५।।

'शम का प्रकर्ष (शान्त) अकथनीय है, मुदिता प्रभृति वृत्तियों से उसे प्राप्त किया जा सकता है ।।४५।।

यदि शान्त रस का स्वरूप—

"जहाँ सुख, दुख, चिन्ता, द्वेष, राग या इच्छा आदि का अभाव हो वही शान्त रस का स्वरूप है ऐसा मुनीन्द्रो का कहना है, पर सभी भावो मे यह शम प्रधान है।"

यही है तो उसकी प्राप्ति मोक्षावस्था ही मे स्वरूप-प्राप्ति पर होती है। स्वरूपत उसकी अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन श्रुति भी 'नेति' 'नेति' कहकर अन्यापोह रूप से ही करती है। इस प्रकार के शान्त रस का आस्वाद सहृदयो को नही होता। फिर उसके आस्वाद के उपाय भूत मुदिना आदि वृत्तियाँ हैं और वे क्रमश विकास विस्तर, क्षोभ, विक्षोभ रूप हैं अत इस उक्ति से ही शान्त रस को आस्वाद का निरूपण होता है।

इस समय विभावादि से सम्बन्धित जो अवान्तर वाच्य व्यापार हैं उनके प्रदर्शन के साथ-साथ प्रकरण का उपसहार किया जा रहा है—

पदार्थैरिन्दुनिर्वेदरोमाञ्चादस्वरूपकै. ।
काव्याद्विभावसचाय्यनुभावप्ररूयता गतै. ।।४६।।
भावितः स्वदते स्थायी रसः स परिकीर्तितः ।

काव्य व्यापार के द्वारा खूब अच्छी तरह से वर्णन किया हुआ जो चन्द्रमा आदि उद्दीपन विभाव और प्रमदा आदि रूप आलम्बन विभाव, रोमाञ्च, अश्रुपात, भ्रू और कटाक्ष विक्षेप आदि अनुभाव तथा निर्वेद आदि सचारीभाव जो पदार्थ स्थानीय हैं इनसे अवान्तर व्यापार के द्वारा पोष को प्राप्त होनेवाला स्थायीभाव रस नाम से पुकारा जाता है। इतना ही पहले प्रकरण में किये गए वर्णन का तात्पर्य रहा है ॥४६॥

अब इनके विशेष लक्षणों को बताया जा रहा है। आचार्य (भरत) ने स्थायीभावों, रत्यादिकों और शृंगार आदि रसों का पृथक्-पृथक् लक्षण न देकर केवल विभाव आदि के प्रतिपादन के द्वारा ही दे दिया है। [अत मैं भी वैसा ही कर रहा हूँ।]

लक्षणैक्य विभावैक्यादभेदाद्रसभावयोः ॥४७॥

शृंगार आदि रसों और रत्यादि स्थायीभावों के लक्षण एक ही हैं, अतः शृंगार आदि रस और रत्यादि भावों मे कोई अन्तर नहीं है ॥४७॥

रम्यदेशकलाकालवेषभोगादिसेवनैः ।
प्रमोदात्मा रति सैव यूनोरन्योन्यरक्तयोः ।
प्रहृष्यमाणा श्रृङ्गारो मधुराङ्गविचेष्टितैं ॥ ४८॥

एक चित्त के दो व्यक्तियों (युवक और युवती) मे आनन्दस्वरूप रति का सुन्दर स्थान (बाग-बगीचे, एकान्त स्थान आदि) सुन्दर कलाओं (चित्रकला आदि मे निपुणता), सुन्दर समय (सन्ध्या आदि) और सुन्दर भोग विलासों तथा मधुर आंगिक चेष्टाओं (कटाक्ष विक्षेप आदि) के द्वारा परिपोष के प्राप्त होने को शृंगार (रस) कहते हैं ॥४८॥

इस प्रकार का वर्णन युक्त काव्य शृंगार के आस्वाद की योग्यता को धारण करता है, अत कवियों को अपने वर्णन मे बातों का ध्यान रखना चाहिए।

देश (स्थान) के विभाव का वर्णन, जैसे 'उत्तर रामचरित' मे राम की यह उक्ति—

"हे सुन्दरि, उस पर्वत मे लक्ष्मण द्वारा की गई शुश्रूषा से स्वस्थ हम दोनो के उन दिनो की याद करती हो ? अथवा वहाँ स्वादु जलवाली गोदावरी की याद करती हो ? तथा गोदावरी के तट पर हम दोनो के रहने की याद करती हो ?"

कला का विभाव जैसे—"अन्तर्निहित हैं वचन जिनमे, ऐसे हाथो द्वारा अच्छी तरह से अर्थ की सूचना मिल जाती है । पाद विक्षेप से रस मे तन्मयता के साथ लय प्राप्त हो जाती है । मृदु अभिनय छहो प्रकार के अभिनयो का उत्पत्ति स्थान है। और प्रत्येक भाव मे रागबंध विषयों को व्यक्त करते है ।"

अथवा जैसे—जीमूतवाहन कह रहे है—'इसकी वीणा के तन्त्रिया से दसो प्रकार के व्यजन धातुओ (वीणा वाद्य के स्वर के १० भेदो) का प्राकट्य हो रहा है । द्रुत, मध्य और लम्बित, ये तीनो प्रकार के लय भी बिलकुल स्पष्ट सुनाई पड रहे है। इसने गोपुच्छ आदि प्रमुख यतियो का भी सुन्दर सम्पादन किया है, इसी प्रकार वाद्य के विषय मे तीनो प्रकार के तत्वो का जो समूह है वे भी अच्छी तरह से दिखाए गए हैं।

काल के विभाव का वर्णन, जैसे 'कुमार सम्भव' मे—

"अशोक का वृक्ष भी तत्काल नीचे से ऊपर तक फूल-पत्तो से लद गया और उसने झनझनाते बिछुओंवाली सुन्दरियो के चरण के प्रहार की बाट तक भी नही देखी ।" यहाँ से आरम्भ कर—

"भौंरा अपनी प्यारी भौरी के साथ एक ही फूल की कटोरी मे मकरन्द पीने लगा । काला हरिण अपनी उस हरिणी को सीग से खुजलाने लगा जो उसके स्पर्श का सुख लेती हुई आँख मूंदे बैठी थी ।"

वेष का विभाव, जैसे वही पर—

"उस समय पार्वतीजी के शरीर पर लाल मणि को लज्जित करने वाले अशोक के पत्तों के, सोने की चमक को घटाने वाले कर्णिकार के फूलो के और मोतियो की माला के समान उजले सिन्धुवार के वासन्ती फूलो के आभूषण सजे हुए थे ।"

उपभोग के विभाव का वर्णन जैसे—कोई अपनी सखी से कहती है कि ऐ मान करनेवाली ! ऐसा लगता है कि तेरे प्रणयी ने किसी प्रकार से तेरे मान को तोड़ डाला है और इसीसे तुम्हारा कुछ मन भी बढ़ा हुआ-सा लग रहा है। तेरा मान भंग हुआ है इसमें ये चीजें प्रमाण रूप में प्रस्तुत हैं—१ तेरी आँख का काजल साफ हो गया है। २ अधर भाग में लगी हुई पान की ललाई चाट डाली गई है। ३ कपोल-फलक पर केशपाश बिखरे पड़े हैं और ४ तुम्हारे शरीर की कान्ति भी आेमल हो गई है।

मान-दस्वरूप रति का उदाहरण, जैसे 'मालती माधव' में—

"नव इन्दु कलादि विभाव सबै जग जे विरही मन जीनत हाल।
हिय औरनु कें लहरावत हैं उलटे इत वेही लगावत ज्वाल॥
कहुँ जो यह लोचन चन्द्रिका चारु बनें इन नैननि रूप रसाल।
बस मेरे तो जन्म में सोही महोच्छव (महोत्सव),
एकहि बार में होहुँ निहाल॥"

युवति का विभाव जैसे, 'मालविकाग्निमित्र' में—

राजा मन-ही-मन सोच रहा है—'वाह ! यह तो सिर से पैर तक एकदम सुन्दर है ! क्योंकि इसकी बड़ी-बड़ी आँखें, चमकता हुआ शरद् के चन्द्रमा-जैसा मुख, कंधों पर थोड़ी झुकी हुई भुजाएँ, उभरते हुए बड़े स्तनों से जकड़ी हुई छाती, पुँछे हुए-से पार्श्व-प्रदेश, मुट्ठी-भर की कमर, मोटी-मोटी जाँघें और थोड़ी-थोड़ी झुकी हुई दोनों पैरों की उंगलियाँ बस ऐसी जान पड़ती हैं मानो इसका शरीर इसके नाट्यगुरु (गणदासजी) के कहने पर ही गढ़ा गया हो।'

युवक और युवती, दोनों के विभाव जैसे, 'मालती माधव' (१।१८) में—

नगरी की गलीन में बारहि बार फिरै यह माधव आठहुँ जाम।
निज ऊँचौ अटारी पै बैठि कैं बारहि बार बिलोकति मालती बाम॥
यह काम-सो रूप निहारि निहारि चढ़ी वियकी रति-सी अभिराम।
ललकें, पुरकें, हुलसें, झुरसें अरु काँपें सुकोमल अंग ललाम॥

दोनों का पारस्परिक अनुराग जैसे, वहीं (मा० मा० मे १।३२)—
बहु बार मरोरि कै ग्रीवा निहारति कुंचित कंजमुखी वह बाल।
घने कारे बडे दृग कोर तें बेधि गई कोउ तीखी कटाच्छ कराल।
नहि जानि परै कि सुधा सो सनी किधौं बोरी भई है हलाहल काल।
जो हिये मे धंसी सो गँसी कसिकै य कटाच्छ की कील नुकीली रसाल॥

अंगों की प्रचुर चेष्टाएँ, जैसे, वही (मा० मा० १।३०)—
कबहूँ सकुचै कबहूँ विकसै, कबहूँ उठै भौंह, तरंगित गात।
कबहूँ चिकनाइ सनेह सो मुद्रित, कानन लौं कबहूँ चलि जात।
वहि चंद्रमुखी की चितौनि कबौं सकुचै, भिझकै, उलझै रसमाति।
मनभावनी ऐसी विलोकनि को मैं निसानो बन्यो नितही बहु भाँति॥

ये सत्त्वजाः स्थायिन एव चाष्टौ त्रिंशत्त्रयो ये व्यभिचारिणश्च।
एकोनपञ्चाशदमी हि भावा युक्त्या निबद्धाः परिपोषयन्ति।
आलस्यमौग्र्य मरणं जुगुप्सा तस्याश्रयाद्वैतविरुद्धमिष्टम् ॥४६॥

पहले जिन आठ सात्त्विक भावों आठ स्थायीभावों और तैंतीस व्यभिचारी भावों को बता आए हैं वे सभी शृंगाररस की पुष्टि के लिए उपयोग मे आते हैं। पर हां, एक बात अवश्य है कि वे युक्ति के साथ उपनिबद्ध किए जाएँ तो ही, नहीं तो रस-विरोध होने के कारण आस्वादन मे व्यवधान ही पडेगा।

आलस्य, उग्रता मरण और जुगुप्सा इनको आश्रय-भेद से अथवा एक ही आलंबन विभाव के सम्बन्ध मे प्रयुक्त नहीं करना चाहिए अन्यथा रस की चरणा मे बाधा पडेगी ॥४६॥

अयोगो विप्रयोगश्च संभोगश्चेति स त्रिधा।

शृंगाररस के भेद—शृंगाररस तीन प्रकार का होता है—१ अयोग, २ विप्रयोग और ३ संयोग ॥५०॥

अयोग और विप्रयोग ये विप्रलम्भ के भेद हैं। विप्रलम्भ शब्द सामान्यवाचक है।

[प्रश्न]—विप्रयोग का जो शाब्दिक अर्थ है वही विप्रलम्भ का भी है फिर विप्रयोग के स्थान पर विप्रलम्भ ही क्यों नहीं रखते ?

[उत्तर]—विप्रयोग के स्थान पर विप्रलम्भ के रखने से विप्रलम्भ में लक्षणा करके विप्रयोग अर्थ लाना पड़ेगा। ऐसी दशा में लक्षणा के बिना काम नहीं चल सकता, क्योंकि सामान्यवाचक शब्दों के विशेष अर्थाभिधायी शब्दों में लक्षणा हुआ करती है। पर यहां लक्षणा करना अभीष्ट नहीं है। यदि अभिधा से ही अर्थात् सीधे-सादे ही अर्थ निकल आए तो लक्षणा अर्थात् घुमा-फिराकर टेढ़े-मेढ़े रास्ते से जाने की क्या आवश्यकता ? इसी बात को ध्यान में रखकर विप्रयोग के स्थान पर विप्रलम्भ को नहीं रखा। अब विप्रलम्भ शब्द के बारे में बताते हैं कि यह केवल तीन ही जगह मुख्य अर्थ में व्यवहृत होता है। इन तीनों स्थानों के अतिरिक्त सर्वत्र लक्षणा करनी पड़ती है। जैसे—

१ आने का संकेत देकर नायक का न आना, २ नायक के द्वारा अपने आने की अवधि का अतिक्रमण कर जाना और ३ नायक का अन्य नायिका में आसक्त हो जाना।

केवल इन तीन स्थलों पर विप्रलम्भ शब्द अपने मुख्य अर्थ अर्थात् वचना देने के अर्थ में व्यवहृत होता है।

तत्रायोगोऽनुरागोऽपि नवयोरेकचित्तयोः ॥५०॥
पारतन्त्र्येण दैवाद्वा विप्रकर्षादसंगमः।

अयोगशृंगार—जहां पर नई अवस्थावाले नायक-नायिकाओं का एकचित्त होते हुए भी परतन्त्रतावश अथवा भाग्यवश या दूर रहने आदि के कारण संयोग न हो सके इसको अयोग कहते हैं ॥५०॥

एक का दूसरे के द्वारा स्वीकार कर लेने का नाम योग है और इसके अभाव का नाम अयोग है। [इसमें नायक और नायिका का आपस में संयोग हुआ ही नहीं रहता।]

परतन्त्रता के कारण होनेवाले अयोग का उदाहरण सागरिका का वत्सराज से और मालती का माधव से संयोग न हो सकना है।

दैवात् अर्थात् भाग्य आदि के कारण होनेवाले अयोग का उदाहरण पार्वतीजी का भगवान् शंकर से (विवाह के पूर्व तपस्याकाल तक) समागम का न हो सकना है।

दशावस्थः स तत्रादावभिलाषोऽथ चिन्तनम् ॥५१॥
स्मृतिर्गुणकथोद्वेगप्रलापोन्मदसज्वराः।
जडता मरणं चेति दुरवस्थं यथोत्तरम् ॥५२॥

अयोग की दस अवस्थाएँ होती हैं। पहले दोनों के हृदय में अभिलाष, फिर चिंतन, उसके बाद स्मृति फिर गुणकथन, तदुपरान्त उद्वेग फिर प्रलाप, उन्माद, सज्वर (ताप का बढ़ जाना) जडता और मरण ये क्रमशः पैदा होते हैं। पहले की अपेक्षा दूसरा, दूसरे की अपेक्षा तीसरा, इस प्रकार से क्रमशः उत्तरोत्तर होनेवाली अवस्थाएँ पहले की अपेक्षा उत्तरोत्तर अधिक दुःखदायिनी होती हैं ॥५१-५२॥

अभिलाषः स्पृहा तत्र कान्ते सर्वाङ्गसुन्दरे।
दृष्टे श्रुते वा तत्रापि विस्मयानन्दसाध्वसाः ॥५३॥
साक्षात्प्रतिकृतिस्वप्नच्छायामायासु दर्शनम्।
श्रुतिर्व्याजात्सखीगीतमागधादिगुणस्तुतेः ॥५४॥

अभिलाष—सर्वाङ्ग सुन्दर प्रियतम के देखने अथवा उसके गुणों के श्रवण के द्वारा उसको प्राप्त करने की इच्छा को अभिलाष कहते हैं। इसके उत्पन्न होने पर नायिका में विस्मय, आनन्द और भीति, ये तीन अनुभाव होते हैं। नायिका को निम्नलिखित प्रकारों में से किसी भी प्रकार से नायक को देख लेने से अभिलाषा उत्पन्न होती है। नायक नायिका के द्वारा निम्नलिखित प्रकार से देखा जाता है—१. साक्षात्कार के द्वारा, २. चित्र देखकर, ३. स्वप्न में, ४ छाया और ५ माया के द्वारा। इसी प्रकार नायक के गुण का श्रवण भी नायिका को निम्नलिखित प्रकार से होता है—१. सखी के द्वारा, २ बंदीजन आदि के द्वारा नायक विषयक श्लाघनीय गुण-वर्णन से। [इससे भी नायिका के हृदय में नायक के

अथवा जैसे—

"पार्वतीजी इतनी लजाती थी कि शंकरजी के कुछ पूछने पर भी बोलती न थी और वे यदि इनका आँचल पकड़ लेते थे तो भागने की कोशिश करती थीं। इसी प्रकार शयनकाल में भी वे दूसरी ही तरफ मुँह करके सोती थी। पर पार्वतीजी द्वारा इस प्रकार का व्यवहार भी शंकरजी के लिए कम आनन्दप्रद नहीं होता था।"

सानुभावविभावास्तु चिन्ताद्याः पूर्वदर्शिताः।

अनुभाव और विभावों के साथ चिन्ता आदि को पहले बताया जा चुका है। [अतः यहां उनको पुनः अंकित करने की आवश्यकता नहीं।]

गुण-कीर्तन के बारे में लिखने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं हो रही है क्योंकि यह तो स्पष्ट ही है।

दशावस्थत्वमाचार्यैः प्रायो वृत्त्या निदर्शितम् ॥५५॥

महाकविप्रबन्धेषु दृश्यते तदनन्तता।

प्रयोग में प्रायः दस अवस्थाएं रहती हैं, अतएव आचार्यों ने दस ही भेद गिनाए हैं। पर महाकवियों की रचनाओं की छानबीन से इसके अनन्त भेद दीख पड़ते हैं ॥५५॥

दृष्टे श्रुतेऽभिलाषाच्च किं नौत्सुक्यं प्रजायते ॥५६॥

अप्राप्तौ किं न निर्वेदो ग्लानिः किं नातिचिन्तनात्।

उदाहरणार्थ संक्षेप में उनका दिग्दर्शन किया जाता है। देखिए—नायक को देख अथवा उसके गुणों के श्रवण-मात्र से यदि नायिका के अन्दर अभिलाषा जागृत होती है तो क्या उसके अन्दर प्रियतम समागम के लिए उत्सुकता नहीं हो सकती? और उत्सुकता और अभिलाषा के होते हुए भी यदि वह उसे नहीं मिला तो क्या उसके अन्दर निर्वेद पैदा नहीं हो सकता है? इसी प्रकार यदि वह अत्यधिक चिन्ता करे तो क्या उसके भीतर ग्लानि का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता है? ॥५६॥

इसी प्रकार की, छिप-छिपकर समागम करना इत्यादि बातों को

जानकारी कामसूत्र से की जा सकती है।

विप्रयोगस्तु विश्लेषो रूढविस्रम्भयोर्द्विधा ॥५७॥
मानप्रवासभेदेन मानोऽपि प्रणयेर्ष्ययोः।

विप्रयोग—एक-दूसरे के प्रेम में आबद्ध (आसक्त) अतएव विश्वसित और संयुक्त रहनेवाले नायक-नायिकाओं के वियुक्त हो जाने का नाम विप्रयोग है। यह दो प्रकार का होता है—मान-जनित और प्रवास-जनित। मान भी दो प्रकार का होता है। एक प्रणयमान, दूसरा ईर्ष्यामान ॥५७॥

तत्र प्रणयमानः स्यात्कोपावसितयोर्द्वयोः ॥५८॥

प्रेम से वशीभूत होने का नाम प्रणय है। इसके भंग होने से जो कलह होता है उसे प्रणयमान कहते हैं। यह नायक-नायिका दोनों में हो सकता है ॥५८॥

नायक में होनेवाले प्रणयमान का उदाहरण, जैसे 'उत्तररामचरित' में—इसी लतागृह मे आप सीता के आगमन मार्ग मे दृष्टि लगाए हुए थे और सीता हंसों से कौतुक कर गोदावरी के तट मे बहुत काल तक रुकी रही। इसके पश्चात् वहाँ से लौटकर आती हुई सीता ने आपको चिन्तित-चित्त की तरह देखकर कातरता से कमल के मुकुल की तरह सुन्दर प्रणामाञ्जलि को बाँध लिया।

नायिकागत प्रणयमान का उदाहरण जैसे, वाक्पतिराजदेव का यह पद्य—

"प्रणयकुपित जगज्जननी पार्वती को देख आश्चर्यचकित हो वेग के साथ त्रिभुवन गुरु भगवान् शंकर भय से तत्क्षण उनके चरणों पर प्रव-नत हो गए। भगवान् शंकर के प्रवनत होने पर गंगाजी को देख और प्रकुपित हो पार्वतीजी ने उन्हें चरणों से ठुकरा दिया। इस प्रकार ठुकराए जाने आदि के कारण विरूपता को प्राप्त भगवान् शंकर की दयनीय दशा आप लोगों की रक्षा करे।"

दोनों (नायक और नायिका) में रहनेवाले प्रणयमान का उदाहरण,

जैसे—

प्रणय-कलह के कारण झूठमूठ का बहाना करके, मानकर "नायक और नायिका दोनो एक साथ सोए हुए हैं। दोनो प्रणय-कलह से कुपित हो सोए तो अवश्य हैं पर उनके मन मे एक-दूसरे के प्रति इस प्रश्न पर सकल्प-विकल्प चल रहा है कि यह सचमुच सो तो नही गया ? और वे दोनो अपने श्वास को रोक-रोककर एक-दूसरे के सोने की परीक्षा कर रहे हैं। इस स्थिति को देख उनकी सखियाँ आपस मे बातचीत कर रही हैं कि देखो इस होड मे कौन विजयी होता है।"

स्त्रीणामीर्ष्याकृतो मानः कोपोऽन्यासङ्गिनि प्रिये ।
श्रुते वाऽनुमिते दृष्टे श्रुतिस्तत्र सखीमुखात् ॥५९॥
उत्स्वप्नायितभोगांकगोत्रस्खलनकल्पितः ।
त्रिधानुमानिको दृष्टः साक्षादिन्द्रियगोचरः ॥६०॥

नायक किसी दूसरी स्त्री मे अनुरक्त है इस बात को सुनने, देखने अथवा अनुमान के द्वारा नायिका के भीतर प्रकुपित होने से जो ईर्ष्या पैदा होती है उसे ईर्ष्यामान कहते हैं।

सुनना सखियों के द्वारा ही हुआ करता है क्योंकि नायिका का उन (सखियों) पर विश्वास जमा रहता है। अनुमान से होनेवाला ईर्ष्यामान भी तीन प्रकार का होता है—१. स्वप्न मे कहे गए वचनों के द्वारा। २. नायक के शरीर में अन्य नायिकाकृत भोग-चिह्नों को देखकर तथा ३. अनजाने बातचीत के प्रसग मे अन्य स्त्री का नाम मुख से निकल जाने से ॥५९-६०॥

आँख से प्रत्यक्ष कर लेने ही को देखना कहते हैं।

सखियों के कहने से नायक पर सन्देह कर ईर्ष्यामानवाली नायिका का उदाहरण हमारे (धनिक के) ही इस पद्य मे देखिए—

नायक नायिका को प्रसन्न करने की चेष्टा करते हुए कहता है कि 'हे सुन्दर भौंहोंवाली प्यारी ! तेरा हृदय तो मक्खन के समान कोमल

ठहरा, पता नहीं तुझे कौन-सा ऐसा पुष्ट मन्त्रणा देनेवाला मिल गया जो ऊपर से तेरा हितैषी मधु के समान मीठा वचन बोलकर तेरे अन्दर मेरे प्रति प्रकोप पैदा करवा दिया। पर हे मृगनयनी! मेरे कहने से एक क्षण के लिए भी जरा इस विषय पर विचार तो करो कि वास्तव मे तेरा हितैषी आखिर कौन है? क्या वह धायी की लडकी जिसने तेरे कानों मे मेरे विषय मे सन्देह को भरा है? अथवा तेरी सखियाँ? या मेरे मित्र? अथवा स्वय मैं?"

स्वप्न मे अन्य नायिका का नाम मुख से आ जाने के कारण अनुमानत ईर्ष्यामानवाली नायिका का उदाहरण—

जैसे—"राधा से आकर सखियो ने कहा कि कृष्णचन्द्र जिस समय जलक्रीडा कर रहे थे, उस समय उन्होंने कामदेव के शरा से प्रेरित हो, किसी नायिका का आलिगन किया। इन बातों को सुनकर राधा प्रकुपित हो गई। इसके बाद जब कृष्णचन्द्र घर आए तो किसी प्रकार राधा के कोप को शान्त किया। उसी दिन रात को जब राधा और कृष्ण एक-दूसरे के कण्ठ मे भुजा डालकर सोए तो कृष्णचन्द्र को नींद आ गई और नींद मे ही वे दिन के समान राधा को मनाने लगे। राधा को इस सिलसिले मे उसी सखी का नाम 'कृष्णचन्द्र के मुख से सुनकर ईर्ष्या हो आई, सो उन्होंने किसी प्रकार कृष्णचन्द्र की गले मे पडी हुई अपनी भुजाएँ शिथिल कर लीं। कवि कहता है कि राधा की व शिथिल भुजाएँ आपको कल्याण प्रदान करें। कृष्णचन्द्र ने स्वप्न मे जो शब्द कह वे ये थे—हे राधा, तुम्हें किसी ने झूठमूठ आकर यह बतला दिया कि मैंने जलक्रीडा करते समय जल मे डूबे हुए कामदेव के शर से सतप्त किसी सखी का आलम्बन किया है। तुम व्यर्थ म ऐसी बातो पर विश्वास कर दुखित हो रही हो।"

भोग के चिह्नों को देखकर अनुमान के द्वारा ईर्ष्यामान करनेवाली नायिका का उदाहरण—

जैसे—"अन्य स्त्री द्वारा किए हुए ताजे नखक्षत को तो तुमने कपडे

से ढँक लिया है और उसके द्वारा किए गए दन्तक्षत को भी हाथों से ढँक लिया है, पर यह तो बताओ कि परस्त्री के संभोग को व्यक्त करनेवाला जो सुन्दर सुवास तुम्हारे इर्द-गिर्द फैल रहा है, भला उसको कैसे रोक सकोगे ?"

गोत्रस्खलन से ईर्ष्याभाववाली नायिका का उदाहरण—

जैसे—"अनजान में बातचीत के प्रसंग में अपने नायक के मुख से किसी नायिका के नाम को सुनकर प्रकुपित हुई नायिका की सखी नायक को फटकार रही है—'अरे दुष्ट ! कुटिलता से अनभिज्ञ मेरी भोली-भाली प्रिय सखी से तूने परिहास में किसी अन्य नायिका का गुण-कथन कर दिया, फिर क्या था, वह भोली भाली तेरे कथन को सत्य मानकर रो रही है।" नायक के अपराध आदि को देख ईर्ष्यामान करनेवाली नायिका का उदाहरण, जैसे मुंजराज का 'प्रणय कुपिता।'

(इससे पूर्व ही नायिकागत प्रणयमान का उदाहरण देते समय इस पद्य का अर्थ आ चुका है, दे० पृ० २६५)

यथोत्तरं गुरुः षड्भिरुपायैस्तमुपाचरेत् ।
साम्ना भेदेन दानेन नत्युपेक्षारसान्तरैः ॥६१॥
तत्र प्रियवचः साम भेदस्तत्सख्युपार्जनम् ।
दानं व्याजेन भूषादेः पादयोः पतनं नतिः ॥६२॥
सामादौ तु परिक्षीणे स्यादुपेक्षावधीरणम् ।
रभसत्रासहर्षादेः कोपभ्रंशो रसान्तरम् ॥६३॥
कोपचेष्टाश्च नारीणां प्रागेव प्रतिपादिताः ।

ऊपर बताए हुए तीनों कारणों से अर्थात् (१) सुनकर, (२) अनुमानकर, और (३) देखकर, इनसे होनेवाले ईर्ष्यामान उत्तरोत्तर अधिक कष्टकर होते हैं। इनको उपाय से शान्त करना चाहिए। शान्त करने के ६ उपाय हैं—१ साम, २ भेद, ३ दान, ४ नति, ५ उपेक्षा और ६ रसान्तर।

१. साम—प्रियवचन बोलने का नाम साम है।

२. भेद—नायिका की सखियों को अपनी ओर मिला लेने का नाम भेद है।

३. दान—आभूषण, साड़ी आदि देकर प्रसन्न करने की कोशिश करने को दान कहते हैं।

४. नति—पावों में पड़ने का नाम नति है।

५. उपेक्षा—साम आदि उपायों के विफल हो जाने पर नायिका की उपेक्षा करने को उपेक्षा कहते हैं।

६ रसान्तर—डराना, घबराना, हर्ष आदि के द्वारा भी कोप-भंग किया जा सकता है। यह अन्तिम उपाय है जिसे रसान्तर कहते हैं। स्त्रियों की कोपचेष्टा का वर्णन पहले किया जा चुका है अतः उनके बारे में फिर बताने की आवश्यकता नहीं है ॥६१-६३॥

प्रिय वचन के द्वारा प्रसन्न करने के प्रयत्न को साम कहते हैं, जैसे, मेरा ही पद्य—कोई नायक मान की हुई अपनी नायिका से कहता है—"तुम्हारा मुखचन्द्र स्मितरूपी ज्योत्स्ना से सारे विश्व को धवलित कर रहा है। तेरी आँखें चारों तरफ मानो अमृत बरसा रही हैं, तेरा शरीर प्रत्येक दिशा में माधुर्ययुक्त लावण्य को बिखेर रहा है, पर पता नहीं तेरे हृदय में कठोरता ने कहाँ से स्थान कर लिया है?"

अथवा जैसे—कोई नायक अपनी प्रेयसी से कह रहा है—हे प्रिये, ब्रह्मा ने तेरे नेत्रों को नीलकमल से, मुख को लाल कमल से, तेरे दाँतों को कुन्द के श्वेत पुष्पों से, अधरों को नए-नए लाल पल्लवों से, तथा अवशिष्ट अंगों को चम्पक के पुष्पों से बनाया है, पर पता नहीं तेरे चित्त को पत्थर से क्यों बनाया?

नायिका की सखियों को अपनी ओर मिला लेनेवाले भेद नामक उपाय का उदाहरण, जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—

"नायक अपनी प्रेयसी से कहता है कि आज के तुम्हारे कोप को तो मैं असीम और अपूर्व ही समझ बैठा था, क्योंकि इसके दूर करने के

लिए सखियो द्वारा की गई मधुर वाणी का प्रयास भी व्यर्थ हो गया था। पर मुझे अपनी इस सफलता पर आश्चर्य हो रहा है कि तूने देवि, मेरे द्वारा आज्ञा-भग किए जाने पर भी अपने चरणो पर नत होते देख, हँसकर हाथो से मुझे उठा लिया। साथ ही तू अपने क्रोध को छोडने मे भी प्रयत्नशील दीख रही है।"

आभूषण आदि देकर प्रसन्न किए जानेवाले दान नामक उपाय का उदाहरण, जैसे 'माघ' मे—कोई नायिका अपने नायक से कहती है—"बार-बार भ्रमरो से उपहसित इस मजरी को मुझे काहे को दे रहे हो! रे दुष्ट, तूने तो आज रात को उसके पास जाकर मुझे बहुत बडी मजरी प्रदान कर ही दी है।"

पावों मे पडने को नति कहते है जैसे—"नायिका के चरणो पर गिरे हुए नायक के केशपाश उसके नूपुरो मे ऐसे लग गए हैं मानो वे उससे कह रहे हैं कि सम्मान प्रदानार्थ उन्मुक्त हृदय तेरे पास आया हुआ है।"

उपेक्षा नामक उपाय का उदाहरण, जैसे—"नायक मनाकर नाराज हो चला गया। उसके जाने के बाद नायिका अपने किये हुए पर पश्चात्ताप कर रही है। सखी से कहती है—अब उसके पास (मनाने के लिए) जाने से क्या लाभ? पर हे सखि, वहाँ न जाना भी ठीक नही है क्योंकि समर्थवान् से कठोरता का बरताव भी ठीक नही होता, तो तुम उनके पास जाकर अनुनय-विनय करके जिस प्रकार से हो सके उस प्रकार से लाओ। नायिका थोडी देर रुककर फिर कहती है—अच्छा जाने दो, उसको बुलाने की आवश्यकता नही है। और जिसने मेरे साथ ऐसा अप्रिय कार्य किया है उसकी प्रार्थना करना उचित नही है।"

रसान्तर नामक उपाय का उदाहरण,

[शृङ्गारान्तर्गत भयकर्म मे उदाहरण मे पहले दिया जा चुका है।]

कार्यतः संभ्रमाद्धापात् प्रयासो भिन्नदेशता ॥६४॥

द्वयोस्तत्राश्रुनिःश्वासकार्श्यलम्बालकादिता ।
स च भावी भवन्भूतस्त्रिधाऽऽद्योबुद्धिपूर्वकः ॥६५॥

नायक और नायिका का अलग-अलग देशों मे रहने का नाम प्रवास है। वह तीन कारणों से हो सकता है—१. कार्यवशात्, २. सभ्रम से, और ३. शाप से।

प्रवास की दशा में नायक और नायिका को निम्नलिखित दशाएँ होती हैं—एक का दूसरे को याद कर-कर रोना-धोना, नि.श्वास, कृशता और केशों का बढ़ जाना आदि।

प्रवास तीन प्रकार का होता है—१. भविष्यत्, अर्थात् आगे आने वाला, २. वर्तमान और ३. भूत।

१ इसमे का पहला अर्थात् कार्यवशात् होनेवाला प्रवास समुद्र-यात्रा, सेवा आदि कार्यों के लिए होता है। यह तीन प्रकार का होता है—१ भविष्यत्, वर्तमान् और भूत ॥६४-६५॥

भविष्यत् प्रवास जैसे—प्रियतमा प्रिय-विरह के विषय मे सशक्ति लजाती हुई पडोसियों के घर पूछती फिरती है कि—"जिसका पति परदेश जानेवाला होता है उसकी स्त्रियाँ कैसे जीती हैं?"

वर्तमान प्रवास का उदाहरण, जैसे 'अमरुशतक' मे—

कोई पुरुष सैकडो देशो, अनेक नदियो, पर्वतो और जगलो से अन्तरित किसी दूर प्रदेश मे स्थित अपनी कान्ता से वियुक्त है। वह यद्यपि इस बात को जानता है कि कितने ही प्रयत्नो के बावजूद भी यहाँ से मैं अपनी प्रिया को देख नही सकता फिर भी अपनी प्रिया के स्मरण मे इतना विभोर हो उठता है कि अपने पजे के बल खडा होकर, आँखो में आँसू भरकर उसी दिशा मे, जिधर उसकी प्रेयसी का स्थान है, कुछ सोचता हुआ बहुत देर से देख रहा है।"

गत प्रवास अर्थात् भूतकालीन प्रवास का उदाहरण, जैसे 'मेघदूत' मे—

'हे मित्र, जब तुम मेरी प्रिया के पास पहुँच जाओगे तो देखोगे कि वह अपने शरीर पर मलिन वस्त्रो को धारण किये हुए अपनी गोद मे

वीणा को लेकर मेरे नामों से सम्बन्धित गाने योग्य बनाए हुए पदों को गान की चेष्टा करती होगी, पर इतने ही में मेरी स्मृति उद्बुद्ध हो जाने के कारण नेत्रों के आँसुओं से भीगी हुई अपनी वीणा को किसी प्रकार पोंछ लेने पर भी अपने सधे हुए स्वरों के उतार-चढ़ाव को बार-बार भूल रही होगी।''

द्वितीयः सहसोत्पन्नो दिव्यमानुषविप्लवात् ।

द्वितीय अर्थात् सभ्रम (घबराहट) से होनेवाला प्रवास दिव्य अथवा मनुष्य आदि के द्वारा किए गए विप्लव से सहसा उत्पन्न होता है।

दिव्य के द्वारा होनेवाले विप्लव के भीतर उत्पात, निर्घात, वात आदि का प्रकोप कारण होता है। [ज़ोर से आँधी आना, घनघोर वृष्टि के बीच बादल की गड़गड़ाहट, बिजली की चकाचौंध, हाथी अथवा जंगली अन्य किसी पशु द्वारा उत्पात आदि बातें दिव्य के द्वारा होनेवाले उत्पात में पाई जाती हैं।]

और मनुष्य के द्वारा होनेवाले सभ्रम के भीतर शत्रु आदि के द्वारा नगर का घिर जाना आदि बातें पाई जाती हैं।

सभ्रम से होनेवाला प्रवास चाहे दिव्य कारणों से हो अथवा अदिव्य कारणों से, पर बुद्धिपूर्वक होने के कारण वह एक ही प्रकार का होता है। दिव्य के द्वारा होनेवाला सभ्रम प्रवास का उदाहरण, जैसे 'विक्रमोर्वशी' नाटक में गन्धर्वों आदि के द्वारा राजा का उर्वशी से वियुक्त होना अदिव्य (मानुषजन्य) उत्पात से होनेवाले सभ्रम प्रवास का उदाहरण है—

मालती माधव' प्रकरण में कपालकुण्डला द्वारा मालती के अपहरण हो जाने से दोनों का प्रवासित होना।

स्वरूपान्यत्वकरणाच्छापजः संनिधावपि ॥६६॥

शाप प्रवास—शापवश अन्य शरीर धारण कर लेने पर यदि नायक (प्रेमी) या नायिका (प्रेमिका) पास में भी हों फिर भी वह प्रवास ही है ॥६६॥

जैसे—'कादम्बरी' में वैशम्पायन का।

मृते त्वेकत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोक एव सः।
व्याश्रयत्वान्न शृङ्गारः प्रत्यापन्ने तु नेतरः ॥६७॥

नायक और नायिका में यदि कोई एक मर गया और उसके वियोग में दूसरा रोता हो, ऐसी हालत में वह शोक है अर्थात् वहाँ पर करुणरस है। आलम्बहीन होने के कारण वह शृंगार नहीं है। और यदि उसके जीने की आशा अर्थात् संयोग की आशा दैवयोग से उत्पन्न हो जाए तब तो वह करुणरस कदापि नहीं हो सकता बल्कि वह विप्रलंभ शृंगार हो जाएगा ॥६७॥

करुणरस का उदाहरण 'रघुवंश' में इन्दुमती के मर जाने पर महाराज की कारुणिक अवस्था का होना है। संयोग की आशा उत्पन्न हो जाने से करुण का विप्रलम्भ शृंगार कहे जाने या हो जाने का उदाहरण है। 'कादम्बरी' में पहले करुण फिर आकाशवाणी द्वारा 'यह जी जाएगा' इसके श्रवण से प्रवास शृंगार हो जाता है।

अब नायिका के प्रति नियम बताते हैं—

प्रणयायोगयोरुत्का प्रवासे प्रोषितप्रिया।
कलहान्तरितेर्ष्याया विप्रलब्धा च खण्डिता ॥६८॥

प्रणय के रहते अयोग हो तो ऐसी नायिका को उत्का या उत्कण्ठित कहते हैं। प्रिय से वियुक्त रहने पर अर्थात् प्रियतम के प्रवासकाल में उसे प्रोषितप्रिया कहते हैं। नायक के प्रति ईर्ष्या रखने से वह कलहन्तरिता, विप्रलब्धा और खण्डिता कही जाती है ॥६८॥

अनुकूलौ निषेवेते यत्रान्योन्यं विलासिनौ।
दर्शनस्पर्शनादीनि स संभोगो मुदान्वितः ॥६९॥

सम्भोग शृंगार—उस अवस्था विशेष का नाम सम्भोग है जिसमें युवक और युवती दोनों एक-दूसरे को सेवन, दर्शन, स्पर्शन (चूमना आदि) आदि क्रियाओं के द्वारा प्रसन्नतापूर्वक बेरोकटोक स्वतन्त्रता के

साथ आनन्दसागर में गोते लगाते रहते हैं ॥६६॥

जैसे 'उत्तररामचरित' मे—

राम सीता से कह रहे हैं—"अनुराग के सम्बन्ध से गाल सटाकर कुछ-कुछ धीरे-धीरे क्रम के विना कहते हुए और एक-एक बाहु को गाढ आलिंगन मे लगाते हुए हम दोनो को, बीते हुए प्रहरो का भी पता न लगकर रातें यों ही बीत जाया करती थी।

अथवा जैसे 'उत्तररामचरित' का यह पद्य—

रामचन्द्र सीता से कहते हैं—"प्रिये, यह क्या है ?

"तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श मे इन्द्रिय-समूह को मूढ करनेवाला विकार मेरे ज्ञान को कभी तिरोहित करता है और कभी प्रकाशित करता है। यह(विकार)सुख है वा दुःख, मूर्च्छा है वा निद्रा, विष का प्रसरण है वा मादक द्रव्य से उत्पन्न मद है ? यह निश्चय नही कहा जा सकता है।"

अथवा जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—

"कोई नायक अपनी प्रेयसी से कह रहा है कि हे प्रिये, लावण्यरूपी अमृत की वर्षा करनेवाला, काले अगरु के समान कृष्ण वर्ण का चौतरफा (चारो तरफ से) अत्यधिक ऊँचा उठा हुआ तेरा स्तनमण्डल काले-काले अगरु की आभावाले तथा चारो दिशाओ मे जमीन तक लटके हुए मेघमण्डल के समान सुशोभित हो रहा है।" [वर्षा ऋतु मे केतकी का पुष्प वर्षा की वृष्टि से विकसित होता है और इधर नायक के शरीर के अवयव स्तनमण्डल-रूपी मेघमण्डल के लावण्य-रूपी जल-वृष्टि से विकसित हो रहे हैं।] हे प्रिये, तेरी नासिका सुन्दर केतकी पुष्प की बना है, सुन्दर भौंहो की बनावट ही उसके पत्ते है, माथे पर लगा हुआ सुन्दर कस्तूरी का तिलक ही उसके पुष्प हैं और हेलायुक्त तेरा अलक ही पुष्प रस के पान करनेवाले भ्रमर हैं।"

चेष्टास्तत्र प्रवर्तन्ते लीलाद्या दश योषिताम् ।
दाक्षिण्यमार्दवप्रेम्णामनुरूपाः प्रियं प्रति ॥७०॥

युवतियों के अन्दर लीला आदि दस चेष्टाएँ होती हैं। ये दसों चेष्टाएँ प्रिय के प्रति दाक्षिण्य, मृदुता और प्रेम के अनुरूप होती हैं ॥७०॥

इनको द्वितीय प्रकाश में नायिकाओं के बारे में बताते समय कह आए हैं।

रमयेच्चाटुकृत्कान्तः कलाक्रीडादिभिश्च ताम् ।
न ग्राम्यमाचरेत्किंचिन्नर्मभ्रंशकरं न च ॥७१॥

नायक नायिका के साथ चाटुकारितायुक्त मधुर वचनों से और कला, क्रीडा आदि के साथ रमण करे अथवा कराए। पर इन क्रियाओं के साथ ग्राम्य (निन्दनीय) कार्य नहीं होना चाहिए। और न नर्म का भ्रंश करनेवाले ही कार्य होने चाहिए। रंगमंच पर ग्राम्य सम्भोग का दिखाना तो निषिद्ध ही है, फिर यहाँ ग्राम्य के निषेध करने का तात्पर्य यह है कि श्रव्यकाव्य में भी इसका वर्णन नहीं हो सकता है ॥७१॥

राजा वत्सराज वासवदत्ता से कह रहे हैं कि प्रिये, कामदेव की पूजा की समाप्ति के बाद तेरे हाथ का स्पर्श किया हुआ अशोक ऐसा लग रहा है मानो इसके अन्दर अपने और किसलयों से भी मृदुतर किसलय निकल आए हैं। यहाँ पर वासवदत्ता के हाथों की अँगुलियों पर उत्प्रेक्षा की गई है।

नायक, नायिका, कैशिकी वृत्ति, नाटक और नाटिका आदि के लक्षणों को जानकर और कवि-परम्परा में अवगत होकर तथा स्वयमपि औचित्य की सम्भावना के अनुकूल कल्पना करते हुए नई-नई सूझों को दिखलाता हुआ प्रतिभाशाली कवि शृङ्गार रस की रचना करे।

वीरः प्रतापविनयाध्यवसायसत्त्व-
मोहाविषादनयविस्मयविक्रमाद्यैः ।
उत्साहभूः स च दयारणदानयोगा-
त्त्रेधा किलात्र मतिगर्वधृतिप्रहर्षाः ॥७२॥

वीररस—प्रताप, विनय, अध्यवसाय, सत्व (पराक्रम), अविषाद

(हर्ष), नय, विस्मय, विक्रम आदि से विभावित होकर करुणा, युद्ध, दान आदि से अनुभावित और गर्व, धृति, हर्ष, अमर्ष, स्मृति, मति, वितर्क आदि से भावित होता हुआ उत्साह नाम का स्थायीभाव वीररस की संज्ञा को प्राप्त करता है ॥७२॥

यही अपनी भावना करनेवाले के मन को विस्तृत करनेवाला तथा आनन्द का कारण होता है। यह तीन प्रकार का होता है।— १ दयावीर, २. युद्धवीर और ३ दानवीर।

, दयावीर के उदाहरण 'नागानन्द' नाटिका के प्रधान नायक जीमूतवाहन हैं। युद्धवीर का उदाहरण 'महावीरचरित' में वर्णित मर्यादा-पुरुषोत्तम राम हैं। दानवीर का उदाहरण परशुरामजी और राजा बलि आदि हैं। द्वितीय प्रकाश में 'त्याग सप्त समुद्र०' आदि श्लोक के द्वारा इसका उदाहरण दिया जा चुका है। राजा बलि के विषय में उदाहरण दिया जा रहा है—

राजा बलि की परीक्षा लेते समय भगवान् ने जब अपना वामन रूप त्यागकर अपना विराट् रूप धारण किया उसी समय का यह वर्णन है : "भगवान् के शरीर की छोटी छोटी गाँठों ने जब सन्धि के बन्धन से मुक्ति पाई अर्थात् जब भगवान् का शरीर बढ़ने लगा तो उनके विकसित वक्षस्थल पर कौस्तुभ मणि चमकने लगी, निकलते हुए नाभिकमल के कुड्मल कुटीर से गम्भीर सामध्वनि होने लगी। अपने याचक को इस प्रकार पा उत्सुकतापूर्वक और आनन्द के साथ राजा बलि उन्हें देखने लगे। कवि कहता है कि क्रमशः बढ़ने की महिमावाला अतएव आश्चर्यकारी भगवान् विष्णु का शरीर आप लोगों की रक्षा करे।"

अथवा जैसे मेरा (धनिक का) ही पद्य—

'ये वे ही राजा बलि हैं जिनके द्वारा लक्ष्मी के स्तनमण्डल में लगे हुए कुङ्कुम-से अरुण वर्णवाले भगवान् विष्णु भिक्षुक बनाये गए।'

वीररस के ऊपर बताये हुए तीनों भेदों को कुछ लोग मानते हैं और कुछ नहीं भी मानते।

युद्धवीर में प्रस्वेद (पसीना) होना, मुंह का लाल हो जाना, नेत्रादिकों में क्रोध आदि अनुभावों का होना आदि बातें नहीं होती। यदि ये सब बातें रहें तो फिर वह रौद्र कहलाएगा।

वीभत्स रस—इसका स्थायी भाव जुगुप्सा है। यह तीन प्रकार का होता है—१ उद्वेग से, २. क्षोभ से, और ३ शुद्ध।

> वीभत्सः कृमिपूतिगन्धिवमथुप्रायैर्जुगुप्सैकभू-
> रुद्वेगी रुधिरान्त्रकीकसवसामांसादिभिः क्षोभणः।
> वैराग्याज्जघनस्तनादिषु घृणाशुद्धोऽनुभावैर्वृतो
> नासावक्त्रविकूणनादिभिरिहावेगार्तिशंकादयः ॥७३॥

१. हृदय को बिलकुल ही अच्छे न लगनेवाले कीड़े, सड़न, पीब, कै आदि विभावों से पैदा हुआ जुगुप्सा नामक स्थायीभाव को पुष्ट करनेवाले लक्षणों से युक्त उद्वेगी नामक वीभत्स होता है।

२. रुधिर, अतड़ी, हड्डी और मज्जा, मांस आदि के देखने अर्थात् इन विभावों से होनेवाले क्षोभ से उत्पन्न होनेवाला वीभत्स होता है।

३. वैराग्य के द्वारा स्त्रियों की सुन्दर जघाओं तथा स्तन आदि अंगों में भयानक विकृति को देखकर होनेवाली जुगुप्सा को शुद्ध वीभत्स कहते हैं।

वीभत्स रस में नाक का सिकोड़ना और मुख मोड़ना आदि अनुभाव और आवेग, व्याधि तथा शंका, ये संचारीभाव होते हैं ॥७३॥

उद्वेग से होनेवाला वीभत्सरस का उदाहरण 'मालतीमाधव' का यह पद्य—

> उतिन उतिन चाम फेरि ताहि काढ़त हैं,
> लोथि को उठाइ भखैं ऐसे ये प्रेतक हैं।
> सर्थ मांस कधों जांघ पीठ औ नितम्बनु को,
> सुलभ पवाइ लेत रुचि सों निरक हैं।

रौंधि डारैं नाडी नेत्र आंत औ निवारैं दांत,
लियरे सरीर जिन सोनित की पक हैं।
अस्थिन पै ऊँचो नीचो और तिनपीच हू को,
धीरे-धीरे कैसे मास खात प्रेत रक हैं।

क्षोभ से होनेवाले बीभत्स का उदाहरण, जैसे 'महावीरचरित' में—

"आंतो मे बडे-बडे मुण्डो के गुंथे हुए आभूषणो से सुसज्जित ताडका राम-लक्ष्मण पर बडे वेग के साथ झपट रही है। वेग के साथ दौडने से मुर्दों की वे नसें, जिनको उसने ककण के रूप मे पहन रखा है, आपस मे लगकर भयानक झनझनाहट पैदा कर रहे हैं। मुण्डो की मालारूपी आभूषण की ध्वनि आकाश भर मे व्याप्त हो रही है। शरीर का ऊपरी भाग विशेषत स्तनमण्डल बडा ही भयानक लग रहा है।"

शुद्ध बीभत्स, जैसे—

किसी विरक्त पुरुष की उक्ति है—"काम के वशीभूत पुरुष युवतियो की लार को मुखमदिरा, मासपिण्डो को कुच और हाड मास को जघन समझते हैं।"

[यहाँ पर शान्तरस नहीं मानना चाहिए क्योंकि यह किसी विरक्त के द्वारा घृणा के साथ कहा हुआ है।]

क्रोधो मत्सरवैरिवैकृतमयैः पोषोऽस्य रौद्रोऽनुजः
क्षोभः स्वाधरदंशकम्पभृकुटिस्वेदास्यरागैर्युतः।
शस्त्रोल्लासविकत्थनासधरणीघातप्रतिज्ञाग्रहै-
रत्रामर्षमदौ स्मृतिश्चपलतासूयौग्र्यवेगादयः ॥७४॥

रौद्ररस—रौद्ररस का विभाव शत्रु के प्रति मत्सरता और घृणा आदि हैं। इसके अनुभाव, क्षोभ, अपने ओंठों को दबाना, कम्प होना, भृकुटि का टेढ़ा करना, पसीना आना, मुख का लाल हो जाना, शस्त्रास्त्रों को चमकाना, गर्वोक्ति के साथ कन्धों को फैलाना, पृथ्वी को जोर के साथ पैरों से चांपना, प्रहार करना आदि हैं ॥७४॥

और इसके संचारीभाव—अमर्ष, मद, स्मृति, चपलता, असूया, उग्रता आवेग आदि हैं।

ऊपर कहे हुए विभाव, अनुभाव और संचारीभावों से पुष्ट होता हुआ क्रोध नामक स्थायीभाव रौद्ररस की संज्ञा प्राप्त करता है।

मात्सर्य नामक विभाववाला रौद्ररस, जैसे—

प्रकुपित परशुराम विश्वामित्र से कहते हैं—"तुम इस समय तपस्या के बल से ब्रह्मर्षि हो, पर जन्मना क्षत्रिय हो। अतः यदि तुम्हें अपनी तपस्या का घमण्ड है तो मेरे अन्दर तपस्या का वह बल है कि मैं अपने तपोबल से तुम्हारी तपस्या को नष्ट कर सकता हूँ और यदि तुम्हें क्षत्रिय होने का गर्व है तो फिर शस्त्रास्त्रों के साथ आ जाओ, उसका भी मुँहतोड़ उत्तर देनेवाला फरसा मेरे पास ही विद्यमान है।"

वैरिकृत रौद्र का उदाहरण, जैसे—

"भीमसेन मंगलपाठ करनेवालों को डाँटते हुए कह रहे हैं—जिन धृतराष्ट्र के पुत्रों ने लाखनिर्मित महल, विषमिश्रित आहार तथा द्यूत और दार्य सभागृह प्रवेश आदि के द्वारा हम लोगों के प्राण और धन के अपहरण की चेष्टा की, द्रौपदी के केशपाशों को खींचा, वे मेरे रहते स्वस्थ हों, ऐसा कदापि नहीं हो सकता।"

'महावीरचरित' और 'वेणीसंहार' में वर्णित परशुराम, भीमसेन और दुर्योधन के व्यवहार रौद्ररस के उदाहरण हैं।

विकृताकृतिवाग्वेषैरात्मनोऽथ परस्य वा।
हासः स्यात्परितोषोऽस्य हास्यस्त्रिप्रकृतिः स्मृतः ॥७५॥

हास्यरस—अपने या अन्य के विकृत आकृति, वाणी और वेष के द्वारा पैदा हुए हास के परिपुष्ट होने का नाम हास्यरस है। इस रस के दो आश्रय होते हैं—१. आत्मस्थ और २. परस्थ ॥७५॥

आत्मस्थ का उदाहरण है—रावण द्वारा कथित यह पद्य—

"मेरे शरीर में लगी विभूति ही चन्दन की धूलि का लेप है, यज्ञो-

पवीत ही सुन्दर हार है, इधर-उधर बिखरी हुई, क्लिष्ट जटाएँ ही शिरोभूषण हैं। गले में पड़ी हुई रुद्राक्ष की माला ही रत्नजटित आभूषण है। वल्कल ही चिनांशुक है, इस प्रकार से मैंने सीता को लुभाने लायक (योग्य) कामीजनोचित सुन्दर वेश-विन्यास किया है।"

परस्थ हास्य, जैसे—किसी दाता ने किसी भिक्षुक से पूछा—'क्यों तुम मांस भी खाते हो?' उधर से उत्तर मिला—'मद्य के बिना मांस का सेवन कैसा?' दाताजी ने फिर पूछा—'क्या तुम्हें मद्य भी प्रिय है?' उधर से उत्तर आया—'वेश्याओं के साथ ही मुझे तो मद्यपान में मजा आता है।' दाता ने पुनः प्रश्न किया—'वेश्याएँ तो रुपये की लालची होती हैं, तेरे पास धन कहाँ से आता है?' उत्तर मिला—'जुआ खेलकर तथा चोरी से।' दाता ने फिर पूछा—'अरे तुम चोरी भी करते हो और जुआ भी खेलते हो?' उत्तर मिला—'जो अपने को नष्ट कर चुका है उसकी इसके अलावा और क्या गति हो सकती है।'

स्मितमिह विकासिनयनं किंचिल्लक्ष्यद्विजं तु हसितं स्यात्।
मधुरस्वरं विहसितं सशिरःकम्पमिदमुपहसितम् ॥७६॥
अपहसितं सास्राक्षं विक्षिप्ताङ्गं भवत्यतिहसितम्।
द्वे द्वे हसिते चैषां ज्येष्ठे मध्येऽधमे क्रमशः ॥७७॥

हास्य के आत्मस्थ और परस्थ भेदों को बता चुके। ये दोनों भी—उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष और अधम पुरुष के प्रकृति-भेद से प्रत्येक तीन-तीन प्रकार के होते हैं। इस प्रकार हास्य छः प्रकार का होता है। ये हैं—स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित, अतिहसित।

जिस हास्य में केवल नेत्र विकसित हों उसे स्मित कहते हैं।

जिस हास्य में कुछ कुछ दाँत भी दिखाई दें उसे हसित कहते हैं।

जिस हास्य में हँसते समय मधुर स्वर भी होता है उसे विहसित कहते हैं।

जिस हास्य में सिर भी हिलने लगता है उसे उपहसित कहते हैं।

जिस हास्य मे हँसते हँसते आँखो मे आंसू तक आ जाए उसे अपहसित कहते हैं।

जिस हास्य मे सारा शरीर कांपने लग जाए उसे अतिहसित कहते हैं।

ये क्रमश शुरू के दो उत्तम पुरुष मे, उसके बाद के क्रमशः दो मध्यम पुरुष मे और शेष अधम पुरुष मे होते हैं ॥७६-७७॥

> निद्रालस्यश्रमग्लानिमूर्च्छाश्च सहचारिण ।
> अतिलोकैः पदार्थैः स्याद्विस्मयात्मा रसोऽद्भुत. ॥७८॥
> कर्मास्य साधुवादाश्रुवेपथुस्वेदगद्गदाः ।
> हर्षावेगधृतिप्राया भवन्ति व्यभिचारिणः ॥७९॥

इनके उदाहरणों को स्वय समझ लेना चाहिए। निद्रा आलस्य, श्रम, ग्लानि, मूर्च्छा, ये इसके व्यभिचारीभाव होते हैं।

अद्भुत रस—लौकिक सीमा को अतिक्रमण करनेवाले आश्चर्यजनक पदार्थों से विभावित (ये जिसके विभाव हैं) साधुवाद, अश्रु, वेपथु, स्वेद, गद्गद वाणी आदि से अनुभावित (ये जिसके अनुभाव होते हैं) हर्ष, आवेग, धृति, आदि से व्यभिचारित (अर्थात् ये जिसके व्यभिचारी भाव होते हैं) होता हुआ तथा पोषण, भास, विस्मय नामक स्थायीभाव अद्भुत रस कहलाता है ॥७८-७९॥

जैसे लक्ष्मण की यह उक्ति—

'भुजाओ के द्वारा चढाया गया जो भगवान् शकर का धनुष उसकी टकार की ध्वनि ध्वनि नही है, अपितु बड़े भाई रामचन्द्र के बालचरित्र का नगाडा बज रहा है।"

"अति शीघ्रता से भरा हुआ साथ ही मिला हुआ कपाट सम्पुटरूपी ब्रह्माण्ड भाण्ड के अन्दर घूमती हुई पिण्डीभूत हुई शब्द-ध्वनि की चण्डिमा (वह) क्या अभी तक शान्त न हो सकी ?"

विकृतस्वरसत्त्वादेर्भयभावो भयानकः ।
सर्वाङ्गवेपथुस्वेदशोषवैचित्त्यलक्षणः ।
दैन्यसंभ्रमसंमोहत्रासादिस्तत्सहोदरः ॥८०॥

भयानक रस—विकृत स्वर, (भयानक, डरावने आदि) व्याघ्र सिंह आदि जीवों के देखने-सुनने आदि विभावों से उत्पन्न भय स्थायी भाव से भयानक रस की उत्पत्ति होती है। इसमें सब अंगों में डर के मारे कँपकँपी, पसीने का आना, शोक से चेहरे का फीका पड़ जाना, आदि अनुभाव तथा दैन्य, सभ्रम, सम्मोह त्रास आदि व्यभिचारी भाव होते हैं ॥८०॥

जैसे—'शस्त्र को छोड़कर कुब्जे की तरह नम्र होकर धीरे-धीरे येन-केनप्रकारेण (जैसे-तैसे) जा सकते हो।'

इसी प्रकार से पहले बताये हुए 'रत्नावली नाटिका' के 'नष्टवर्षं वरैः' इस श्लोक को भी इसका उदाहरण समझना चाहिए।

इत्यादि। और भी जैसे—

"कोई कवि किसी राजा से कहता है कि महाराज, आपकी विजय-यात्रा की खबर सुन आपके शत्रुओं की बुद्धि घबराई और वे डर के मारे घर से भाग खड़े हुए। फिर उनके मन में यह शंका आई कि कहीं पकड़ न लिए जाएँ, अतः जंगल में चले गए। फिर वहाँ से पर्वत पर और जब वहाँ भी भय से छुटकारा नहीं मिला तब घने वृक्षोंवाली पर्वतों की चोटियों पर और उसके बाद उसकी कन्दराओं में चले गए। कन्दराओं में रहते हुए भी उन्होंने अपने सारे अंगों को ऐसा सिकोड़ लिया है मानो उनका एक अंग दूसरे में प्रविष्ट होता जा रहा है। सो हे महाराज, आपके शत्रुओं की यह दशा है, वे कहाँ रहें, कहाँ जाएँ, इस विषय में उनकी बुद्धि काम नहीं दे रही है।"

इष्टनाशादनिष्टाप्तौ शोकात्मा करुणोऽनु तम् ।
निःश्वासोच्छ्वासरुदितस्तम्भप्रलपितादयः ॥८१॥

स्वापापस्मारदैन्यव्याधिमरणालस्यसम्भ्रमा ।
विषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिणः ॥८२॥

करुण रस—यह शोक नामक स्थायीभाव से पैदा होता है। इष्ट का नाश, अनिष्ट की प्राप्ति आदि इसके विभाव और निःश्वास, उच्छ्वास, रुदन, स्तम्भ, प्रलाप आदि अनुभाव तथा निद्रा, अपस्मार, दैन्य, व्याधि मरण, आलस्य, आवेग, विषाद जडता, उन्माद और चिन्ता आदि संचारी भाव होते हैं ॥८१-८२॥

इष्टनाश से उत्पन्न करुण, जैसे 'कुमारसम्भव' में—

"हे प्राणनाथ, क्या तुम जीते हो यह कहती हुई वह ज्यों ही खड़ी हुई तो देखती क्या है कि शंकर के क्रोध से जला हुआ, पुरुष के आकार का राख का एक ढेर सामने पृथ्वी पर पड़ा हुआ है।"

इत्यादि रति का प्रलाप]

अनिष्ट-प्राप्ति का उदाहरण 'रत्नावली नाटिका' में सागरिका का कैद किया जाना है।

प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसाः ।
हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिताः ॥८३॥

प्रीति और भक्ति आदि भावों को और मृगया, द्यूत, से होनेवाले रसों का हर्ष और उत्साह के भीतर अन्तर्भाव हो जाता है। स्पष्ट होने के कारण इसकी व्याख्या नहीं की गई ॥८३॥

षट्त्रिंशद्भूषणादीनि सामादीन्येकविंशतिः ।
लक्ष्यसन्ध्यन्तराङ्गानि सालंकारेषु तेषु च ॥८४॥

३६ विभूषण आदि का उपमा आदि अलंकारों मे और २१ साम आदि का हर्ष, उत्साह आदि के भीतर अन्तर्भाव हो जाता है। यह बात स्पष्ट है, अतः इसको अलग से बताने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई ॥८४॥

रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीच-
मुग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु ।

विकृतस्वरसत्त्वादेर्भयभावो भयानकः ।
सर्वाङ्गवेपथुस्वेदशोषवैचित्र्यलक्षणः ।
दैन्यसंभ्रमसंमोहत्रासादिस्तत्सहोदरः ॥८०॥

भयानक रस—विकृत स्वर, (भयानक, डरावने आदि) व्याघ्र सिंह आदि जीवों के देखने-सुनने आदि विभावों से उत्पन्न भय स्थायी भाव से भयानक रस की उत्पत्ति होती है। इसमें सब अगो मे डर के मारे कँपकँपी, पसीने का आना, शोक से चेहरे का फीका पड जाना, आदि अनुभाव तथा दैन्य, सभ्रम, सम्मोह भास आदि व्यभिचारी भाव होते हैं ॥८०॥

जैसे—'शस्त्र को छोडकर कुब्जे की तरह नम्र होकर धीरे-धीरे येन-केनप्रकारेण (जैसे-तैसे) जा सकते हो।'

इसी प्रकार से पहले बताये हुए 'रत्नावली नाटिका' के 'नष्टवर्ष वरै' इस श्लोक को भी इसका उदाहरण समझना चाहिए।

इत्यादि। और भी जैसे—

"कोई कवि किसी राजा से कहता है कि महाराज, आपकी विजय-यात्रा की खबर सुन आपके शत्रुओ की बुद्धि चकराई और वे डर के मारे घर से भाग खडे हुए। फिर उनके मन मे यह शका आई कि कही पकड न लिए जाएँ, अत जगल मे चले गए। फिर वहाँ से पर्वत पर और जब वहाँ भी भय से छुटकारा नही मिला तव घने वृक्षोवाली पर्वतो की चोटियों पर और उसके बाद उसकी कन्दराओ मे चले गए। कन्दराओ मे रहते हुए भी उन्होने अपने सारे अगो को ऐसा सिकोड लिया है मानो उनका एक अग दूसरे मे प्रविष्ट होता जा रहा है। सो हे महाराज, आपके शत्रुओ की यह दशा है, वे कहाँ रहे, कहाँ जाएँ, इस विषय मे उनकी बुद्धि काम नही दे रही है।"

इष्टनाशादनिष्टाप्तौ शोकात्मा करुणोऽनु तम् ।
निःश्वासोच्छ्वासरुदितस्तम्भप्रलपितादयः ॥८१॥

स्वापापस्मारदैन्याधिमरणालस्यसंभ्रमाः ।
विषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिणः ॥८२॥

करुण रस—यह शोक नामक स्थायीभाव से पैदा होता है। इष्ट का नाश, अनिष्ट की प्राप्ति आदि इसके विभाव और निःश्वास, उच्छ्वास, रुदन, स्तम्भ, प्रलाप आदि अनुभाव तथा निद्रा, अपस्मार, दैन्य, व्याधि मरण, आलस्य, आवेग, विषाद, जडता, उन्माद और चिन्ता आदि संचारी भाव होते हैं ॥८१-८२॥

इष्टनाश से उत्पन्न करुण, जैसे 'कुमारसम्भव' में—

"हे प्राणनाथ, क्या तुम जीते हो यह कहती हुई वह ज्यों ही खड़ी हुई तो देखती क्या है कि शंकर के क्रोध से जला हुआ, पुरुष के आकार का राख का एक ढेर सामने पृथ्वी पर पड़ा हुआ है।"

इत्यादि रति का प्रलाप]

अनिष्ट-प्राप्ति का उदाहरण 'रत्नावली नाटिका' में सागरिका का कैद किया जाना है।

प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसाः ।
हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिताः ॥८३॥

प्रीति और भक्ति आदि भावों को और मृगया, द्यूत, से होनेवाले रसों का हर्ष और उत्साह के भीतर अन्तर्भाव हो जाता है। स्पष्ट होने के कारण इसकी व्याख्या नहीं की गई ॥८३॥

षट्त्रिंशद्भूषणादीनि सामादीन्येकविंशति ।
लक्ष्यसंध्यन्तराङ्गानि सालंकारेषु तेषु च ॥८४॥

३६ विभूषण आदि का उपमा आदि अलङ्कारों में और २१ साम आदि का हर्ष, उत्साह आदि के भीतर अन्तर्भाव हो जाता है। यह बात स्पष्ट है, अतः इसको अलग से बताने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई ॥८४॥

रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीच-
मुग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु ।

यद्वाप्ययवस्तु कविभावकभाव्यमानं
तन्नास्ति यन्न रसभावमुपैति लोके ॥८५॥

रमणीय हो अथवा घृणित अच्छी हो या बुरी, उग्र अथवा आह्लादकारी, गहन हो अथवा विकृत, [किसी भी प्रकार की क्यों न हो] विश्व मे ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, वस्तु ही क्यो अवस्तु भी, जो कवि और भावक के भावना के विषयीभूत होने पर रस और भाव को पैदा न करे ॥८५॥

विष्णोः सुतेनापि धनंजयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः ।
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठीवैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत्॥ ८६॥

विष्णु के पुत्र धनजय जिनके पाण्डित्य की धाक महाराज मुञ्ज के पण्डित परिषद मे जमी हुई है उन्होंने विद्वानो के मनबहलाव के लिए दशरूपक नामक इस ग्रन्थ की रचना की ॥८६॥

[दशरूपक समाप्त]

विष्णु के पुत्र धनिक द्वारा दशरूपक के ऊपर लिखी गई 'दशरूपकावलोक' नाम की व्याख्या का रस विचार नामक चतुर्थ प्रकाश समाप्त।

परिशिष्ट

धनिक की संस्कृत वृत्ति

इह सदाचार प्रमाणयद्भिरविघ्नेन प्रकरणस्य समाप्त्यर्थमिष्टयो-
प्रवृत्ताभिमतदेवतयोर्नमस्कारः क्रियते श्लोकद्वयेन ।

नमस्तस्मै......भरताय च ॥१-२॥

यस्य कण्ठ पुष्करायते मृदङ्गवदाचरति मदाभोगेन घनध्वानो निबिडध्वनि' नीलकण्ठस्य शिवस्य ताण्डवे उद्धते नृत्ते तस्मै गणेशाय नम'। अत्र श्लेषाक्षिप्यमाणोपमाच्छायालङ्कारः। नीलकण्ठस्य मयूरस्य ताण्डवे यथा मेघध्वनि' पुष्करायत इति प्रतीतेः।

दशरूपानुकारेणेति। एकत्र मन्स्यकूर्मादिप्रतिमानामुद्देशेनाग्यत्रानुकृतिरूपनाटकादिना यस्य भावका ध्यातारो रसिकाश्च माद्यन्ति हृष्यन्ति तस्मै विष्णवेऽभिमताय प्रकृताय भरताय च नम'।

श्रोतु प्रवृत्तिनिमित्त प्रदर्शयते।

कस्यचिदेव......येन वैदग्धीम् ॥३॥

न कश्चिद् विषय प्रकरणादिरप कदाचिदेव कस्यचिदेव कवे सरस्वती योजयति येन प्रकरणादिना विषयेणान्यो जनो विदग्धो भवति।

स्वप्रवृत्तिविषय दर्शयति।

उद्धृत्योद्धृत्य ... सङ्क्षिपामि ॥४॥

य नाट्यवेद वेदेभ्यः सारमादाय ब्रह्मा कृतवान् यत्सम्बद्धमभिनय भरतश्चकार करणाङ्गहारानकरोत् हरस्ताण्डवमुद्धन लास्य सुकुमार नृत्तं पार्वती कृतवती तस्य सामस्त्येन लक्षण कर्तु कः शक्त तदेकदेशस्य तु दशरूपस्य सक्षेप क्रियत इत्यर्थ ।

विपर्ययप्रसक्त पौनरुक्त्य परिहरति।

व्याकीर्णे क्रियतेऽञ्जसा ॥५॥

व्याकीर्णे विक्षिप्ते विस्तीर्णे च रसशास्त्रे मन्दबुद्धीना पुसा मतिमोहो भवति तेन तस्य नाट्यवेदस्यार्थस्तत्पदैरेव सक्षिप्य ऋजुवृत्त्या क्रियत इति।

इद प्रकरण दशरूपज्ञानफलम। दशरूप किम्फलमित्याह।

आनन्द० पराङ्मुखाय ॥६॥

तत्र केचित्।

> धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्य कलासु च।
> करोति कीर्ति प्रीति च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥

इत्यादिना त्रिवर्गादिव्युत्पत्ति काव्यफलत्व नेच्छन्ति तन्निरासेन स्व सवेद्य परमानन्दरूपो रसास्वादो दशरूपाणा फल न पुनरितिहासादिवत् त्रिवर्गादिव्युत्पत्तिमात्रमिति दर्शितम्। नम इति सोल्लुण्ठम्।

नाट्याना लक्षण सक्षिपामीत्युक्तम्। कि पुनस्तन्नाट्यमित्याह।

अवस्थानुकृतिर्नाट्य

काव्योपनिबद्धधीरोदात्ताद्यवस्थानुकारश्चतुर्विधाभिनयेन तादात्म्यापत्तिर्नाट्यम्।

रूप दृश्यतयोच्यते।

तदेव नाट्य दृश्यमानतया रूपमित्युच्यते नीलादिरूपवत्।

रूपक तत् समारोपात्

इति। नटे रामाद्यवस्थारोपेण वर्तमानत्वात् रूपक मुखचन्द्रादिवत् इत्येकस्मिन्नर्थे प्रवर्तमानस्य शब्दत्रयस्य इन्द्र पुरन्दर शक्र इतिवत् प्रवृत्तिनिमित्तभेदो दर्शित।

दशधैव रसाश्रयम् ॥७॥

इति। रसानाश्रित्य वर्तमान दशप्रकारकम्। एवेत्यवधारण शुद्धाभिप्रायेण नाटिकाया सङ्कीर्णत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्।

तानेव दशभेदानुद्दिशति।

नाटकं ·· वीथ्यङ्केहामृगा इति ॥८॥

ननु ।

डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणीप्रस्थानरासकाः ।
काव्यं च सप्त नृत्यस्य भेदाः स्युस्तेऽपि भाणवत् ॥

इति रूपकान्तराणामपि भावादवधारणानुपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह ।

अन्यद् भावाश्रयं नृत्यं

इति । रसाश्रयात् नाट्याद् भावाश्रयं नृत्यमन्यदेव । तत्र भावाश्रयमिति विषयभेदात् नृत्यमिति नृतेर्गात्रविक्षेपार्थत्वेनाऽऽङ्गिकबाहुल्यात् तत्कारिषु च नर्तकव्यपदेशात् लोकेऽपि चाऽत्र प्रेक्षणीयकमिति व्यवहारात् नाटकादेरन्यत् नृत्यम् । तद्भेदत्वात् श्रीगदितादेरवधारणोपपत्तिः । नाटकादि च रसविषयम् । रसस्य च पदार्थीभूतविभावादिसंसर्गात्मकवाक्यार्थहेतुकत्वाद् वाक्यार्थाभिनयात्मकत्वं रसाश्रयमित्यनेन दर्शितम् । नाट्यमिति च नट अवस्कन्दन इति नटे किञ्चिच् चलनार्थत्वात् सात्त्विकबाहुल्यम् । अतएव तत्कारिषु नटव्यपदेशः । यथा च गात्रविक्षेपार्थत्वे समानेऽप्यनुकारात्मकत्वेन नृत्तादन्यत् नृत्यं तथा वाक्यार्थाभिनयात्मकात् नाट्यात् पदार्थाभिनयात्मकमन्यदेव नृत्यमिति ।

प्रसङ्गात् नृत्तं व्युत्पादयति ।

नृत्तं ताललयाश्रयम् ।

इति । तालश्चञ्चत्पुटादिः लयो द्रुतादिः तन्मात्रापेक्षोऽङ्गविक्षेपोऽभिनयशून्यो नृत्तमिति ।

अनन्तरोक्तं द्वितयं व्याचष्टे ।

आद्यं ·· तथा परम् ॥९॥

धान्तरपदार्थाभिनयेन नृत्तस्य च शोभाहेतुत्वेन नाटकादावुपयोग इति।

अनुकारात्मकत्वेन रूपाणामभेदात् किङ्कृतो भेद इत्याशङ्कयाऽऽह।

वस्तु नेता रसस्तेषां भेदको

इति। वस्तुभेदान् नायकभेदाद् रसभेदाद् रूपाणामन्योऽन्य भेद इति। वस्तुभेदमाह।

वस्तु च द्विधा।

कथमित्याह।

तत्राऽऽधिकारिकं······विदुः ॥११॥

इति। प्रधानभूतमाधिकारिकं यथा रामायणे रामसीतावृत्तान्तम्। तदङ्गभूतं प्रासङ्गिकं यथा तत्रैव विभीषणसुग्रीवादिवृत्तान्त इति।

निरुक्त्याऽऽधिकारिकं लक्षयति।

अधिकार······स्यादाधिकारिकम् ॥१२॥

इति। फलेन स्वस्वामिसम्बन्धोऽधिकारः फलस्वामी चाऽधिकारी तेनाऽधिकारेणाऽधिकारिणा वा निर्वृत्तं फलपर्यन्ततां नीयमानमितिवृत्तमाधिकारिकम्।

प्रासङ्गिकं व्याचष्टे।

प्रासङ्गिकं···प्रसङ्गतः।

यस्येतिवृत्तस्य परप्रयोजनस्य सतस्तत्प्रसङ्गात् स्वप्रयोजनसिद्धिस्तत् प्रासङ्गिकमितिवृत्तं प्रसङ्गनिर्वृत्तेः।

प्रासङ्गिकमपि पताकाप्रकरीभेदाद् द्विविधमित्याह।

सानुबन्ध······प्रदेशभाक् ॥१३॥

दूरं यदनुवर्तते प्रासङ्गिकं सा पताका सुग्रीवादिवृत्तान्तवत्। पताकेवाऽसाधारणनायकचिह्नवत् तदुपकारित्वात्। यदल्पं सा प्रकरी श्रवणादिवृत्तान्तवत्।

पताकाप्रसङ्गेन पताकास्थानकं व्युत्पादयति।

प्रस्तुतागन्तुभावस्य······संविधानविशेषणम् ॥१४॥

प्राकरणिकस्य भाविनोऽर्थस्य सूचकं रूपं पताकावद् भवतीति पताका

स्थानकम् । तच्च तुल्येतिवृत्ततया तुल्य-विशेषणतया च द्विप्रकारमन्योक्ति-समासोक्तिभेदात् । यथा रत्नावल्याम् ।

यातोऽस्मि पद्मनयने समयो ममैष
सुप्ता मयैव भवती प्रतिबोधनीया ।
प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्याः
सूर्योऽस्तमस्तकनिविष्टकरः करोति ॥

यथा च तुल्यविशेषणतया ।

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणाद्
आयासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः ।
अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन् कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥

एवमाधिकारिकेतिवृत्तप्रसङ्गेनैवानुविधेयस्यापि त्रैविध्यमाह ।

प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात् ⋯ ⋯दिव्यमर्त्यादिभेदतः ॥१५॥

इति निगदव्याख्यातम् ।

तस्येतिवृत्तस्य किं फलमित्याह ।

कार्यं त्रिवर्गस्तत् शुद्धमेकानेकानुबन्धि च ।

धर्मार्थकामाः फलम् । तच्च शुद्धमेकैकमनेकानुबन्धं द्वित्र्यनुबन्धं वा ।

तत्साधनं व्युत्पादयति ।

स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुर्बीजं विस्तार्यनेकधा ।

स्तोकोद्दिष्टः कार्यसाधकः पुरस्तादनेकप्रकारं विस्तारी हेतुविशेषो बीजवद् बीजम् । यथा रत्नावल्यां वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुरनुकूलदैवो यौगन्धरायणव्यापारो विष्कम्भके न्यस्तः । यौगन्धरायणः । कः सन्देहः । द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि इत्यादिना ।

प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतौ ।

इत्यन्तेन । यथा च वेणीसंहारे द्रौपदीकेशसंयमनहेतुर्भीमक्रोधोपचित-युधिष्ठिरोत्साहो बीजमिति । तच्च महाकार्यावान्तरकार्यहेतुभेदाद-नेकप्रकारमिति ।

अवान्तरबीजस्य सञ्ज्ञान्तरमाह ।

अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम् ॥१६॥

यथा रत्नावल्यामवान्तरप्रयोजनानङ्गपूजापरिसमाप्तौ कथार्थविच्छेदे सत्यनन्तरकार्यहेतुरुदयनस्येन्दोरिवोद्दीक्षते । सागरिका । श्रुत्वा । [1]कहं एसो सो उदयणणरिन्दो जस्स अहं तादेण दिण्णेत्यादि । बिन्दुर्जले तैलबिन्दुवत् प्रसारित्वात् ।

इदानीं पताकाद्य प्रसङ्गाद् व्युत्क्रमोक्त‍मर्थमुपसंहरन्नाह ।

बीजबिन्दुपताकाख्य० ·· ··परिकीर्तिता ॥१७॥

अर्थप्रकृतय प्रयोजनसिद्धिहेतव ।

अन्यदवस्थापञ्चकमाह ।

अवस्था·पञ्च·· ···फलागमा ॥१८॥

यथोद्देश लक्षणमाह ।

औत्सुक्यमात्रमारम्भ फललाभाय भूयसे ।

इदमह सम्पादयामीत्यध्यवसायमात्रमारम्भ इत्युच्यते । यथा रत्नावल्याम् ।

प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतौ
दैवे चेत्य दत्तहस्तावलम्बे ।

इत्यादिना सचिवायत्तसिद्धेर्वत्सराजस्य कार्यारम्भो यौगन्धरायणमुखेन दर्शितः ।

अथ प्रयत्न ।

प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः ॥१९॥

तस्य फलस्याऽप्राप्तावुपाययोजनादिरूपश्चेष्टाविशेष प्रयत्नः । यथा रत्नावल्यामालेख्याभिलेखनादिर्वत्सराजसमागमोपाय । [2]तहावि णत्थि अण्णो दंसणउवाओ त्ति जहा तहा आलिहिअ जधा समीहिदं करिस्सं

---

१. कथं एष स उदयननरेन्द्रः यस्याहं तातेन दत्तेत्यादि ।

२. विदू० । तथापि नास्त्यन्यो दर्शनोपाय इति यथा तथा आलिख्य यथा समीहितं करिष्यामि ।

इत्यादिना प्रतिपादित ।

प्राप्त्याशामाह ।

उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः ।

उपायस्यापायशङ्कायाश्च भावादनिर्धारितैकान्ता फलप्राप्तिः प्राप्त्याशा । यथा रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के वेषपरिवर्ताभिसरणादौ समागमोपाये सति वासवदत्तालक्षणापायशङ्काया [1]एव जदि अआलवादालो विअ आअच्छिअ अण्णदो ण णइस्सदि वासवदत्ता इत्यादिना दर्शितत्वादनिर्धारितैकान्ता समागमप्राप्तिरुक्ता ।

नियताप्तिमाह ।

अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता ।

अपायाभावादवधारितैकान्ता फलप्राप्तिर्नियताप्तिरिति । यथा रत्नावल्यां विदूषकः । [2]सागरिआ दुक्करं जीविस्सदि इत्युपक्रम्य किं ण उपायं चिन्तेसि । इत्यनन्तरं राजा । वयस्य देवीप्रसादनं मुक्त्वा नाऽन्यमत्रोपायं पश्यामीत्यनन्तरशङ्कार्यबिन्दुनाऽनेन देवीलक्षणापायस्य प्रसादनेन निवारणान् नियता फलप्राप्तिः सूचिता ।

फलयोगमाह ।

समग्रफलसम्पत्तिः फलयोगो यथोदितः ॥२०॥

यथा रत्नावल्यां रत्नावलीलाभचक्रवर्तित्वावाप्तिरिति ।

सन्धिलक्षणमाह ।

अर्थप्रकृतयः ·····पञ्च सन्धयः ॥२१॥

अर्थप्रकृतीनां पञ्चानां यथासङ्ख्येनाऽवस्थाभिः पञ्चभिर्योगात् यथासङ्ख्येनैव वक्ष्यमाणा मुखाद्याः पञ्च सन्धयो जायन्ते ।

सन्धिसामान्यलक्षणमाह ।

अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति ।

एकेन प्रयोजनेनाऽन्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजनसम्बन्धः

---

१. एवं यदि अकालवातालीव आगत्यान्यतो न नेष्यति वासवदत्ता ।

२. सागरिका दुष्करं जीविष्यति इत्युपक्रम्य किं न उपायं चिन्तयसि ।

सन्धि ।

के पुनस्ते सन्धय ।

मुखप्रतिमुखे गर्भ सावमर्शोपसहृति ॥२२॥

यथोद्देश लक्षणमाह ।

मुख ' '''बीजारम्भसमन्वयात् ॥२३॥

बीजानामुत्पत्तिरनेकप्रयोजनस्य रसस्य च हेतुर्मुखसन्धिरिति व्याख्येयम् । तेनाऽत्रिवर्गफले प्रहसनादौ रसोत्पत्तिहेतोरेव बीजत्वमिति । अस्य च बीजारम्भार्थयुक्तानि द्वादशाङ्गानि भवन्ति । तान्याह ।

उपक्षेप '' लक्षणम् ॥२४॥

एतेषा स्वसञ्ज्ञाव्याख्यानानामपि सुखार्थं लक्षण क्रियते ।

बीजन्यास उपक्षेप.

यथा रत्नावल्या नेपथ्ये ।

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।

आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूत ॥

इत्यादिना यौगन्धरायणो वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुभूतमनुकूलदैव स्वव्यापार बीजत्वेनोपक्षिप्तवानित्युपक्षेप ।

परिकरमाह ।

तद्वाहुल्य परिक्रिया ।

यथा तत्रैव । अन्यथा क्व सिद्धादेशप्रत्ययप्रार्थिताया सिंहलेश्वरदुहितु समुद्रे प्रवहणभङ्गमग्नोत्थिताया फलकासादनमित्यादिना सर्वथा स्पृशन्ति स्वामिनमभ्युदया इत्यन्तेन बीजोत्पत्तेरेव बहूकरणात् परिकर ।

परिन्यासमाह ।

तन्निष्पत्ति परिन्यास

यथा तत्रैव ।

प्रारम्भेऽस्मिन् स्वामिनो वृद्धिहेतौ

दैवे चेत्थ दत्तहस्ते

सिद्धैर्भ्रान्त्विर्नाऽस्ति सत्य तथाऽपि
स्वेच्छाकारी भीत एवाऽस्मि भर्तुः ॥

इत्यनेन यौगन्धरायण स्वव्यापारदैवयोनिष्पत्तिमुक्तवानिति परिन्यासः ।

विलोभनमाह ।

गुणाख्यानाद् विलोभनम् ॥२५॥

यथा रत्नावल्याम् ।

अस्तापास्तसमस्तभासि नभस पारं प्रयाते रवा-
वास्थानीं समये समं नृपजन सायन्तने सम्पतन् ।
सम्प्रत्येष सरोरुहद्युतिमुष पादास्तवाऽऽसेवितु
प्रीत्युत्कर्षकृतो दृशामुदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते ॥

इति वैतालिकमुखेन चन्द्रतुल्यवत्सराजगुणवर्णनया सागरिकाया समागम-हेत्वनुरागबीजानुगुण्येनैव विलोभनाद् विलोभनमिति । यथा च वेणी-संहारे ।

मन्थायस्तार्णवाम्भ प्लुतकुहरचलन्मन्दरध्वानधीर
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसङ्घट्टचण्ड ।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवात
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम् ॥

इत्यादिना यशोदुन्दुभिरित्यन्तेन द्रौपद्या विलोभनाद् विलोभनमिति ।

अथ युक्ति ।

सम्प्रधारणमर्थाना युक्ति

यथा रत्नावल्या मयाऽपि चैना देवीहस्ते सबहुमान निक्षिपता युक्त-मेवानुष्ठितं कथितं च मया यथा बाभ्रव्य कञ्चुकी सिंहलेश्वरामात्येन वसुभूतिना सह कथ कथमपि समुद्रादुत्तीर्य कोशलोच्छित्तये गतस्य रुमण्वतो मिलित इत्यनेन सागरिकाया अन्तःपुरस्थाया वत्सराजस्य सुखेन दर्शनादि-प्रयोजनावधारणाद् बाभ्रव्यसिंहलेश्वरामात्ययो स्वनायकसमागमहेतु प्रयो-जनत्वेनावधारणाद् युक्तिरिति ।

तुम अज पराहीणे परिश्रणे मअणसवे सारिअ मोत्तूण इहागदा ता तहि ज्जेव गच्छ इत्युपक्रमे सागरिका स्वगत सारिआ दाव मए सुसङ्गदाए हत्थ समप्पिदा पेक्खिदु च मे कुतूहल ता अलक्खिआ पेक्खिस्समित्यनेन वासवदत्ताया रत्नावलीवत्सराजयोर्दर्शनप्रतीकारात् सारिकाया सुसङ्गतार्पणेन अलक्षितप्रेक्षणेन च वत्सराजसमागमहेतोर्बीजस्योपादानात् समाधानमिति। यथा च वेणीसहारे। भीम। भवतु पाञ्चालराजतनये श्रूयतामचिरेणैव कालेन।

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तसयिष्यति कचास्तव देवि! भीम॥

इत्यनेन वेणीसहारहेतो क्रोधबीजस्य पुनरुपादानात् समाधानम्।

अथ विधानम्।

विधान सुखदु खकृत् ॥२६॥

यथा मालतीमाधवे प्रथमेऽङ्के। माधव।

यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमानन तद्
आवृत्तवृत्तशतपत्रनिभ वहन्त्या।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढ निखात इव मे हृदये कटाक्ष॥
यद्विस्मयस्तिमितमस्तमितान्यभावम्
आनन्दमन्दममृतप्लवनादिवाऽभूत्।
तन्सन्निधौ तदधुना हृदय मदीयम्
अङ्गारचुम्बितमिव व्यथमानमास्ते॥

इत्यनेन मालत्यवलोकनस्याऽनुरागस्य समागमहेतोर्बीजानुगुण्येनैव माधवस्य

मदनोत्सवे सारिका मुक्त्वेहागता, तस्मात्तत्रैव गच्छ, इत्युपक्रमे सागरिका स्वगत सारिका तावन्मया सुसङ्गताया हस्ते समर्पिता प्रेक्षितु च मे कुतूहल तन् अलक्षिता प्रेक्षिष्ये।

सुखदुःखकारित्वाद् विधानमिति। यथा च वेणीसंहारे। द्रौपदी। [1]णाथ पुणोवि तुम्मेहिं ग्रह ग्राग्रच्छिग्र समासासिदव्वा। भीम।

ननु पाञ्चालराजतनये किमद्याप्यलीकाश्वासनया।
भूय परिभवक्लान्तिलज्जाविधुरितानन्म्।
ग्रनिःशेषितकौरव्य न पश्यसि वृकोदरम्॥

इति सङ्ग्रामस्य सुखदुःखहेतुत्वाद् विधानमिति।

ग्रथ परिभावना।

परिभावोद्भुतावेश

इति। यथा रत्नावल्याम्। सागरिका। दृष्ट्वा सविस्मयम्। [2]कथं पच्चक्खो ज्जेव ग्रणङ्गो यूय पडिच्छेदिता ग्रहपि इधट्ठिद ज्जेव्व ण पूजइस्स। इत्यनेन वत्सराजस्य ग्रनङ्गरूपतया ग्रपह्नवादनङ्गस्य च प्रत्यक्षस्य पूजाग्रहणस्य लोकोत्तरत्वादद्भुतरसावेश परिभावना। यथा च वेणीसंहारे। द्रौपदी। [3]किं दाणिं एसो पलग्रजलधरत्थणिदमसलो खणे खणे समरदुन्दुभी ताडीयदित्ति। इति लोकोत्तरसमरदुन्दुभिध्वनेर्विस्मयरसावेशाद् द्रौपद्या परिभावना।

ग्रथोद्भेद।

उद्भेदो गूढभेदनम्।

इति। यथा रत्नावल्या वत्सराजस्य कुसुमायुधव्यपदेशगूढस्य वैतालिकवचसा ग्रस्तापास्तेत्यादिनोदयनस्येत्यन्तेन बीजानुगुण्येनैवोद्भेदनादुद्भेद। यथा च वेणीसंहारे। ग्रार्य किमिदानीमध्यवस्यति गुरुरित्युपक्रमे। नेपथ्ये।

यत् सत्यव्रतभङ्गभीरुमनसा यत्नेन मन्दीकृत
यद् विस्मर्तुमपीहित शमवता शान्ति कुलस्येच्छता।

---

१. नाथ पुनरपि त्वयाहमागत्य समाश्वासयितव्या।
२. कथं प्रत्यक्ष एवानङ्ग यूयं प्रतिच्छेदिता ग्रहमपि इह स्थितैवैनं पूजयिष्यामीति।
३. किमिदानीमेष प्रलयजलधरस्तनितमासलः क्षणे क्षणे समरदुन्दुभिस्ताड्यते।

तद् यूनागणिप्रस्मृत नृपसुतावेशाम्बरावर्पणे
क्रोधज्योतिरिदं महत् कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते ॥

भीम । महर्षम् । जृम्भता सम्प्रत्यप्रतिहतमार्यस्य क्रोधज्योर्द्रेदनादुद्धेद ।

अथ करणम् ।

करणं प्रकृतारम्भो

यथा रत्नावल्याम् । [1]णमो दे कुसुमाउह ता अमोहदंसणो मे भविस्समि त्ति दिट्ठ ज पेक्खिदव्व ता जाव ण कोवि म पेक्खइ ता गमिस्स इत्यनेनाऽन्तराङ्कप्रकृतनिर्विघ्नदर्शनारम्भणात् करणम् । यथा च वेणीसंहारे । तत् पाञ्चालि गच्छामो वयमिदानीं कुरुकुलक्षयायेति । सहदेव । आर्य गच्छाम इदानीं गुरुजनानुज्ञाता विक्रमानुरूपमाचरितुमित्यनेनाऽन्तराङ्कप्रस्तूयमानसङ्ग्रामारम्भणात् करणमिति । सर्वत्र चेहोद्देशप्रतिनिर्देशवैषम्य क्रियाक्रमस्याऽविवक्षितत्वादिति ।

अथ भेदः ।

भेदः प्रोत्साहना मता ॥ २७ ॥

इति । यथा वेणीसंहारे । [2]णाध मा क्खु जण्सेणीपरिभवुद्दीविदकोवा अणवेक्खिदसरीरा परिक्कमिस्सध जदो अप्पमत्तसञ्चरणीयाइ सुणीयति रिउबलाईं । भीम । अयि सुक्षत्रिये ।

अन्योन्यास्फालभिन्नद्विपरुधिरवसामांद्रमस्तिष्कपङ्के
मग्नानां स्यन्दनानामुपरिकृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ ।
स्फीतासृक्पानगोष्ठीरसदशिवशिवातूर्यनृत्यत्कबन्धे
सङ्ग्रामैकार्णवान्तःपयसि विचरितुं पण्डिताः पाण्डुपुत्राः ॥

इत्यनेन विषण्णाया द्रौपद्या बीजोत्साहबीजानुगुण्येनैव प्रोत्साहनाद् भेद इति ।

---

१. नमस्ते कुसुमायुध तदमोघदर्शनो मे भविष्यसीति, दृष्टं यत् प्रेक्षितव्य तत् यावन्न कोऽपि मां प्रेक्षते तत् गमिष्यामीति ।

२ नाथ मा खलु याज्ञसेनीपरिभवोद्दीपितकोपा अनपेक्षितशरीराः परिक्रमिष्यथ यतोऽप्रमत्तसञ्चरणीयानि श्रूयन्ते रिपुबलानि ।

एतानि च द्वादशमुखाङ्गानि बीजारम्भद्योतकानि साक्षात् पारम्पर्येण वा विधेयानि। एतेषामुपक्षेपपरिकरपरिन्यासयुक्त्युद्भेदसमाधानानामवश्यं भावितेति।

अथ साङ्गं प्रतिमुखसन्धिमाह।

लक्ष्यालक्ष्य ··· ··प्रमोदनः ॥ २८ ॥

तस्य बीजस्य किञ्चिल्लक्ष्यः किञ्चिदलक्ष्य इवोद्भेदः प्रकाशनं तत् प्रतिमुखम्। यथा रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के वत्सराजसागरिकासमागमहेतोरनुरागबीजस्य प्रथमाङ्कोपक्षिप्तस्य सुसङ्गताविदूषकाभ्यां ज्ञायमानतया किञ्चिल्लक्ष्यस्य वासवदत्तया च चित्रफलकवृत्तान्तेन किञ्चिदुन्नीयमानस्य दृश्यादृश्यरूपतयोद्भेदः प्रतिमुखसन्धिरिति। वेणीसंहारेऽपि द्वितीयेऽङ्के भीष्मादिवधेन किञ्चिल्लक्ष्यस्य कर्णादिवधात् पाऽनवस्य क्रोधबीजस्योद्भेदः।

सहभृत्यगणं सबान्धवं सहमित्रं ससुतं सहानुजम्।
स्वबलेन निहन्ति संयुगे न चिरात् पाण्डुसुतः सुयोधनम्॥

इत्यादिभिः।

दुःशासनस्य हृदयक्षतजाम्बुपाने
दुर्योधनस्य च यथा गदयोरुभङ्गे।
तेजस्विनां समरमूर्धनि पाण्डवानां
ज्ञेया जयद्रथवधेऽपि तथा प्रतिज्ञा॥

इत्येवमादिभिश्चोद्भेदः प्रतिमुखसन्धिरिति। अस्य च पूर्वाङ्कोपक्षिप्तबिन्दुरूपबीजप्रयत्नार्थानुगतानि त्रयोदशाङ्गानि भवन्ति।

तान्याह।

विलासः ··· पर्युपासनम् ॥२९॥

यथा पुष्पमुपन्यासो वर्णसंहार इत्यपि।

यथोद्देशं लक्षणमाह।

रत्यर्थेहा ······ इमः ॥३०॥

धृतिहास्यवचो ··· निरोधनम् ॥३१॥

पर्युपास्तिरनुनय ···· इष्यते ॥३२॥

रत्यर्थेहेति । यथा रत्नावल्याम् । सागरिका । [1]हिअअ पसीद पसीद कि इमिणा आआसमेत्तफलेण दुल्लहजणप्पत्थणाणुबन्धेणेत्तु पक्कमे तहावि आलेक्खगद त जण कदुअ जधा समीहिद करिस्स । तहावि तस्स णत्थि अण्णो दसणोवाअत्ति इत्येनैर्वत्सराजसमागमरति चित्रादिजन्यामप्युद्दिश्य सागरिकायाश्चेष्टाप्रयत्नोऽनुरागबीजानुगतो विलास इति ।

अथ परिसर्प । दृष्टेति । यथा वेणीसहारे । कन्चुकी । योऽयमुद्यतेषु बलवत्सु अथवा कि बलवत्सु वासुदेवसहायेषु अरिषु अद्याऽप्यन्त पुरसुख-मनुभवति । इदमपरमयथायथ स्वामिन ।

आशस्त्रग्रहणादकुण्ठपरशोस्तस्यापि जेता मुने-
स्तापायास्य न पाण्डुसूनुभिरय भीष्म शरैः शायित ।
प्रौढानेकधनुर्धरारिविजयश्रान्तस्य चैकाकिनो
बालस्यायमरातिलूनधनुष प्रीतोऽभिमन्योर्वधात् ॥

इत्येनेन भीष्मादिवधे दृष्टस्याऽभिमन्युवधात् नष्टस्य बलवता पाण्डवाना वासुदेवसहायाना सङ्ग्रामलक्षणबिन्दुबीजप्रयत्नान्वयेन कन्चुकिमुखेन बीजानुसर्पण परिसर्प इति । यथा च रत्नावल्या सारिकावचनचित्रदर्श-नाम्या सागरिकानुरागबीजस्य दृष्टनष्टस्य क्वाऽसौक्वाऽसावित्यादिना वत्सराजेनाऽनुसरणात् परिसर्प इति ।

अथ विधूतम् । विधूतमिति । यथा रत्नावल्याम् । सागरिका । [2]सहि अहिअ मे सतावो बाधेदि । सुसङ्गता । दीर्घिकाता नलिनीदलानि मृणालिकाश्चानीयाऽस्या अङ्के ददाति । सागरिका । तानि क्षिपन्ती । [3]सहि अवणेहि एदाइ कि अआरणे अत्ताण आयासेसि ण भणामि ।

१ हृदय प्रसीद प्रसीद किमनेन आयासमात्रफलेन दुर्लभजनप्रार्थनानु-बन्धेन । तथापि आलेखगत त जन कृत्वा यथा समीहित करिष्यामि । तथापि तस्य नास्त्यन्यो दर्शनोपाय इति।

२ सखि अधिकं मे सन्तापो बाधते।

३. सखि अपनयैतानि कथमकारणमात्मानमायासयसि, ननु भणामि

[1]दुल्लहजणाणुराम्रो लज्जा गरुई परव्वसो अ्रप्पा ।
पिअसहि विसम पेम्म मरण सरण णवर एक्क ॥

इत्यनेन सागरिकाया बीजान्वयेन शीतोपचारविधूननाद् विधूतम् । यथा च वेणीसहारे भानुमत्या दु स्वप्नदर्शनेन दुर्योधनस्याऽनिष्टशङ्कया पाण्डवविजयशङ्कया वा रतेर्विधूननमिति ।

अथ शम । तच्छम इति । तस्या अरतेरुपशम शम । यथा रत्नावल्याम् । राजा । वयस्याऽनया लिखितोऽहमिति यत् सत्यमात्मन्यपि मे बहुमानस्तत कथ न पश्यामीति प्रक्रमे । सागरिका । आत्मगतम् । [2]हिअ्रअ समस्सस मणोरहो वि दे एत्तिअ भूमि ण गदो इति किंचिदरत्युपशमात् शम इति ।

अथ नर्म । परिहासवच इति । यथा रत्नावल्याम् । सुसगता । [3]सहि जस्स कए तुम आअदा सो अअ पुरदो चिट्ठदि । सागरिका । सासूयम् सुसङ्गदे कस्स कए अह आअदा । सुसङ्गता । अइ अप्पसङ्किदे ण चित्तफलअस्सता गेण्ह एदमित्यनेन बीजान्वित परिहासवचन नर्म । यथा च वेणीसहारे दुर्योधन । चेटीहस्तादर्घपात्रमादाय देव्या समर्पयति । पुनर्भानुमती अर्घं दत्वा । [4]हला उवणेहि मे कसुमाइ जाव अवराए वि देवाण सवरिअ णिवत्तेमि हस्तौ प्रसारयति । दुर्योधन । पुष्पाण्युपनयति । भानुमत्यास्तत्स्पर्शजातकम्पाया हस्तात् पुष्पाणि पतन्तीत्यनेन नर्मणा दु स्वप्नदर्शनोपशमार्थ देवतापूजाविघ्नकारिणा बीजोद्घाटनात् परिहासय

१. दुर्लभजनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा ।
प्रियसखि विषम प्रेम मरण शरण केवलमेकम् ।

२ हृदय समाश्वसिहि, मनोरथोऽपि ते एतावतीं भूमि न गत इति ।

३. सखि यस्य कृते त्वमागता सोऽय पुरतस्तिष्ठति । सागरिका सासूयं सुसङ्गते कस्य कृतेऽहमागता ? अयि आत्मशङ्किते ननु चित्रफलकस्य सद्गृहाणैतदिति ।

४. हला उपनय मे कुसुमानि यावदपरेषामपि देवानां सपर्यां निवर्तयामि ।

प्रतिमुखाङ्गत्वं युक्तमिति ।

अथ नर्मद्युति । धृतिर्गिरिति । यथा रत्नावल्याम् । सुसंगता । [1]सहि अदिक्खिणट्ठुरा दाणि सि तुमं जा एवं पि भट्टिणा हत्थावलम्बिदा कोवं ण मुञ्चसि । सागरिका । सभ्रूभङ्गमीषद्विहस्य । सुसङ्गदे दाणिं पि ण विरमसी यनेनानुरागबीजोद्घाटनान्वेन धृतिर्नर्मजा द्युतिरिति दर्शितमिति ।

अथ प्रगयणम् । उत्तरेति । यथा रत्नावल्याम् । विदूषकः । [2]भो वअस्स दिट्ठिआ वड्ढसे । राजा । सकौतुकम् । वयस्य किमेतत् । विदूषकः । [3]भो एदं क्खु तं जं मए भणिदं तुमं एव्व आलिहिदो को अण्णो कुसुमाउहव्ववदेसेण णिण्हवीअदीत्यादिना ।

परिच्युतस्तत्कुचकुम्भमध्यात्
किं शोषमायासि मृणालहार ।
न सूक्ष्मतन्तोरपि तावकस्य
तत्राऽवकाशो भवतः किमु स्यात् ॥

इत्यनेन राजविदूषकसागरिकासुसङ्गतानामन्योन्यवचनेनोत्तरोत्तरानुरागबीजोद्घाटनात् प्रगयणमिति ।

अथ निरोध । हितरोध इति । यथा रत्नावल्याम् । राजा धिङ्मूर्ख ।

प्राप्ता कथमपि दैवात् कण्ठमनीतैव सा प्रकटरागा ।
रत्नावलीव कान्ता मम हस्ताद् भ्रंशिता भवता ॥

इत्यनेन वत्सराजस्य सागरिकासमागमरूपहितस्य वासवदत्ताप्रवेशसूचकेन विदूषकवचसा निरोधान् निरोधनमिति ।

अथ पर्युपासनम् । पर्युपास्तिरिति । यथा रत्नावल्याम् राजा ।

---

१ सहि प्रतिनिष्ठुरासीदानीं त्वं या एवमपि भर्त्रा हस्तावलम्बिता कोपं न मुञ्चसि । सागरिका । सभ्रूभङ्गमीषद्विहस्य सुसङ्गते इदानीमपि न विरमसि ।

२ भो वयस्य दिष्ट्या वर्धसे ।

३ भो एतत् खलु तत् यन्मया भणितं त्वमेव आलिखितः । कोऽन्यः कुसुमायुधव्यपदेशेन निह्नूयते ।

प्रसीदेति ब्रूयामिदमसति कोपे न घटते
करिष्याम्येवं नो पुनरिति भवेदभ्युपगमः ।
न मे दोषोऽस्तीति त्वमिदमपि हि ज्ञास्यसि मृषा
किमेतस्मिन् वक्तुं क्षममिति न वेद्मि प्रियतम ॥

इत्यनेन चित्रगतयोर्नायिकयोर्दर्शनात् कुपिताया वासवदत्ताया अनुनयन नायक-योरनुरागोद्घाटनान्वयेन पर्युपासनमिति ।

अथ पुष्पम् । पुष्पमिति । यथा रत्नावल्याम् । राजा । सागरिका हस्ते गृहीत्वा स्पर्शं नाटयति । विदूषकः । [1]भो एसा अपुव्वा सिरी तए समासादिदा । राजा । वयस्य [1] सत्यम् ।

श्रीरेषा पाणिरप्यस्याः पारिजातस्य पल्लवः ।
कुतोऽन्यथा स्रवत्येष स्वेदच्छद्मामृतद्रवः ॥

इत्यनेन नायकयोः साक्षादन्योन्यदर्शनादिना सविशेषानुरागोद्घाटनात् पुष्पम् ।

अथोपन्यासः । उपन्यास इति । यथा रत्नावल्याम् । सुसंगता । [2]भट्टा अलं सङ्काए मएवि भट्टिणो पसाएण कीलिदं एव्व ता किं कण्णाभरणेण अदोवि मे गरुओ पसाओ जं कीस तए अहं एत्थ आलिहिदत्ति कुविआ मे पिअसही साअरिआ ता पसादीअदु इत्यनेन सुसंगतावचसा सागरिका मया लिखिता सागरिकया च त्वमिति सूचयता प्रसादोपन्यासेन बीजोद्भेदा-दुपन्यास इति ।

अथ वज्रम् । वज्रमिति । यथा रत्नावल्याम् । वासवदत्ता । फलकं निर्दिश्य । [3]अज्जउत्त एसावि जा तुह समीवे एदं किं वसन्तअस्स विणाणं ।

---

१. भो एषा अपूर्वा श्रीः त्वया समासादिता ।

२. भर्तः अलं शङ्कया मयापि भर्तुः प्रसादेन क्रीडितमेव तत् किं कर्णाभरणेन । अतोऽपि मे गुरुः प्रसादः यत् कथं त्वयाहमत्रालिखितेति कुपिता मे प्रियसखी सागरिका तत् प्रसाद्यताम् ।

३. आर्यपुत्र एषापि या तव समीपे । एतत् किं वसन्तकस्य विज्ञानम् । आर्यपुत्र ममापि एतत् चित्रकर्म पश्यन्त्या शीर्षवेदना समुत्पन्ना ।

पुन ग्रज्जउत्त ममावि एद चित्तवम्प पेक्खन्तीए सीसवेग्रणासमुप्पण्णा इत्यनेन वासवदत्तया वत्सराजस्य सागरिकानुरागोद्भेदनात् प्रमक्तनिष्ठुरनिधान वचमिति ।

ग्रथ वर्णसंहार । चातुर्वर्ण्येति । यथा वीरचरिते तृतीयोऽङ्के ।

परिपदियमृषीणामेप वृद्धो युधाजित्
सह नृपतिरमात्यैर्लोमपादश्च वृद्ध ।
ग्रयमविरतयज्ञो ब्रह्मवादी पुराण
प्रभुरपि जनकानामद्रुहो याचकस्ते ।।

इत्यनेन ऋषिक्षत्रियामात्यादीना सङ्गताना वर्णाना वचसा रामविजयाशंसिन परशुरामदुर्णयस्याद्रोहमान्वाहारेणोद्भेदनाद् वर्णसंहार इति ।

एतानि च त्रयोदश प्रतिमुखाङ्गानि मुखसन्ध्युपक्षिप्त विन्दुलक्षणावान्तरबीजमहाबीजप्रयत्नानुगतानि विधेयानि । एतेषा च मध्ये परिसर्पप्रशमवचोपन्यासपुष्पाणा प्राधान्यम् । इतरेषा यथासम्भव प्रयोग इति ।

ग्रथ गर्भसन्धिमाह ।

गर्भस्तु······प्राप्तिसम्भवः ।।३३।।

प्रतिमुखसन्धौ लक्ष्यालक्ष्यरूपतया स्तोकोद्भिन्नस्य बीजस्य सविशेषोद्भेदपूर्वक सान्तरायो लाभः पुनर्विच्छेदः पुन प्राप्ति पुनर्विच्छेद पुनश्च तस्यैवान्वेपण वारवार सोऽनिर्धारितैकान्तफलप्राप्त्याशात्मको गर्भसन्धिरिति । तत्र चौत्सर्गिकत्वेन प्राप्ताया पताकाया अनियम दर्शयति । पताका स्यान् नवेत्यनेन । प्राप्तिसम्भवस्तु स्यादेवेति दर्शयति । स्यादिति । यथा रत्नावल्या तृतीयेऽङ्के वत्सराजस्य वासवदत्तालक्षणापायेन तद्वेपपरिग्रहसागरिकाभिसरणोपायेन च विदूषकवचसा सागरिकाप्राप्त्याशा प्रथम पुनर्वासवदत्तयाविच्छेद पुन प्राप्ति पुनर्विच्छेदः पुनरपायनिवारणोपायान्वेषण नाऽस्ति देवीप्रसादन मुक्त्वान्य उपाय इत्यनेन दर्शितमिति । स च द्वादशाङ्गो भवति ।

तान्युद्दिशति ।

अभूताहरण ' तथा ॥३४॥
उद्वेगसम्भ्रमाक्षेपा लक्षरण च प्रणीयते ।

इति । यथोद्देश लक्षणमाह ।

अभूताहरण छद्म

इति । यथा रत्नावल्याम् । [1]साधु रे अमच्च वसन्तअ साधु । अदि सइदो तए अमच्चो जोगन्धरायणो इमाए सन्धिविग्गहचिन्ताए इत्यादिना प्रवेशकेन गृहीतवासवदत्तावेषाया सागरिकाया वत्सराजाभिसरण छद्म विदूषकसुसङ्गतावलम्बकाञ्चनमालानुवादद्वारेण दर्शितमित्यभूताहरणम् ।

अथ मार्ग ।

मार्गस्तत्त्वार्थकीर्तनम् ॥३५॥

इति । यथा रत्नावल्याम् । विदूषक । [2]दिट्ठिआ वड्ढसि समीहिद अभधिआए कज्जसिद्धीए । राजा । वयस्य कुशल प्रियाया । विदूषक । [3]अइरेण सअ ज्जेव्व पेक्खिअ जाणिहिसि । राजा । दर्शनमपि भविष्यति । विदूषक । सगर्वम् । [4]कीस ण भविस्सदि जस्स दे उहसिदविहप्फ दिबुद्धिविहवो अह अमच्चो । राजा । तथापि कथमिति श्रोतुमिच्छामि । विदूषक । कर्णे कथयत्येवमित्यनेन यथा विदूषकेण सागरिकासमागम सूचित: तथैव निश्चितरूपो राज्ञ निवेदित इति तत्त्वार्थकथनात् मार्ग इति ।

अथ रूपम् ।

रूप वितर्कवद् वाक्य

इति । यथा रत्नावल्याम् । राजा अहो किमपि कामिजनस्य स्वगृहिणी समागमपरिभाविनोऽभिनव जन प्रति पक्षपात । तथाहि ।

---

१. साधु रे अमात्य वसन्तक ! साधु । अतिशयितस्त्वयामात्यो यौगन्धरायणोऽनया सन्धिविग्रहचिन्तया ।
२ दिष्ट्या वर्धसे समीहिताभ्यधिकया कार्यसिद्ध्या ।
३ अचिरेण स्वयमेव प्रेक्ष्य ज्ञास्यसि ।
४ कथ न भविष्यति यस्य ते उपहसितबृहस्पतिबुद्धिविभवोऽहममात्य ।

प्रणयविशदां दृष्टिं वक्त्रे ददाति न शङ्किता
घटयति घनं कण्ठाश्लेषे रसान्न पयोधरौ ।
वदति बहुशो गच्छामीति प्रयत्नधृताप्यहो
रमयतितरां सङ्केतस्था तथापि हि कामिनी ॥

इत्यत्र विरमति वचनान्तरे । किन्तु खलु विदितः स्यादयं वृत्तान्तो देव्या इत्यनेन रत्नावलीसमागमप्राप्त्यानुगुण्येनैव देवीशङ्कायाश्च वितर्काद् रूपमिति ।

अथोदाहरणम् ।

सोत्कर्षं स्यादुदाहृतिः ।

इति । यथा रत्नावल्याम् । विदूषकः । (सहर्षम्) । ही ही[1] भो कोसम्बीरज्जलाहेणावि ण तादिसो वअस्सस्स परितोसो आसि यादिसो मम सआसादो पिअवअणं सुणिअ भविस्सदि त्ति तक्केमीत्यनेन रत्नावलीप्राप्तिवार्तायाः कौशाम्बीराज्यलाभादतिरिच्यत इत्युत्कर्षाभिधानादुदाहृतिरिति ।

अथ क्रमः ।

क्रमः सञ्चिन्त्यमानाप्तिः

इति । यथा रत्नावल्याम् । राजा । उपनतप्रियासमागमोत्सवस्यापि मे किमिदमत्यर्थमुत्ताम्यति चेतः । अथवा ।

तीव्रः स्मरसन्तापो न तथादौ बाधते यथासन्ने ।
तपति प्रावृषि सुतरामभ्यर्णजलागमो दिवसः ॥

इति विदूषकः । (आकर्ण्य ।)[2] भोदि सागरिए एसो पिअवअस्सो तुमं ज्जेव उद्दिसिअ उक्कण्ठाणिब्भरं मन्तेदि ता णिवेदेमि से तुह आअमणं इत्यनेन वत्सराजस्य सागरिकासमागममभिलषत एव भावितत्प्राप्तिरिति क्रमः ।

अथ मतान्तरे मतभेदेन ।

---

१ भो कौशाम्बीराज्यलाभेनापि न तादृशो वयस्यस्य परितोष आसीद् यादृशो मम सकाशात् प्रियवचनं श्रुत्वा भविष्यतीति तर्कयामि ।

२. भवति सागरिके एष प्रियवयस्यः त्वामेवोद्दिश्य उत्कण्ठानिर्भरं मन्त्रयति तन्निवेदयाम्यस्मै तवागमनम् ।

भावतानमयाऽपरे ॥३६॥

इति । यथा रत्नावल्याम् । राजा । उपसृत्य । प्रिये सागरिके ॥

शीतांशुर्मुखमुत्पले तव दृशौ पद्मानुकारौ करौ
रम्भागर्भनिभं तवोरुयुगलं बाहू मृणालोपमौ ।
इत्याह्लादकराखिलाङ्गि रभसान् निःशङ्कमालिङ्ग्य माम् ।
अङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्येहि निर्वापय ॥

इत्यादिना इह तदप्यस्त्येव बिम्बाधर इत्यन्तेन वासवदत्तया वत्सराजभावस्य ज्ञातत्वात् क्रमान्तरमिति ।

अथ सङ्ग्रहः ।

सङ्ग्रहः सामदानोक्तिर्

इति । यथा रत्नावल्याम् । साधु वयस्य साधु इदं ते पारितोषिकं कटकं ददामीत्याभ्यां सामदानाभ्यां विदूषकस्य सागरिकासमागमकारिणः सङ्ग्रहात् सङ्ग्रह इति ।

अथाऽनुमानम् ।

अभ्यूहो लिङ्गतोऽनुमा ।

यथा रत्नावल्याम् । राजा । धिङ् मूर्ख ! त्वत्कृत एवाऽयमापतितोऽस्माकमनर्थः । कुतः ।

समारूढा प्रीतिः प्रणयबहुमानात् प्रतिदिनं
व्यलीकं वीक्ष्येदं कृतमकृतपूर्वं खलु मया ।
प्रिया मुञ्चत्यद्य स्फुटमसहनाजीवितमसौ
प्रकृष्टस्य प्रेम्णः स्खलितमविषह्यं हि भवति ॥

विदूषकः । भो[१] वअस्स वासवदत्ता किं करइस्सदि त्ति ण आणामि । सागरिआ उण दुक्करं जीविस्सदि त्ति तक्केमि इत्यत्र प्रकृष्टप्रेमस्खलनेन सागरिकानुरागजन्यां वासवदत्ताया मरणाभ्यूहनमनुमानमिति ।

अथाऽधिबलम् ।

---

१ भो वयस्य वासवदत्ता किं करिष्यतीति न जानामि । सागरिका पुनर्दुष्करं जीविष्यतीति तर्कयामि ।

मानावनतामननयामि विलक्ष एव
लाक्षाकृता चरणयोस्तव देवि ! मूर्ध्ना ।
कोपोपरागजनिता तु मुखेन्दुबिम्बे
हर्तुं क्षमो यदि पर करुणा मयि स्यात् ॥
सरम्भवचन यत्तु तोटक तदुदाहृतम् ।

यथा रत्नावल्याम् । राजा । प्रिये वासवदत्ते ! प्रसीद प्रसीद । वासवदत्ता । अश्रूणि वारयन्ती । [1]अज्जउत्त ! मा एव्व भण अण्णसङ्कन्ताइ क्खु एदाइँ अक्खराइ त्ति । यथा च वेणीसहारे । राजा । भये सुन्दरक ! कच्चित् कुशलमङ्गराजस्य । पुरुष । कुसल [2] सरीरमेत्तकेण । राजा । किं तस्य किरीटिना हता धौरेया । क्षत सारथि । भग्नो वा रथ । पुरुष । [3]देव ! ण भग्गो रहो भग्गो से मणोरहो । राजा । ससम्भ्रमम् । कथमित्येवमादिना सरम्भवचसा तोटकमिति ।

अथोद्वेग ।

उद्वेगोऽरिकृता भीति

यथा रत्नावल्याम् । सागरिका । आत्मगतम् । [4]कह अकिदपुण्णेहिं अत्तणो इच्छाए मरिउं पि ण पारीअदि । इत्यनेन वासवदत्ताकारिकायाः भयमित्युद्वेगः । या हि यस्यापकारी स तस्यारि । यथा च वेणीसहारे । सूत । श्रुत्वा सभयम् । कथमासन्न एवाऽसौ कौरवराजपुत्रमहावनोत्पातमारुतो मारुतिरनुपलब्धसञ्ज्ञश्च महाराज । भवतु दूरमपहरामि स्यन्दनम् । कदाचिदयमनार्यो दुःशासन इवाऽस्मिन्नप्यनार्यमाचरिष्यतीति परिकृता भीतिरुद्वेग ।

अथ सम्भ्रम ।

शङ्कात्रासौ च सम्भ्रम ।

---

१ आर्यपुत्र ! मैव भण अन्यसङ्क्रान्तानि खलु एतान्यक्षराणीति ।
२. कुशल शरीरमात्रकेण ।
३. देव न भग्नो रथ, भग्नोऽस्य मनोरथ ।
४. कथमकृतपुण्यैरात्मन इच्छया मर्तुमपि न शक्यते ।

यथा रत्नावल्याम् । विदूषकः । पश्यन् । 'का उण एसा । ससम्भ्रमम् । अध देवी वासवदत्ता अत्ताणं वावादेदि । राजा । ससम्भ्रममुपसर्पन् । क्वासौ क्वासाविति अनेन वासवदत्तानुद्विग्नगृहीतया सागरिकाया मरणशङ्कया सम्भ्रम इति । यथा च वेणीसंहारे । नेपथ्ये कलकल । अश्वत्थामा । ससम्भ्रमम् । मातुल ! मातुल ! कष्टम् एष भ्रातु प्रतिज्ञाभङ्गभीरु किरीटी सम समरवर्द्दुर्योधनराधेयावभिद्रवति । सर्वथा पीत शोणित दु शासनस्य भीमेनेत्याशङ्का । तथा प्रविश्य सम्भ्रान्त सप्रहारः सूत । आयता आयता कुमार इति आग । इत्येताभ्या त्रासशङ्काभ्या दु शासनद्रोणवधसूचकाभ्या पाण्डवविजयप्राप्त्याशान्वित सम्भ्रम इति ।

अथाऽऽक्षेप ।

गर्भबीजसमुद्भेदादाक्षेप परिकीर्तित ॥३८॥

यथा रत्नावल्याम् । राजा । वयस्य देवीप्रसादन मुक्त्वा नाऽन्यमत्रोपाय पश्यामि । पुन रमान्तरे सर्वथा देवीप्रसादन प्रति निष्प्रत्याशीभूताः स्म । एतत्तत् किमिह स्थितेन देवीमेव गत्वा प्रसादयामीत्यनेन देवीप्रसादायत्ता सागरिकासमागमसिद्धिरिति गर्भबीजोद्भेदादाक्षेप । यथा च वेणीसंहारे । सुन्दरक । 'अहवा किमेत्थ देव्व उआलहामि तस्स क्खु एद णिब्भच्छिदविदुरवअणबीअस्स परिभूदपिदामहहिदोवदेसङ्कुरस्स सउणिप्पोच्छाहणारूढमूलस्स कूडविससाहिणो पञ्चालीकेसग्गहणकुसुमस्स फल परिणमदि । इत्यनेन बीजमेव फलोन्मुखतयाऽऽक्षिप्यत इत्यप्याक्षेप ।

एतानि द्वादश गर्भाङ्गानि प्राप्त्याशाप्रदर्शकत्वेनोपनिबन्धनीयान्येषा च मध्ये अभूताहरणमार्गतोटकाधिबलाक्षेपाणा प्राधान्यम् । इतरेषा यथासम्भव प्रयोग इति शाङ्गो गर्भसन्धिरुक्त ।

अथाऽवमर्शः ।

क्रोधेनाऽवमृशेद् ''' सोऽवमर्शोऽङ्गसंग्रहः ॥३९॥

अवमर्शनमवमर्शः पर्यालोचनम्। तच्च क्रोधेन वा व्यसनाद् वा विलोभनेन वा भवितव्यमनेनार्थेनेत्यवधारितैकान्तफलप्राप्त्यवसायात्मा गर्भसन्धिद्भिन्नबीजार्थसम्बन्धो विमर्शोऽवमर्शः। यथा रत्नावल्या चतुर्थेऽङ्के। अग्निविद्रवपर्यन्तो वासवदत्ताप्रसक्त्या निरपायरत्नावली प्राप्त्यवसायात्मा विमर्शो दर्शित। यथा च वेणीसंहारे। दुर्योधन-रुधिराक्तभीमसेनागमपर्यन्त।

तीर्णे भीष्ममहोदधौ कथमपि द्रोणानले निर्वृते
कर्णाशीविषभोगिनि प्रशमिते शल्येऽपि याते दिवम्।
भीमेन प्रियसाहसेन रभसादल्पावशेषे जये
सर्वे जीवितसंशयं वयममी वाचा समारोपिता॥

इत्यत्र स्वल्पावशेषे जय इत्यादिभिर्विजयप्रत्याशसमस्तभीष्मादिमहारथ वधादवधारितैकान्तविजयावमर्शनादवमर्शोन दर्शितमित्यवमर्शसन्धि।

तस्याऽङ्गसंग्रहमाह।

तत्रा० ' त्रयोदश ॥४०॥

यथोद्देश लक्षणमाह।

दोषप्रख्याऽपवाद स्यात्

यथा रत्नावल्याम्। सुसंगता। [1]सा खु तवस्सिणी भट्टिणीए उज्जइणिं णीअदित्ति पवादं करिअ उवस्थिदे अद्धरत्ते ण आणीअदि कहिँपि णीदेत्ति। विदूषकः। सोद्वेगम्। [2]अदिणिग्घिण क्खु कदं देवीए। पुन। भो वअस्स मा खु अण्णधा सम्भावेहि। सा खु देवीए उज्जइणीए पेसिदा। अदो अप्पिअं त्ति कहिदं। राजा। अहो निरनुरोधा

१. सा खलु तपस्विनी भट्टारिकया उज्जयिनीं नीयत इति प्रवादं कृत्वा उपस्थितेऽर्धरात्रे नानीयते कुत्रापि नीतेति।

२. अतिनिर्घृणं खलु कृतं देव्या। भो वयस्य मा खलु अन्यथा सम्भावय। सा खलु देव्या उज्जयिन्यां प्रेषिता। अतोऽप्रियमिति कथितम्।

मयि देवीदर्शनेन वासवदत्तादोषप्रख्यापनादपवाद । यथा च वेणीसंहारे।
युधिष्ठिर । पाञ्चालक कच्चिदासादिता तस्य दुरात्मन कौरवापसदस्य
पदवी। पाञ्चालकः। न केवल पदवी स एव दुरात्मा देवीकेशपाश-
स्पर्शपातक-प्रधान-हेतुरुपलब्ध इति दुर्योधनस्य दोषप्रख्यापनादपवाद इति।

अथ सम्फेट ।

सम्फेटो रोषभाषणम् ।

इति। यथा वेणीसंहारे। भो कौरवराज कृत बन्धुनाशदर्शनमन्युना
मैव विषाद कृथा । पर्याप्ता पाण्डवा समराधाहमसहाय इति।

पञ्चाना मन्यसेऽस्माक य सुयोध सुयोधन ।
दशितस्यात्तशस्त्रस्य तेन तेऽस्तु रणोत्सव. ।।

इत्य श्रुत्वाऽसूयासिवा विक्षिप्य कुमारयोर्दिष्टिमुक्तवान् धार्तराष्ट्र ।

कर्णदु शासनवधात् तुल्यावेव युवा मम ।
अप्रियोऽपि प्रियो योद्धु त्वमेव प्रियसाहसः ॥

इत्युत्थाय च परस्परक्रोधाधिक्षेपपरुषवाक्कलहप्रस्तावित घोरसङ्ग्रामा-
विष्करणेन भीमदुर्योधनयोरन्योन्यरोषसम्भाषणाद् विजयबीजान्वयेन
सम्फेट इति।

अथ विद्रव ।

विद्रवो वधबन्धादिर्

यथा छलितरामे।

येनाऽऽवृत्य मुखानि साम पठतामत्यन्तमायासित
बाल्ये येन हृताक्षसूत्रवलयप्रत्यर्पणै क्रीडितम्।
युष्माक हृदय स एष विशिखैरापूरितासस्थलो
मूर्च्छाघोरतमःप्रवेशविवशो बध्वा लवो नीयते ॥

यथा च रत्नावल्याम्।

हर्म्याणा हेमशृङ्गश्रियमिव शिखरैरर्चिषामादधान
सान्द्रोद्यानद्रुमाग्रग्लपनपिशुनितात्यन्ततीव्राभितापः ।

भुवन् क्रीडामहीध्रं सजलजलधरश्यामलं धूमपातैर्
एष प्लोषार्तयोषिज्जन इह सहसैवोत्थितोऽन्तःपुरेऽग्नि ॥

इत्यादि । पुनर्वासवदत्ता । [1]अज्जउत्त ण क्खु अहं अत्तणो कारणादो भणामि । एसा मए णिग्घिणहिअआए सञ्जदा सागरिआ विवज्जदि इत्यनेन सागरिकावधबन्धाग्निभिर्विद्रव इति ।

अथ द्रवः ।

द्रवो गुरुतिरस्कृतिः ॥४१॥

इति । यथोत्तररामचरिते ।

वृद्धास्तेन विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु हुं वर्तते
सुन्दस्त्रीदमनेऽप्यखण्डयशसो लोके महान्तो हि ते ।
यानि त्रीण्यकुतोमुखान्यपि पदान्यासन् खरायोधने
यद् वा कौशलमिन्द्रसूनुदमने तत्राप्यभिज्ञो जनः ॥

इत्यनेन लवो रामस्य गुरोस्तिरस्कारं कृतवानिति द्रवः । यथा च वेणीसंहारे । युधिष्ठिरः । भगवन् कृष्णाग्रज सुभद्राभ्रातः ।

ज्ञातिप्रीतिर्मनसि न कृता क्षत्रियाणां न धर्मो
रूढं सख्यं तदपि गणितं नानुजस्यार्जुनेन ।
तुल्यः कामं भवतु भवतः शिष्ययोः स्नेहबन्धः
कोऽयं पन्था यदसि विगुणो मन्दभाग्ये मयीत्थम् ।

इत्यादिना बलभद्रं गुरुं युधिष्ठिरस्तिरस्कृतवानिति द्रवः ।

अथ शक्तिः ।

विरोधशमनं शक्तिस्

इति । यथा रत्नावल्याम् । राजा ।

सव्याजैः शपथैः प्रियेण वचसा चित्तानुवृत्त्याधिकं
वैलक्ष्येण परेण पादपतनैर्वाक्यैः सखीनां मुहुः ।

---

1. आर्यपुत्र न खलु अहमात्मनः कारणाद् भणामि । एषा मया निर्घृणहृदयया संयता सागरिका विपद्यते ।

प्रत्यासत्तिमुपागता न हि तथा देवी रुदन्त्या यथा
प्रक्षाल्येव तयैव बाष्पसलिलैः कोपोऽपनीतः स्वयम् ॥

इत्यनेन सागरिकालाभविरोधिवासवदत्ताकोपोपशमनात् शक्तिः ।
यथा चोत्तररामचरिते । लव प्राह ।

विरोधो विश्रान्तः प्रसरति रसो निर्वृतिघनम्
तदौद्धत्यं क्वापि व्रजति विनयः प्रह्वयति माम् ।
झटित्यस्मिन् दृष्टे किमपि परवानस्मि यदि वा
महार्घस्तीर्थानामिव हि महतां कोऽप्यतिशयः ॥

अथ द्युतिः ।

तर्जनोद्वेजने द्युतिः ।

यथा वेणीसंहारे । एतच्च वचनमुपश्रुत्य रामानुजस्य सकलनिकुञ्ज-
पूरिताशानिरिक्षतमुद्भ्रान्तसलिलचरन्तसङ्कुलं त्रासोद्वृत्तनक्राहमा-
लोड्य सरः सलिलं भैरवं च गर्जित्वा कुमारवृकोदरेणाऽभिहितम् ।

जन्मेन्दोरमले कुले व्यपदिशस्यद्यापि धत्से गदा
मां दुःशासनकोष्णशोणितसुराक्षीबं रिपुं भाषसे ।
दर्पान्धो मधुकैटभद्विषि हरावप्युद्धतं चेष्टसे
मत्त्रासान् नृपशो विहाय समरं पङ्केऽधुना लीयसे ॥

इत्यादिना त्यक्तोत्थितः सरःसमित्यनेन दुर्वचनप्लावलोडनाभ्यां दुर्योधन-
तर्जनोद्वेजनकारिभ्यां पाण्डवविजयानुकूलदुर्योधनोत्थापनहेतुभ्यां भीमस्य
द्युतिरुक्ता ।

अथ प्रसंगः ।

गुरुकीर्तनं प्रसङ्गः

इति । यथा रत्नावल्याम् । देव याऽसौ सिंहलेश्वरेण स्वदुहिता रत्नावली
नामाऽऽयुष्मती वासवदत्ता दग्धामुपश्रुत्य देवाय पूर्वप्रार्थिता सती प्रति-
दत्तेत्यनेन रत्नावल्या लाभानुकूलाभिजनप्रकाशिना प्रसगाद् गुरुकीर्तनेन
प्रसंगः । तथा मृच्छकटिकायाम् । चाण्डालकः । [1]एस सागलदत्तस्स सुओ

[1] एष सागरदत्तस्य सुतः आर्यविनयदत्तस्य नप्ता चारुदत्तो व्यापा-

मज्जविणदत्तस्स णत्तू चालुदत्तो वावादिदु वज्झट्ठाण णीम्रदि । एदेण किल गणिग्रा वसन्तसेणा सुवण्णलोभेण वावादिदत्ति । चारुदत्त. ।

मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भासितं यत्
सदसि निविडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्ताद् ।
मम निधनदशायां वर्तमानस्य पापैस्
तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम् ॥

इत्यनेन चारुदत्तवधाभ्युदयानुकूलं प्रसंगाद् गुरुवृत्तकीर्तनमितिप्रसंग ।

अथ छलनम् ।

छलनं चाऽवमाननम् ॥४२॥

यथा रत्नावल्याम् । राजा । अहो निरनुरोधा मयि देवीत्यनेन वासवदत्तया इष्टासम्पादनाद् वत्सराजस्याऽवमाननाच् छलनम् । यथा च रामाभ्युदये सीतायाः परित्यागेनाऽवमाननाच् छलनमिति ।

अथ व्यवसाय ।

व्यवसायः स्वशक्त्युक्तिः

यथा रत्नावल्याम् । ऐन्द्रिजालिक ।

[२]कि धरणीए मिग्रङ्को ग्रा ग्रासे महिहरो जले जलणो ।
मज्झण्हम्मि पग्रोसो • दाविज्जउ देहि ग्राणत्ति ॥

ग्रहवा कि वहुणा जम्पिएण ।

मज्झ पइण्णा एसा भणामि हिग्रएण ज महसि दट्ठु ।
त ते दावेमि फुड गुरुणो मन्तप्पहावेण ॥

वयितुं बध्यस्थानं नीयते । एतेन किल गणिका वसन्तसेना सुवर्णलोभेन व्यापादितेति ।

२. किं धरण्यां मृगाङ्कः, आकाशे महीधरो, जले ज्वलनः ।
मध्याह्ने प्रदोषो दर्श्यतां देहि आज्ञप्तिम् ॥

अथवा किं बहुना जल्पितेन ।

मम प्रतिज्ञैषा भणामि हृदयेन यद् वाञ्छसि द्रष्टुं ।
तत्ते दर्शयामि स्फुटं गुरोर्मन्त्रप्रभावेण ॥

इत्यनेनैन्द्रजालिको मिथ्याग्निसम्भ्रमोत्थापनेन वत्सराजस्य हृदयस्थ-सागरिकादर्शनानुकूला स्वशक्तिमाविष्कृतवान् ।

यथा च वेणीसंहारे ।

> नूनं तेनाद्य वीरेण प्रतिज्ञाभङ्गभीरुणा
> बध्यते केशपाशस्ते स चास्याऽऽकर्षणे क्षमः ॥

इत्यनेन युधिष्ठिरः स्वदण्डशक्तिमाविष्करोति ।

अथ विरोधनम् ।

संरब्धानां विरोधनम् ।

इति । यथा वेणीसंहारे । राजा । रे रे मरुत्तनय किमेवं वृद्धस्य राज्ञः पुरतो निन्दितव्यमात्मकर्म श्लाघसे । अपि च ।

> कृष्टा केशेषु भार्या तव तव च पशोस्तस्य राज्ञस्तयोर्वा
> प्रत्यक्षं भूपतीनां मम भुवनपतेराज्ञया द्यूतदासी ।
> अस्मिन् वैरानुबन्धे तव किमपकृतं तैर्हता ये नरेन्द्रा
> बाह्वोर्वीर्यातिसारद्रविणगुरुमदं मामजित्वैव दर्पः ॥

भीमः क्रोधं नाटयति । अर्जुनः । आर्य प्रसीद किमत्र क्रोधेन ।

> अप्रियाणि करोत्येष वाचा शक्तो न कर्मणा ।
> हतभ्रातृशतो दुःखी प्रलापैरस्य का व्यथा ॥

भीमः । अरे भरतकुलकलङ्क ।

> अद्यैव किं न विसृजेयमहं भवन्तं
> दुःशासनानुगमनाय कटुप्रलापिन् ।
> विघ्नं गुरू न कुरुतो यदि मत्कराग्र-
> निर्भिद्यमानरणितास्थिनि ते शरीरे ॥

अन्यच्च मूढ ।

> शोकं स्त्रीवन् नयनसलिलैर्यत् परित्याजितोऽसि
> भ्रातुर्वक्षःस्थलविदलने यच्च साक्षीकृतोऽसि ।
> आसीदेतत् तव कुनृपते कारणं जीवितस्य
> क्रुद्धे युष्मत्कुलकमलिनीकुञ्जरे भीमसेने ॥

राजा । दुरात्मन् भरतकुलापसद पाण्डवपशो नाऽहं भवानिव विकत्थनाप्रगल्भः । किन्तु ।

द्रक्ष्यन्ति न चिरात् सुप्तं बान्धवास्त्वां रणाङ्गणे ।
मद्गदाभिन्नवक्षोऽस्थिवेणिकाभङ्गभीषणम् ॥

इत्यादिना संरब्धयोर्भीमदुर्योधनयोः स्वशक्त्युक्तिर्विरोधनमिति ।

अथ प्ररोचना ।

सिद्धामन्त्रणतो भाविदर्शिका स्यात् प्ररोचना ।

यथा वेणीसंहारे । पाञ्चालकः । अहं च देवेन चक्रपाणिनैवमुपक्रम्य कृतसन्देशः ।

पूर्यन्तां सलिलेन रत्नकलशा राज्याभिषेकाय ते
कृष्णाऽत्यन्तचिरोज्झिते च कबरीबन्धे करोतु क्षणम् ।
रामे शातकुठारभासुरकरे क्षत्रद्रुमोच्छेदिनि
क्रोधान्धे च वृकोदरे परिपतत्याजौ कुतः संशयः ॥

इत्यादिना मङ्गलानि कर्तुमाज्ञापयति । देवो युधिष्ठिर इत्यन्तेन द्रौपदीकेशसंयमनयुधिष्ठिरराज्याभिषेकयोर्भाविनोरपि सिद्धत्वेन दर्शिका प्ररोचनेति ।

अथ विचलनम् ।

विकत्थना विचलनम्

यथा वेणीसंहारे । भीमः । तात अम्ब !

सकलरिपुजयाशा यत्र बद्धा सुतैस्ते
तृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोकः ।
रणशिरसि निहन्ता तस्य राधासुतस्य
प्रणमति पितरौ वां मध्यमः पाण्डवोऽयम् ॥

अपि च । तात !

चूर्णिताशेषकौरव्यः क्षीबो दुःशासनासृजा ।
भङ्क्त्वा सुयोधनस्योर्वोर्भीमोऽयं शिरसाऽञ्चति ॥

इत्यनेन विजयबीजानुगतस्वगुणाविष्करणाद् विचलनमिति । यथा च रत्नावल्याम् । यौगन्धरायणः ।

रत्नावलीवसुभूतिबाभ्रव्यादीनामर्थानां मुखसन्ध्यादिषु प्रकीर्णानां वत्सराजकार्यार्थत्वम् । वसुभूति । सागरिका निर्वर्ण्याऽपवार्य । बाभ्रव्य सुसदृशीयं राजपुत्र्या इत्यादिना दर्शितमिति निर्वहणसन्धिः ।

अथ तदङ्गानि ।

सन्धिर्विबोधो······चतुर्दश ॥५१॥

यथोद्देशं लक्षणमाह ।

सन्धिर्बीजोपगमनं

इति । यथा रत्नावल्याम् । वसुभूतिः । बाभ्रव्य सुसदृशीयं राजपुत्र्या । बाभ्रव्य । ममाप्येवमेव प्रतिभातीत्यनेन नायिकाबीजोपगमात् सन्धिरिति । यथा च वेणीसंहारे । भीम भवति यज्ञवेदिसम्भवे स्मरति भवती यन्मया तत्प्रतिज्ञातम् ।

　　चञ्चद्भुजभ्रमित-चण्डगदाभिघात
　　सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
　　स्त्यानावबद्धघनशोणितशोणपाणिर्
　　उत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः ॥

इत्यनेन मुखोपक्षिप्तस्य पुनरुपगमात् सन्धिरिति ।

अथ विबोधः ।

दुःशासनशोणितोक्षितेन पाणिना पाञ्चाल्या दुःशासनाकृष्टं केशहस्तम्। युधिष्ठिरः गच्छतु भवान्। अनुभवतु तपस्विनी वेणीसंहारमित्यनेन केशसंयमनकार्यस्यान्वेषणाद् विबोध इति।

अथ ग्रथनम्।

ग्रथनं तदुपक्षेपो

यथा रत्नावल्याम्। यौगन्धरायणः। देव क्षम्यतां यद् देवस्यानिवेद्य मयैतत् कृतमित्यनेन वत्सराजस्य रत्नावली-प्रापणकार्योपक्षेपाद् ग्रथनम्। यथा च वेणीसंहारे। भीमः। पाञ्चालि न खलु मयि जीवति संहर्तव्या दुःशासनविलुलिता वेणिरात्मपाणिना। तिष्ठतु तिष्ठतु। स्वयमेवाहं संहरामीत्यनेन द्रौपदीकेशसंयमनकार्यस्योपक्षेपाद् ग्रथनम्।

अथ निर्णयः।

अनुभूताख्या तु निर्णयः ॥४६॥

यथा रत्नावल्याम्। यौगन्धरायणः। (कृताञ्जलिः) देव श्रूयताम्। इयं सिंहलेश्वरदुहिता सिद्धादेशेनोपदिष्टा योऽस्याः पाणिं ग्रहीष्यति स सार्वभौमो राजा भविष्यति। तत्प्रत्ययादस्माभिः स्वाम्यर्थे बहुशः प्रार्थ्यमानापि सिंहलेश्वरेण देव्या वासवदत्तायाश्चित्तखेदं परिहरता यदा न दत्ता तदा लावाणके देवी दग्धेति प्रसिद्धिमुत्पाद्य तदन्तिकं बाभ्रव्यः प्रहित इत्यनेन यौगन्धरायणः स्वानुभूतमर्थं ख्यापितवानिति निर्णयः। यथा च वेणीसंहारे। भीमः। देव देव अजातशत्रो क्वाद्यापि दुर्योधनहतकः। मया हि तस्य दुरात्मनः।

भूमौ क्षिप्त्वा शरीरं निहितमिदमसृक्चन्दनाभं निजाङ्गे
लक्ष्मीरार्ये निषिक्ता चतुरुदधिपयःसीमया सार्धमुर्व्या।
भृत्या मित्राणि योधाः कुरुकुलमखिलं दग्धमेतद्रणाग्नौ
नामैकं यद् ब्रवीषि क्षितिप तदधुना धार्तराष्ट्रस्य शेषम्॥

इत्यनेन स्वानुभूतार्थकथनान् निर्णय इति।

अथ परिभाषणम्।

परिभाषा मिथो जल्पः।

यथा रत्नावल्याम् । रत्नावली । आत्मगतम् । [1]कआवराहा देवीए ण सक्कुणोमि मुहं दंसिदु । वासवदत्ता । सास्रम् । पुनर्बाहू प्रसार्यं । [2]एहि अयि णिठ्ठुरे इदाणी वि बन्धुसिणेहं दंसेहि । अपवार्यं । अज्जउत्त लज्जामि क्खु अहं इमिणा णिसंसत्तणेण ता लहु अवणेहि से बन्धणं । राजा । यथाऽऽह देवी बन्धनमपनयति । वासवदत्ता । वसुभूतिं निर्दिश्य । [3]अज्ज अमच्चयोगन्धरायणेण दुज्जणीकदम्हि जेण जाणन्तेण वि णाचक्खिदमि त्यनेनाऽन्यान्यवचनान् परिभाषणम् । यथा च वेणीसंहारे । भीम ।

कृष्टा येनाऽसि राज्ञा सदसि नृपशुना तेन दुःशासनेन ।

इत्यादिना क्वाऽसौ भानुमती नोपहसति पाण्डवदारानित्यन्तेन भाषणात् परिभाषणम् ।

अथ प्रसाद ।

प्रसाद पर्युपासनम् ।

इति । यथा रत्नावल्याम् । देव क्षम्यतामित्यादि दर्शितम् । यथा च वेणीसंहारे । भीम । द्रौपदीमुपसृत्य । देवि पाञ्चालराजतनये दिष्ट्या वर्धसे रिपुकुलक्षयेनेत्यनेन द्रौपद्या भीमसेनेनाऽऽराधितत्वात् प्रसाद इति ।

अथाऽऽनन्द ।

आनन्दो वाञ्छितावाप्ति.

इति । यथा रत्नावल्याम् । राजा । यथाऽऽह देवी । रत्नावली गृह्णाति । यथा च वेणीसंहारे । द्रौपदी । [1]णाध विसुमरिदम्हि एदं वावारं णाधस्स पसादेण पुणो सिक्खिस्सम । केशान् बध्नाति । इत्याभ्यां प्रार्थितरत्नावलीप्राप्तिवेशसंयमनयोर्वत्सराजद्रौपदीभ्यां प्राप्तत्वादानन्द ।

अथ समय ।

---

१ कृतापराधा देव्या न शक्नोमि मुखं दर्शयितुम् ।

२ एहि अयि निष्ठुरे इदानीमपि बन्धुस्नेहं दर्शय । आर्यपुत्र लज्जे खलु अहमनेन नृशंसत्वेन तत्लघु अपनयास्या बन्धनम् ।

३. आर्य अमात्ययोगन्धरायणेन दुर्जनीकृतास्मि येन जानताऽपि नाख्यातमिति ।

समर्थो दुःखनिर्गमः ॥४७॥

इति । यथा रत्नावल्याम् । वासवदत्ता । रत्नावलीमालिङ्ग्य । [1]समस्सस समस्सस बहिणिए इत्यनेन भगिन्योरन्योन्यसमागमेन दुःखनिर्गमात् समयः । यथा च वेणीसंहारे । भगवन् कुतस्तस्य विजयादन्यद् यस्य भगवान् पुराण-पुरुषः स्वयमेव नारायणो मङ्गलान्याशास्ते ।

कृतगुरुमहदादिक्षोभसम्भूतमूर्ति
गुणिनमुदयनाशस्थानहेतुं प्रजानाम् ।
अजममरमचिन्त्यं चिन्तयित्वाऽपि न त्वा
भवति जगति दुःखी किं पुनर्देव दृष्ट्वा ॥

इत्यनेन युधिष्ठिरदुःखापगमं दर्शयति ।

अथ कृतिः ।

कृतिर्लब्धार्थशमनम्

इति । यथा रत्नावल्याम् । राजा । को देव्याः प्रसादं न बहु मन्यते । वासवदत्ता । [2]अज्जउत्त दूरे से मादुउलं ता तधा करेसु जधा बन्धुअणं न सुमरेदी त्यन्यान्यवचसा लब्धाया रत्नावल्या राज्ञः सुश्लिष्टये उपशमनात् कृतिरिति । यथा च वेणीसंहारे । कृष्ण । एते खलु भगवन्तो व्यासवाल्मीकीप्रभृतयोऽभिषेकमारब्धवन्तस्तिष्ठन्तीत्यनेन प्राप्तराज्यस्याभिषेकमङ्गलैः स्थिरीकरणं कृतिः ।

अथ भाषणम् ।

मानाद्याप्तिश्च भाषणम् ।

इति । यथा रत्नावल्याम् । राजा । अतःपरमपि प्रियमस्ति ।

यातो विक्रमबाहुरात्मसमतां प्राप्तेयमुर्वीतले
सारं सागरिका ससागरमहीप्राप्त्येकहेतुः प्रिया ।

---

१ समाश्वसिहि समाश्वसिहि भगिनिके इति ।

२ आर्यपुत्र दूरे अस्या मातृकुलं तत्तथा कुरुष्व यथा बन्धुजनं न स्मरति ।

देवी प्रीतिमुपागता च भगिनीलाभाज् जिता कोशलाः
किं नाऽस्ति त्वयि सत्यमात्यवृषभे यस्मै करोमि स्पृहाम् ॥
इत्यनेन वाञ्छितार्थमानादिलाभाद् भाषणमिति।

अथ पूर्वभावोपगूहने।

कार्यदृष्ट्य०······०पगूहने।

इति। कार्यदर्शनं पूर्वभावः। यथा रत्नावल्याम्। यौगन्धरायणः। एवं विज्ञाय भगिन्या सम्प्रति करणीये देवी प्रमाणम्। वासवदत्ता। [1]फुडज्जेव किं ण भणेसि पडिवाएहि से रअणमालं त्ति इत्यनेन वत्सराजाय रत्नावली दीयतामिति कार्यस्य यौगन्धरायणाभिप्रायानुप्रविष्टस्य वासवदत्तया दर्शनात् पूर्वभाव इति। अद्भुतप्राप्तिरुपगूहनम्। यथा वेणीसंहारे। नेपथ्ये। महासमरानलदग्धशेषाय स्वस्ति भवते राजन्यलोकाय।

क्रोधान्धैर्यस्य मोक्षात् क्षतनरपतिभिः पाण्डुपुत्रैः कृतानि
प्रत्याशं मुक्तकेशान्यनुदिनमधुना पार्थिवान्तःपुराणि।
कृष्णाया केशपाशः कुपितयमसखो धूमकेतुः कुरूणां
दिष्ट्या बद्धः प्रजानां विरमतु निधनं स्वस्ति राजन्यकेभ्यः ॥

युधिष्ठिरः। देवि एष ते मूर्द्धजानां संहारोऽभिनन्दितो नभस्तलचारिणा सिद्धजनेनेत्यनेनाऽद्भुतार्थप्राप्तिरुपगूहनमिति। लब्धार्थशमनात् कृतिरपि भवति।

अथ काव्यसंहारः।

वराप्तिः काव्यसंहारः

इति। यथा। किं ते भूयः प्रियमुपकरोमीत्यनेन काव्यार्थसंहरणात् काव्यसंहार इति।

अथ प्रशस्तिः।

प्रशस्तिः शुभशंसनम् ॥४८॥

इति। यथा वेणीसंहारे। प्रीततरश्चेद् भवान् तदिदमेवमस्तु।

---

1. स्फुटमेव किं न भणसि प्रतिपादयास्यै रत्नमालामिति।

यद्यपरमति काम जीव्यात् जन पुरुषायुष
भवतु भगवन् भक्तिद्वैत विना पुरुषोत्तमे ।
कलितभुवनो विद्वद्बन्धुर्गुणेषु विशेषवित्
सततमुकृती भूयाद् भूप प्रसाधितमण्डल ॥
इति शुभशंसनात् प्रशस्ति ।
इत्येतानि चतुर्दश निर्वहणाङ्गानि ।
एव चतु षष्ट्यङ्गसमन्विता पञ्चसन्धय प्रतिपादिता ।
षट्प्रकार चाङ्गाना प्रयोजनमित्याह ।
उक्ताङ्गाना······प्रयोजनम् ।
इति । कानि पुनस्तानि षट्प्रयोजनानि ।
इष्टस्या०······०नुपक्षय ॥४६॥
इति । विवक्षितार्थनिबन्धन गोप्यार्थगोपन प्रकाश्यार्थप्रकाशनमभिनेयराग-वृद्धिश्चमत्कारित्व च काव्यस्येतिवृत्तस्य विस्तर इत्यङ्गै षट्प्रयोजनानि सम्पाद्यन्त इति ।
पुनर्वस्तुविभागमाह ।
द्वेधा ······०परम् ॥५०॥
इति । कीदृक् सूच्य कीदृक् दृश्यश्रव्यमित्याह ।
नीरसो······०निरन्तर: ॥५१॥
इति सूच्यस्य प्रतिपादनप्रकारमाह ।
अर्थोप०······०प्रवेशकै: ॥५२॥
इति । तत्र विष्कम्भ ।
वृत्तवर्ति०······ ०प्रयोजित: ।
इति । अतीताना भाविनां च कथावयवाना ज्ञापको मध्यमेन मध्यमाभ्या वा पात्राभ्या प्रयोजितो विष्कम्भक इति ।
स द्विविध शुद्ध सङ्कीर्णश्चेत्याह ।
एका०······नीचमध्यमै ॥५३॥
इति । एकेन द्वाभ्यां वा मध्यमपात्राभ्या शुद्धो भवति । मध्यमाधम-

पात्रैर्युगपत् प्रयोजित सङ्कीर्ण इति ।

अथ प्रवेशकः ।

तद्वदेवा०·····०सूचक ॥५४॥

तद्वदेवेति भूतभविष्यदर्थज्ञापकत्वमतिदिश्यते । अनुदात्तोक्तया नीचेन नीचैर्वा पात्रं प्रयोजित इति विष्कम्भलक्षणापवाद । अङ्कद्वयस्यान्त इति प्रथमाङ्के प्रतिषेध इति ।

अथ चूलिका ।

अन्तर्यवनिका ··· सूचना ।

नेपथ्यपात्रेणाऽर्थसूचन चूलिका । यथोत्तरचरिते द्वितीयाङ्कस्याऽऽदौ । नपथ्ये । स्वागत तपोधनाया । तत प्रविशति तपोधना इति । नपथ्य पात्रेण वासन्तिकया आत्रेयीसूचनाच् चूलिका । यथा वा वीरचरिते चतुर्थाङ्कस्याऽऽदौ । नेपथ्ये । भो भो वैमानिका प्रवर्त्यन्ता प्रवर्त्यन्ता मङ्गलानि ।

कृशाश्वान्तेवासी जयति भगवान् कौशिकमुनि
सहस्रांशोर्वंशे जगति विजयि क्षत्रमधुना ।
विनेता क्षत्रारेर्जगदभयदानव्रतधर
शरण्यो लोकाना दिनकरकुलेन्दुर्विजयते ॥

इत्यत्र नेपथ्यपात्रैर्देवै रामेण परशुरामो जित इति सूचनाच् चूलिका ।

अथाऽङ्कास्यम् ।

अङ्कान्त० ···· ०र्थसूचनात् ॥५५॥

अङ्कान्ते एव पात्रमङ्कान्तपात्र तेन विश्लिष्टस्योत्तराङ्कमुखस्य सूचन तद्वशेनोत्तराङ्कावतारोऽङ्कास्यमिति । यथा वीरचरिते द्वितीयाङ्कान्ते । प्रविश्य सुमन्त्र । भगवन्तौ वसिष्ठविश्वामित्रौ भवत सभार्गवानाहूयत । इतरे । क्व भगवन्तौ । सुमन्त्र । महाराजदशरथस्यान्तिके । इतरे । तदनुरोधात् तत्रैव गच्छाम इत्यसमाप्तौ । तत प्रविशन्त्युपविष्टा वसिष्ठविश्वामित्रपरशुरामा इत्यत्र पूर्वाङ्कान्त एव प्रविष्टेन सुमन्त्रपात्रेण शतानन्दजनकथार्थविच्छेद उत्तराङ्कमुखसूचनादङ्कास्यमिति ।

अथाऽङ्कावतारः।

अङ्का०……०प्रदर्शयेत् ॥५६॥

यत्र प्रविष्टपात्रेण सूचितमेव पूर्वाङ्काविच्छिन्नार्थतयैवाऽङ्कान्तरमापतति प्रवेशकविष्कम्भकादिशून्यं सोऽङ्कावतारः। यथा मालविकाग्निमित्रे प्रथमाङ्कान्ते। विदूषकः। [1]तेण हि दुवेवि देवीए पेक्खागेहं गदुअ सङ्गीदोवअरणं करिअ तत्तभवदो दूदं विसज्जेध। अथवा मुदङ्गसद्दो ज्जेव णं उत्थावइस्सदीत्युपक्रमे मृदङ्गशब्दश्रवणादनन्तरं सर्वाण्येव पात्राणि प्रथमाङ्कप्रक्रान्तपात्रसङ्क्रान्तिदर्शनं द्वितीयाङ्कादावारभन्त इति। प्रथमाङ्कार्थाविच्छेदेनैव द्वितीयाङ्कस्याऽवतरणादङ्कावतार इति।

पुनस्त्रिधा वस्तुविभागमाह।

नाट्य०……त्रिधेष्यते।

केन प्रकारेण त्रैधं तदाह।

सर्वेषां……श्राव्यमश्राव्यमेव च ॥५७॥

तत्र।

सर्वश्राव्यं……स्वगतं मतम्।

इति। सर्वश्राव्यं यद् वस्तु तत् प्रकाशमित्युच्यते। यत् तु सर्वस्याश्राव्यं तत् स्वगतमितिशब्दाभिधेयम्।

नियतश्राव्यमाह।

द्विधाऽन्यत्……०पवारितम् ॥५८॥

इति। अन्यत् तु नियतश्राव्यं द्विप्रकारं जनान्तिकापवारितभेदेन।

तत्र जनान्तिकमाह।

त्रिपताककरेणा०……तज्जनान्तिकम् ॥

इति। यस्य न श्राव्यं तस्यान्तरा ऊर्ध्वं सर्वाङ्गुलं वक्रानामिकं त्रिपताकलक्षणं करं कृत्वाऽन्येन सह यन् मन्त्र्यते तज्जनान्तिकमिति।

---

१. तेन हि द्वावपि देव्याः प्रेक्षागेहं गत्वा सङ्गीतोपकरणं कृत्वा तत्रभवतो दूतं, विसर्जयतं। अथवा मृदङ्गशब्द एवैनमुत्थापयिष्यति।

अथाऽपवारितम् ।

रहस्यं······परावृत्त्याऽपवारितम् ॥५९॥

परावृत्त्याऽन्यस्य रहस्यकथनमपवारितमिति ।

नाट्यधर्मप्रसङ्गादाकाशभाषितमाह ।

किं ब्रवीष्ये०·······०भाषितम् ॥६०॥

इति । स्पष्टार्थं ।

अन्यान्यपि नाट्यधर्माणि प्रथमकल्पादीनि कैश्चिदुदाहृतानि । तेषामभारतीयत्वान् नाममालाप्रसिद्धाना केषाञ्चिद् देशभाषात्मकत्वान् नाट्यधर्मत्वाभावात् लक्षण नोक्तमित्युपसंहरति ।

इत्याद्०······०प्रपञ्चः ॥६१॥

इति । वस्तुविभेदजात वस्तु वर्णनीय तस्य विभेदजात नानाभेदा । रामायणादि बृहत्कथा च गुणाढ्यनिर्मिता विभाव्य आलोच्य । तदनु एतदुत्तरम् । नेत्रिति । नेता वक्ष्यमाणलक्षणः रसाश्च तेषामानुगुण्यात् चित्रा चित्ररूपा कथामास्यायिकाम् । चारूणि यानि वचासि तेषा प्रपञ्चैः विस्तारैः आसूत्रयेत् अनुग्रथयेत् । तत्र बृहत्कथामूलं मुद्राराक्षसं चाणक्य-नाम्ना तेनाथ शकटालगृहे रह कृत्या विषाय सहसा सपुत्रो निहतो नृप ।

योगानन्दयशः शेषे पूर्वनन्दसुतस्ततः ।

चन्द्रगुप्तः कृतो राजा चाणक्येन महौजसा ॥

इति बृहत्कथायां सूचितं श्रीरामायणोक्तं रामकथादि ज्ञेयम् । इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके प्रथमप्रकाशः समाप्तः ।

द्वितीयः प्रकाशः

रूपकाणामन्योन्यं भेदसिद्धये वस्तुभेदं प्रतिपाद्येदानीं नायकभेदः प्रतिपाद्यते ।

नेता०·······०युवा ॥१॥

बुद्ध्युत्साहस्मृ०·······०धार्मिकः ।

नेता नायको विनयादिगुणसम्पन्नो भवतीति ।

तत्र विनीतः । यथा वीरचरिते ।

> यद् ब्रह्मवादिभिरुपासितवन्द्यपादे
> विद्यातपोव्रतनिधौ तपतां वरिष्ठे ।
> दैवात् कृतस्त्वयि मया विनयापचारः
> तत्र प्रसीद भगवन्नयमञ्जलिस्ते ॥

मधुरः प्रियदर्शनः । यथा तत्रैव ।

> राम राम नयनाभिरामताम्
> आशयस्य सदृशीं समुद्वहन् ।
> अप्रतर्क्यगुणरामणीयकः
> सर्वथैव हृदयङ्गमोऽसि मे ॥

त्यागी सर्वस्वदायकः । यथा ।

> त्वच कर्णः शिबिर्मांसं जीवं जीमूतवाहनः ।
> ददौ दधीचिरस्थीनि नास्त्यदेयं महात्मनाम् ॥

दक्षः क्षिप्रकारी । यथा वीरचरिते ।

> स्फूर्जद्वज्रसहस्रनिर्मितमिव प्रादुर्भवत्यग्रतो
> रामस्य त्रिपुरान्तकृद् दिविषदां तेजोभिरिद्धं धनुः ।
> शुण्डारः कलभेन यद्वदचले वत्सेन दोर्दण्डकः

तस्मिन्नाहित एव गर्जितगुणं कृष्टं च भग्नं च तत् ।

प्रियंवद प्रियभाषी । यथा तत्रैव ।

उत्पत्तिर्जमदग्नित स भगवान् देव पिनाकी गुरु
वीर्यं यत् तु न तद् गिरा पथि ननु व्यक्तं हि तत् कर्मभि ।
त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधि
सत्यब्रह्मतपोनिधेर्भगवत किं वा न लोकोत्तरम् ॥

रक्तलोक । यथा तत्रैव ।

त्रय्यास्त्राता यस्तवाऽयं तनूज
स्तेनाऽद्यैव स्वामिनस्ते प्रसादात् ।
राजन्वत्यो रामभद्रेण राज्ञा
लब्धक्षेमा पूर्णकामाश्चराम ।

एवं शौचादिष्वप्युदाहार्य्यम् । [तत्र शौच नाम मनोनैर्म्मल्यादिना
कामाद्यनभिभूतत्वम् । यथा रघौ ।

का त्वं शुभे कस्य परिग्रहो वा
किंवा मदभ्यागमकारण ते ।
आचक्ष्व मत्वा वशिना रघूणां
मन परस्त्रीविमुखप्रवृत्ति ॥

वाङ्मी । यथा हनुमन्नाटके ।

बाह्वोर्बलं न विदित न च कार्मुकस्य
त्रैयम्बकस्य तनिमा तत एष दोषः ।
तच् चापल परशुराम मम क्षमस्व
डिम्भस्य दुर्विलसितानि मुदे गुरूणाम् ॥

स्थिरवंशो यथा ।

ये चत्वारो दिनकरकुलक्षत्रसन्तानमल्ली-
मालाम्लानस्तबकमधुपा जज्ञिरे राजपुत्रा ।
रामस्तेषामचरमभवस्ताडकाकालरात्रि-
प्रत्यूषोऽयं सुचरितकथाकन्दलीमूलकन्द. ॥]

स्थिरो वाड्मनःक्रियाभिरचञ्चलः । यथा वीरचरिते ।

प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात् ।
न त्वेवं दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥

यथा वा भर्तृहरिशतके ।

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमगुणास्त्वमिवोद्वहन्ति ॥

शुचा प्रसिद्धः । बुद्धिर्ज्ञानम् । गृहीतविशेषकरी तु प्रज्ञा । यथा मालविकाग्निमित्रे ।

यद् यत् प्रयोगविषये भाविकमुपदिश्यते मया तस्यै ।
तत् तद् विशेषकरणात् प्रत्युपदिशतीव मे बाला ॥

स्पष्टमन्यत् ।

नेतृविशेषानाह ।

भेदैश्चतुर्धा ललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम् ॥२॥

यथोद्देशं लक्षणमाह ।

निश्चिन्तो ·· ···· सुखी मृदुः ।

सचिवादिविहितयोगक्षेमत्वात् चिन्तारहितः । अतएव गीतादिकलाविष्टो भोगप्रवणश्च शृङ्गारप्रधानत्वात् च सुकुमारसत्त्वाचारो मृदुरिति ललितः । यथा रत्नावल्याम् ।

राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः
सम्यक्पालनलालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः ।
प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृतिं
कामं काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः ।

अथ शान्तः ।

सामान्यगुण० ········ द्विजादिकः ॥३॥

विनयादिनेतृसामान्यगुणयोगी धीरशान्तो द्विजादिक इति विप्रवणिक्-

सचिवादीनां प्रकरणनेतॄणामुपलक्षणम्। विवक्षितं चैतत्। तेन मैत्र्यादिगुणसम्भवेऽपि विप्रादीनां शान्ततैव न ललितत्वम्। यथा मालतीमाधवमृच्छकटिकादौ माधवचारुदत्तादि।

तत उदयगिरेरिवैक एव
स्फुरितगुणद्युतिसुन्दरः कलावान्।
इह जगति महोत्सवस्य हेतु-
र्नयनवतामुदियाय बालचन्द्रः॥

इत्यादि। यथा वा।

मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भासितं यत्
सदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात्।
मम निधनदशायां वर्तमानस्य पापै-
स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम्॥

अथ धीरोदात्तः।

महासत्त्वो॰……धीरोदात्तो दृढव्रतः॥४॥

महासत्त्वः शोकक्रोधाद्यनभिभूतान्तःसत्त्वः। अविकत्थनोऽनात्मश्लाघनः। निगूढाहङ्कारो विनयच्छन्नावलेपः दृढव्रतोऽङ्गीकृतनिर्वाहकः धीरोदात्तः। यथा नागानन्दे। जीमूतवाहनः।

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तम्
अद्यापि देहे मम मांसमस्ति।
तृप्तिं न पश्यामि तवैव तावत्
किं भक्षणात् त्वं विरतो गरुत्मन्॥

यथा च रामं प्रति।

आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः।

यच्च केषाञ्चित् स्थैर्यादीनां सामान्यगुणानामपि विशेषलक्षणे क्वचित् सङ्कीर्तनं तत्तेषां तत्राऽधिक्यप्रतिपादनार्थम्। ननु च कथं जीमूतवाहनादिर्नागानन्दादावुदात्त इत्युच्यते। औदात्त्यं हि नाम सर्वोत्कर्षेण

वृत्तिः । तच्च विजिगीषुत्व एवोपपद्यते । जीमूतवाहनस्तु निर्जिगीषुतयैव कविना प्रतिपादितः । यथा ।

तिष्ठन् भाति पितुः पुरो भुवि यथा सिंहासने किं तथा
यत् संवाहयतः सुखं हि चरणौ तातस्य किं राज्यतः ।
किं भुक्ते भुवनत्रये धृतिरसौ भुक्तोज्झिते या गुरो-
रायासः खलु राज्यमुज्झितगुरोस्तन् नास्ति कश्चिद् गुणः ॥

इत्यनेन ।

पित्रोर्विधातुं शुश्रूषां त्यक्त्वैश्वर्यं क्रमागतम् ।
वनं याम्यहमप्येष यथा जीमूतवाहनः ॥

इत्यनेन च । अतोऽस्यात्यन्तशमप्रधानत्वात् परमकारुणिकत्वाच्च वीतरागवत् शान्तता । अन्यच्च चात्रायुक्तं यत् तथाभूतं राज्यसुखादौ निरभिलाषं नायकमुपादायान्तरा तथाभूतमलयवत्यनुरागोपवर्णनम् । यच्चोक्तं सामान्यगुणयोगी द्विजादिर्धीरशान्त इति । तदपि पारिभाषिकत्वादवास्तवमित्यभेदकम् । अतो वस्तुस्थित्या बुद्धयुधिष्ठिरजीमूतवाहनादिव्यवहाराः शान्ततामाविर्भावयन्ति । अत्रोच्यते । यत् तावदुक्तं सर्वोत्कर्षेण वृत्तिरौदात्त्यमिति । न तज् जीमूतवाहनादौ परिहीयते । न ह्येकरूपैव विजिगीषुता यः केनापि शौर्यत्यागदयादिनाऽन्यानतिशेते स विजिगीषुर्न यः परापकारेणार्थग्रहादिप्रवृत्तः । तथात्वे च मार्गदूषकादेरपि धीरोदात्तत्वप्रसक्तिः । रामादेरपि जगत्पालनीयमिति दुष्टनिग्रहे प्रवृत्तस्य नान्तरीयकत्वेन भूम्यादिलाभः । जीमूतवाहनादिस्तु प्राणैरपि परार्थसम्पादनाद् विश्वमप्यतिशेत इत्युदात्ततमः । यथोक्तम् । तिष्ठन् भातीत्यादिना विषयसुखपराङ्मुखतेति । तत् सत्यम् । कार्पण्यहेतुषु स्वसुखतृष्णासु निरभिलाषा एव जिगीषवः । यदुक्तम् ।

स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव ।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ॥

इत्यादिना मलयवत्यनुरागोपवर्णनं स्वदारान्तरसाश्रय शान्तनायकता प्रत्युत निषेधति । शान्तत्व चाऽनहङ्कृतत्व तच् च विप्रादेरौचित्यप्राप्तमिति वस्तुस्थित्या विप्रादे शान्तता न स्वपरिभाषामात्रेण । बुद्धजीमूतवाहनयोस्तु कारुणिकत्वाविशेषेऽपि सकामनिष्कामकरुणत्वादिधर्मत्वाद् भेद । अतो जीमूतवाहनादेर्धीरोदात्तत्वमिति ।

अथ धीरोद्धतः ।

दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो······विकत्थन ॥५॥

दर्प शौर्यादिमद मात्सर्यमसहनता । मन्त्रबलेनाऽविद्यमानवस्तुप्रकाशन माया । छद्म वञ्चनामात्रम् । चलोऽनवस्थितः चण्डो रौद्र स्वगुणशसी विकत्थन धीरोद्धतो भवति ।

यथा जामदग्न्य ।

कैलासोद्धारसारत्रिभुवनविजय ।

इत्यादि । यथा च रावणः ।

त्रैलोक्यैश्वर्यलक्ष्मीहठहरणसहा बाहवो रावणस्य ।

धीरललितादिशब्दाश्च यथोक्तगुणसमारोपितावस्थाभिधायिनो वत्सवृषभमहोक्षादिवन् न जात्या कश्चिदवस्थितरूपो ललितादिरस्ति । तदा हि महाकविप्रबन्धेषु विरुद्धानेकरूपाभिधानमसङ्गतमेव स्यात जातेरनपायित्वात् । तथा च भवभूतिनैक एव जामदग्न्य ।

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ।

जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥

इत्यादिना रावण प्रति धीरोदात्तत्वेन कैलासोद्धारसारेत्यादिभिश्च रामादीन् प्रति प्रथम धीरोद्धतत्वेन पुन पुण्या ब्राह्मणजातिरित्यादिभिश्च धीरशान्तत्वेनोपवर्णित । न चाऽवस्थान्तराभिधानमनुचितमङ्गभूतनायकाना नायकान्तरपेक्षया महासत्त्वादेरव्यवस्थितत्वादङ्गिनस्तु रामादेरेकप्रबन्धोपादानात् प्रत्येकरूपत्वादारम्भोपात्तावस्थातोऽवस्थान्तरोपादानमन्याय्यम् । यथोदात्तत्वाभिमतस्य रामस्य छद्मना वालिवधादमहासत्त्वतया स्वावस्थापरित्याग इति । वक्ष्यमाणाना च दक्षिणाद्यवस्थाना पूर्वां प्रत्यन्य-

याहृत इति नित्यसापेक्षत्वेनाऽविर्भावादुपात्तावस्थातोऽवस्थान्तराभिधान-मङ्गाद्भिनीरप्यविरुद्धम् ।

अथ शृङ्गारनेत्रवस्था ।

स दक्षिण .... हृत ।

नायकप्रकरणात् पूर्वा नायिका प्रत्यन्यथाऽपूर्वनायिकयाऽपहृतचित्त-स्यावस्थो वक्ष्यमाणभेदेन स चतुरवस्थ । तदेव पूर्वोक्तानां चतुर्णां प्रत्येक चतुरवस्थत्वेन षोडशधा नायक ।

तत्र ।

दक्षिणोऽस्या सहृदय

योऽस्या ज्येष्ठाया हृदयेन सह व्यवहरति स दक्षिण । यथा ममैव ।

> प्रसीदत्यालोके किमपि किमपि प्रेमगुरवो
> रतिक्रीडा कोऽपि प्रतिदिनमपूर्वोऽस्य विनयं ।
> सविश्रम्भ कश्चित् कथयति च किञ्चित् परिजनो
> न चाहं प्रत्येमि प्रियसखि किमप्यस्य विकृतिम् ॥

यथा वा ।

> उचित प्रणयो वर विहन्तु
> बहव खण्डनहेतवो हि दृष्टा ।
> उपचारविधिर्मनस्विनीना
> ननु पूर्वाभ्यधिकोऽपि भावशून्य ॥

अथ शठ ।

गूढविप्रियकृच्छठः ।

दक्षिणस्यापि नायिकान्तरापहृतचित्ततया विप्रियकारित्वाविशेषेऽपि सहृदयत्वेन शठाद् विशेष । यथा ।

> शठाऽन्यस्या काञ्चीमणिरणितमाकर्ण्य सहसा
> यदाऽऽश्लिष्यन्नेव प्रशिथिलभुजग्रन्थिरभव ।
> तदेतत् क्वाऽऽचक्षे घृतमधुमय त्वद्बहुवचो-
> विषेणाऽऽघूर्णन्ती किमपि न सखी मे गणयति ।

अथ धृष्टः ।

व्यक्ताङ्गवैकृतो धृष्टो

यथाऽमरुशतके ।

लाक्षालक्ष्म ललाटपट्टमभितः केयूरमुद्रा गले
वक्त्रे कज्जलकालिमा नयनयोस्ताम्बूलरागोऽपरः ।
दृष्ट्वा कोपविधायिमण्डनमिदं प्रातश्चिरं प्रेयसो
लीलातामरसोदरे मृगदृशः श्वासाः समाप्तिं गताः ॥

भेदान्तरमाह ।

ऽनुकूलस्त्वेकनायिकः ॥६॥

यथा ।

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः ।
कालेनाऽऽवरणात्ययात् परिणते यत् स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत् प्राप्यते ॥

किमवस्थ पुनरेषां वत्सराजादिर्नाटिकानायकः स्यादित्युच्यते । पूर्वमनुपजातनायिकान्तरानुरागोऽनुकूलः । परतस्तु दक्षिणः । ननु च गूढविप्रियकारित्वाद् व्यक्ततरविप्रियत्वाच्च शाठ्यधाष्ट्यर्येऽपि कस्मान्न भवतः । न तथाविधविप्रियत्वेऽपि वत्सराजादेराप्रबन्धसमाप्तेर्ज्येष्ठां नायिकां प्रति सहृदयत्वाद् दक्षिणतैव । न चोभयोर्ज्येष्ठाकनिष्ठयोर्नायिकयोः स्नेहेन भवितव्यमिति वाच्यमविरोधात् । महाकविप्रबन्धेषु च ।

स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता वारोऽङ्गराजस्वसु-
र्द्यूते रात्रिरियं जिता कमलया देवी प्रसाद्याद्य च ।
इत्यन्तःपुरसुन्दरीः प्रति मया विज्ञाय विज्ञापिते
देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थितं नाडिकाः ॥

इत्यादावनेकापत्रास्र सर्वनायिकासु प्रतिपत्त्युपनिबन्धनात् । तथा च भरतः ।

मधुरस्त्यागी रागं न याति मदनस्य नापि वशमेति ।
अवमानितश्च नार्या विरज्यते स तु भवेज्ज्येष्ठः ॥

इत्यत्र न राम याति न मदनस्य वशमेतीत्यनेनाऽसाधारण एकस्या स्नेहो निषिद्धो दक्षिणस्येति। अतो वत्सराजादेराप्रबन्धसमाप्ति स्थितं दाक्षिण्यमिति। षोडशानामपि प्रत्येकं ज्येष्ठमध्यमाधमत्वेनाऽष्टाचत्वारिंशत् नायकभेदा भवन्ति।

सहायानाह।

पताकानायकस्त्वन्य.·········तद्गुणं. ॥७॥

प्रागुक्तप्रासङ्गिकेतिवृत्तविशेषः पताका तन्नायकः पीठमर्दः प्रधानेतिवृत्तनायकस्य सहाय.। यथा मालतीमाधवे मकरन्द. रामायणे सुग्रीवः।

सहायान्तरमाह।

एकविद्यो······विदूषकः।

गीतादिविद्याना नायकोपयोगिनीनामेकस्या विद्याया वेदिता विटः। हास्यकारी विदूषकः। अस्य विकृताकारवेषादित्वं हास्यकारित्वेनैव लभ्यते। यथा शेखरको नागानन्दे विटः। विदूषकः प्रसिद्ध एव।

अथ प्रतिनायक"।

लुब्धो·········व्यसनी रिपुः ॥८॥

तस्य नायकस्येत्थम्भूतः प्रतिपक्षनायको भवति। यथा रामयुधिष्ठिरयोः रावणदुर्योधनौ।

अथ सात्त्विका नायकगुणा"।

शोभा······गुणाः ॥६॥

तत्र।

नीचे·········शौर्यदक्षते।

नीचे घृणा। यथा वीरचरिते।

> उत्तालताडकोत्पातदर्शनेऽप्यप्रकम्पित।
> नियुक्तस्तत्प्रमाथाय स्त्रैणेन विचिकित्सति॥

गुणाधिके स्पर्धा यथा।

एता पश्य पुरस्थलीमिह किल क्रीडाकिरातो हरः
कोदण्डेन किरीटिना सरभसं चूडान्तरे ताडितः।

इत्याकर्ण्य कथाद्भुतं हिमनिधावद्रौ सुभद्रापते
मंदं मन्दमकारि येन निजयोर्दोर्दण्डयोर्मण्डलम् ।।
शौर्यशोभा यथा । ममैव ।
अन्त्रैः स्वैरपि संयताग्रचरणो मूर्च्छाविरामक्षणे
स्वाधीनव्रणिताङ्गशस्त्रनिचितो रोमोद्गमं वर्मयन् ।
भग्नानुद्वलयन् निजान् परभटान् सन्तर्जयन् निष्ठुरं
धन्यो धाम जयश्रियः पृथुरणस्तम्भे पताकायते ।।
दक्षशोभा । यथा वीरचरिते ।
स्फूर्जद्वज्रसहस्रनिर्मितमिव प्रादुर्भवत्यग्रतो
रामस्य त्रिपुरान्तकृद् दिविषदां तेजोभिरिद्धं धनुः ।
शुण्डारः कलभेन यद्वदचले वत्सेन दोर्दण्डक-
स्तस्मिन्नाहित एव गर्जितगुणं कृष्टं च भग्नं च तत् ।।
अथ विलासः ।
गतिः सधैर्या ·· ····सस्मितं वचः ।।१०।।
यथा ।
दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा
धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम् ।
कौमारकेऽपि गिरिवद् गुरुतां दधानो
वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एव ।।
अथ माधुर्यम् ।
श्लक्ष्णो ·······सुमहत्यपि ।
महत्यपि विकारहेतौ मधुरो विकारो माधुर्यम् । यथा ।
कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुषि
स्मरस्मेरं गण्डोद्‌डमरपुलकं वक्त्रकमलम् ।
मुहुः पश्यन् शृण्वन् रजनिचरसेनाकलकलं
जटाजूटग्रन्थिं द्रढयति रघूणां परिवृढः ।।
अथ गाम्भीर्यम् ।

गाम्भीर्यं ·········नोपलक्ष्यते ॥११॥

मृदुविकारोपलम्भाद् विकारानुपलब्धिरव्यक्तेति माधुर्यादन्यद् गाम्भीर्यम्। यथा।

आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः॥

अथ स्थैर्यम्।

व्यवसायाद०·········०कुलादपि।

यथा वीरचरिते।

प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात्।
न त्वेव दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम्।

अथ तेजः।

अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि॥१२॥

यथा।

ब्रूत नूतनकूष्माण्डफलानां के भवन्त्यमी।
अङ्गुलीदर्शनाद् येन न जीवन्ति मनस्विनः॥

अथ ललितम्।

शृङ्गाराकार·········ललितं मृदु।

स्वाभाविकः शृङ्गारो मृदुः। तथाविधा शृङ्गारचेष्टा च ललितम्। यथा ममैव।

लावण्यमन्मथविलासविजृम्भितेन
स्वाभाविकेन सुकुमारमनोहरेण।
किंवा ममैव सखि योऽपि ममोपदेष्टा
तस्यैव किं न विषमं विदधीत तापम्॥

अथौदार्यम्।

प्रियोक्त्या०·········०सदुपग्रहः॥१३॥

प्रियवचनेन सहाऽऽजीवितावधेर्दानमौदार्यं सतामुपग्रहश्च। यथा नागानन्दे।

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तम्
अद्यापि देहे मम मांसमस्ति।
तृप्तिं न पश्यामि तवैव तावत्
किं भक्षणात् त्वं विरतो गरुत्मन्॥

सदुपग्रहो यथा।

एते वयममी दाराः कन्येयं कुलजीवितम्।
ब्रूत येनात्र वः कार्यमनास्था बाह्यवस्तुषु॥

अथ नायिका।

स्वान्या ·········नायिका त्रिधा।

तद्गुणेति यथोक्तसम्भवे नायकसामान्यगुणयोगिनी नायिकेति। स्वस्त्री परस्त्री साधारणस्त्रीत्यनेन विभागेन त्रिधा।

तत्र स्वीयाया विभागगर्भं सामान्यलक्षणमाह।

मुग्धा ··· ···शीलार्जवादियुक्॥१४॥

शीलं सुवृत्तम्। पतिव्रताऽकुटिला लज्जावती पुरुषोपचारनिपुणा स्वीया नायिका।

तत्र शीलवती यथा।

[1]कुलबालिआए पेच्छह जोव्वणलायण्णविब्भमविलासा।
पवसन्ति व्व पवसिए एन्ति व्व पिये घर एत्ते॥

आर्जवादियोगिनी यथा।

[2]हसिअमविआरमुद्धं भमिअं विरहिअविलासमुच्छाअं।
भणिअं सहावसरलं धण्णाण घरे कलत्ताण॥

लज्जावती यथा।

---

१. कुलबालिकायाः प्रेक्षध्वं यौवनलावण्यविभ्रमविलासाः।
प्रवसन्तीव प्रवसिते आगच्छन्तीव प्रिये गृहमागते॥

२ हसितमविकारमुग्धं भ्रमितं विरहितविलाससुच्छायम्।
भणितं स्वभावसरलं धन्यानां गृहे कलत्राणाम्॥

[1]लज्जापज्जत्तपसाहणाइं परतित्तिणिप्पिवासाइं ।
अविणअदुम्मेहाइं धण्णाण घरे कलत्ताइं ॥

सा चैवंविधा स्वीया मुग्धामध्याप्रगल्भाभेदात् त्रिविधा ।

तत्र ।

मुग्धा नववयः..........मृदुः क्रुधि ।

प्रथमावतीर्णतारुण्यमन्मथा रमणे वामशीला मृदुकोपप्रसादना मुग्ध-नायिका ।

तत्र वयोमुग्धा यथा ।

विस्तारी स्तनभार एष गमितो न स्वोचितामुन्नति
रेखोद्भासिकृतं वलित्रयमिदं न स्पष्टनिम्नोन्नतम् ।
मध्येऽस्या ऋजुरायतार्धकपिशा रोमावली निर्मिता
रम्यं यौवनशैशवव्यतिकरोन्मिश्रं वयो वर्तते ॥

यथा च ममैव ।

उच्छ्वसन्मण्डलप्रान्तरेखमाबद्धकुड्मलम् ।
अपर्याप्तमुरोवृद्धेः शंसत्यस्याः स्तनद्वयम् ॥

कामयुग्धा यथा ।

दृष्टिः सालसतां बिभर्ति न शिशुक्रीडासु बद्धादरा
श्रोत्रे प्रेषयति प्रवर्तितसखीसम्भोगवार्तास्वपि ।
पुंसामङ्कमपेतशङ्कमधुना नारोहति प्राग् यथा
बाला नूतनयौवनव्यतिकरावष्टभ्यमाना शनैः ॥

रतवामा यथा ।

व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे
गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
सेवतेस्म शयनं पराङ्मुखी
सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥

---

१. लज्जापर्याप्तप्रसाधनानि परतृप्तिनिष्पिपासानि ।
अविनयदुर्मेधांसि धन्यानां गृहे कलत्राणि ॥

मृदुः कोपे यथा।

प्रथमजनिते बाला मन्यौ विकारमजानती
कितवचरिते नासज्याङ्के विनम्रभुजैव सा।
चिबुकमलिकं चोन्नम्योच्चैरकृत्रिमविभ्रमा
नयनसलिलस्यन्दिन्योष्ठैरुदन्त्यपि चुम्बिता॥

एवमन्येऽपि लज्जासंवृतानुरागनिबन्धना मुग्धाव्यवहारा निबन्धनीयाः यथा।

न मध्ये संस्कारं कुसुममपि बाला विषहते
न निश्वासं सुभ्रूर्जनयति सरङ्गव्यतिकरम्।
नवोढा पश्यन्ती लिखितमिव भर्तुः प्रतिमुखं
प्ररोहद्रोमाञ्चा न पिबति न पात्रं चलयति॥

अथ मध्या।

मध्योद्यद्यौ० ·········सुरतक्षमा॥१५॥

सम्प्राप्ततारुण्यकामा मोहान्तरतयोग्या मध्या।

तत्र यौवनवती यथा।

आलापान् भ्रूविलासो विरलयति लसद्बाहुविक्षिप्तियातं।
नीवीग्रन्थिं प्रथिम्ना प्रतनयति मनाङ्मध्यनिम्नो नितम्बः।
उत्पुष्यत्पार्श्वमूर्च्छत्कुचशिखरमुरो नूनमन्तः स्मरेण
स्पृष्टा कोदण्डकोट्या हरिणशिशुदृशो दृश्यते यौवनश्री॥

कामवती यथा।

स्मरनवनदीपूरेणोढाः पुनर्गुरुसेतुभि-
र्यदपि विधृतास्तिष्ठन्त्यारादपूर्णमनोरथाः।
तदपि लिखितप्रख्यैरङ्गैः परस्परमुन्मुखा
नयननलिनीनालानीतं पिबन्ति रसं प्रियाः।

मध्याप्रगल्भोक्ती यथा।

[1]ताव च्चिअ रइसमए महिलाण विब्भमा विराअन्ति।
जाव ण कुवलअदलसच्छहाइं मउलेन्ति णअणाइं॥

1. तावदेव रतिसमये महिलानां विभ्रमा विराजन्ते।
यावन्न कुवलयदलसच्छायानि मुकुलयन्ति नयनानि॥

अथ प्रगल्भा ।

यौवनान्धा······रताररभेऽप्यचेतना ॥१७॥

गाढयौवना । यथा ममैव ।

सम्पूर्णलक्षणमुरो नयने च दीर्घे

वक्त्रं भ्रुवावतितरां वचन हसोऽपि ।

मध्योऽपि च तनुरतीवगुरुर्नितम्बो

मन्दा गतिः किमपि चाद्भुतयौवनाया. ॥

यथा च ।

स्तनतटमिदमुत्तुङ्ग निम्नो मध्य समुन्नत जघनम् ।

विषमे मृगशावाक्ष्या वपुषि नवे क इव न स्खलति ॥

भावप्रगल्भा यथा ।

न जाने सम्मुखायाते प्रियाणि वदति प्रिये ।

सर्वाण्यङ्गानि किं यान्ति नेत्रतामुत कर्णताम् ॥

रतप्रगल्भा यथा ।

कान्ते तल्पमुपागते विगलिता नीवी स्वयं बन्धनात्

वास प्रश्लथमेखलागुणधृत किञ्चित् नितम्बे स्थितम् ।

एतावत् सखि वेद्मि केवलमहं तस्याऽङ्गसङ्गे पुन

कोऽसौ काऽस्मि रत नु किं कथमिति स्वल्पाऽपि मे न स्मृति. ॥

एवमन्येऽपि परित्यक्तह्रीयन्त्रणावैदग्ध्यप्राया प्रगल्भाव्यवहारा वेदितव्या । यथा ।

क्वचित् ताम्बूलाक्त क्वचिदगरुपङ्काङ्कमलिनः

क्वचिच्चूर्णोद्गारी क्वचिदपि च सालक्तकपद ।

वलीभङ्गाभोगैरलकपतितै शीर्णकुसुमैः

स्त्रिया सर्वावस्थ कथयति रत प्रच्छदपटः ॥

अथाऽस्या. कोपचेष्टा ।

सावहित्यादरोदास्ते ······तं वदेत् ।

सहाऽवहित्थेनाऽऽकारसवरणेनाऽऽदरेण चोपचाराधिक्येन वर्तते सा

दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्याऽऽदराद्
एकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छल ।
ईषद्वक्रितकन्धर सपुलक प्रेमोल्लसन्मानसाम्
अन्तर्हासलसत्कपोलफलका धूर्तोऽपरा चुम्बति ॥

न चाऽस्यमोर्दाक्षिण्यप्रेमभ्यामेव व्यवहार । अपितु प्रेम्णाऽपि । यथा चैतत् तथोक्त दक्षिणलक्षणावसरे । (एषा च धीरमध्याधीरमध्याधीराधीरमध्याधीरप्रगल्भाधीरप्रगल्भाधीराधीरप्रगल्भभेदाना प्रत्येक ज्येष्ठाकनिष्ठाभेदात् द्वादशाना वासवदत्तारत्नावलीवद् प्रबन्धनायिकानामुदाहरणानि महाकविप्रबन्धष्वनुसर्तव्यानि ।)

अथाऽन्यस्त्री ।

अन्यस्त्री······कुर्यादङ्गाङ्गिसंश्रयम् ॥१९॥

नायकान्तरसम्बन्धिनी अन्योढा । यथा ।

दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मिन् गृहे दास्यसि
प्रायेणाऽस्य शिशो पिता न विरसा कौपीरप पास्यति ।
एकाकिन्यपि यामि तद् वरमित स्रोतस्तमालाकुल
नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदानलग्रन्थय ॥

इयं त्वङ्गित्वे प्रधाने रसे न क्वाचित् निबन्धनीयेति न प्रपञ्चिता। कन्यका तु पित्राद्यायत्तत्वादपरिणीताप्यन्यस्त्रीत्युच्यते । तस्या पित्रादिभ्योऽलभ्यमानाया पुनर्नायकापि पराऽपरोधस्ववान्ताभयात् प्रच्छन्नं कामित्व प्रवर्तते । यथा मालत्या माधवस्य सागरिकाया च वत्सराजस्येति। तदनुरागश्च स्वेच्छया प्रधानाप्रधानरससमाश्रयो निबन्धनीय । यथा रत्नावलीनागानन्दयो सागरिकामलयवत्यनुराग इति ।

साधारणस्त्री······॰प्रागल्भ्यधौर्त्ययुक्

तद्व्यवहारो विस्तरतः शास्त्रान्तरे निर्दिष्ट । दिङ्मात्र तु ।

छन्नकाम॰······॰पण्डकान् ॥२०॥

रक्तैव·········मातृविवासयेत् ।

छन्न ये कामयन्ते ते छन्नकामा श्रोत्रियवणिग्लिङ्गिप्रभृतय । सुखार्थोऽप्रयासावाप्तधन मुखप्रयोजनो या । मज्ञो मूर्ख । स्वतन्त्रा निरङ्कुश । अहंयुरहङ्कृत । पण्डको वातपण्डादि । एतान् बहुवित्तान् स्नेव रञ्जयेदर्थार्थम् । तत्प्रधानत्वात् तद्वृत्ते । गृहीतार्थान् कुट्टन्यादिना निष्कासयेत् पुन प्रतिसन्धानाय । इद तासामौत्सर्गिक रूपम् ।

रूपकेषु तु ।

रक्तैव ······ दिव्यनृपाश्रये ॥२१॥

प्रहसनवर्जिते प्रकरणादौ रक्तैवैषा विधेया । यथा मृच्छकटिकाया वसन्तसेना चारुदत्तस्य । प्रहसने त्वरक्ताऽपि हास्यहेतुत्वात् । नाटकादौ तु दिव्यनृपनायके नैव विधेया ।

अथ भेदान्तराणि ।

आसामष्टा० ··· ·· ·०पतिकादिका ।

स्वाधीनपतिका वासकसज्जा विरहोत्कण्ठिता खण्डिता कलहान्तरिता विप्रलब्धा प्रोषितप्रियाऽभिसारिकेत्यष्टौ स्वस्त्रीप्रभृतीनामवस्था । नायिकाप्रभृतीनामप्यवस्थान्तरत्वे सत्यवस्थान्तराभिधान पूर्वासा धर्मित्वप्रतिपादनायाऽष्टाविति न्यूनाधिकव्यवच्छेदः । न च वासकसज्जादे स्वाधीनपतिकादावन्तर्भाव । प्रनासन्नप्रियत्वाद् वासकसज्जाया न स्वाधीनपतिकात्वम् । यदि चैष्यत्प्रियाऽपि स्वाधीनपतिका प्रोषितप्रियाऽपि न पृथग् वाच्या । न चैयता व्यवधानेनाऽसत्तिरिति नियन्तु शक्यम् । न चाऽविदितप्रियव्यलीकाया खण्डिताव नाऽपि प्रवृत्तरतिभोगेच्छाया प्रोषितप्रियात्व स्वयमगमनात् नायक प्रत्यप्रयोजकत्वात् नाऽभिसारिकात्वम् । एवमुत्कण्ठिताऽप्यन्यैव पूर्वाभ्य । श्रौचित्यप्राप्तप्रियागमनसमयातिवृत्तिविधुरा न वासकसज्जा । तथा विप्रलब्धाऽपि वासकसज्जादन्यैव पूर्वाभ्य । उक्त्वा नायात इति प्रतारणाविषयाच् च वासकसज्जोत्कण्ठितयो पृथक् । कलहान्तरिता तु यद्यपि विदितव्यलीका तथाप्यगृहीतप्रियानुनया पश्चात्तापप्रकाशितप्रसादा पृथगेव खण्डिताया । तत् स्थितमेतदष्टावस्था इति ।

तत्र ।

आसन्नायत्त०·········०स्वाधीनभर्तृका ॥२२॥

यथा ।

> मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति
> कान्तस्वहस्तलिखिता मम मञ्जरीति ।
> अन्यापि किं न सखि भाजनमीदृशानां
> वैरी न चेद् भवति वेपथुरन्तरायः ॥

अथ वासकसज्जा ।

मुदा वासकसज्जा स्वं मण्डयत्येष्यति प्रिये ।

स्वमात्मानं वेश्म च हर्षेण भूषयत्येष्यति प्रिये । वासकसज्जा यथा ।

> निजपाणिपल्लवतटस्खलनाद्
> अभिनासिकाविवरमुत्पतितैः ।
> अपरा परीक्ष्य शनकैर्मुमुदे
> मुखवासमास्यकमलश्वसनैः ॥

अथ विरहोत्कण्ठिता ।

चिरयत्य०·······०विरहोत्कण्ठितोन्मनाः ॥२३॥

यथा ।

> सखि स विजितो वीणावाद्यैः कयाऽप्यपरस्त्रिया
> पणितमभवत् ताभ्यां तत्र क्षपाललितं ध्रुवम् ।
> कथमितरथा सेफालीषु स्खलत्कुसुमास्वपि
> प्रसरति नभोमध्येऽपीन्दौ प्रियेण विलम्ब्यते ॥

अथ खण्डिता ।

ज्ञातेऽन्या०······०कषायिता ।

यथा ।

> नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन
> स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम् ।
> प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशंसी विसर्पन्
> नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम् ॥

अथ कलहान्तरिता।

कलहान्तरिता०······०ऽनुशयार्तियुक् ॥२४॥

यथा।

> निःश्वासा वदनं दहन्ति हृदयं निर्मूलमुन्मथ्यते
> निद्रा नैति न दृश्यते प्रियमुखं नक्तन्दिवं रुद्यते।
> अङ्गं शोषमुपैति पादपतितः प्रेयांस्तथोपेक्षितः
> सख्यः कं गुणमाकलय्य दयिते मानं वयं कारिताः॥

अथ विप्रलब्धा।

विप्रलब्धोक्तसमयमप्राप्तेऽतिविमानिता।

यथा।

> उत्तिष्ठ दूति यामो यामो यातस्तथापि नाऽऽयातः।
> याऽतः परमपि जीवेज् जीवितनाथो भवेत् तस्याः॥

अथ प्रोषितप्रिया।

दूरदेशान्तरस्थे ·········प्रोषितप्रिया।

यथाऽमरुशतके।

> आदृष्टिप्रसरात् प्रियस्य पदवीमुद्वीक्ष्य निर्विण्णया
> विश्रान्तेषु पथिष्वहः परिणतौ ध्वान्ते समुत्सर्पति।
> दत्त्वैकं सशुचा गृहं प्रति पदं पान्थस्त्रियाऽस्मिन् क्षणे
> माऽभूदागत इत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितम्॥

अथाऽभिसारिका।

कामार्ताऽ० ·· · ··०ऽभिसारिका ॥२५॥

यथाऽमरुशतके।

> उरसि निहितस्तारो हारः कृता जघने घनं
> कलकलवती काञ्ची पादौ रणन्मणिनूपुरौ।
> प्रियमभिसरस्येवं मुग्धे त्वमाहतडिण्डिमा
> यदि किमधिकत्रासोत्कम्पं दिशः समुदीक्षसे॥

यथा च।

न च मेऽवगच्छति यथा लघुता
करुणा यथा च कुरुते स मयि ।
निपुणं तथैनमुपगम्य वदे
रभिदूति काचिदिति सन्दिदिशे ॥

तत्र ।

चिन्तानि श्वास·· ···क्रीडोज्ज्वलप्रहर्षिते ॥२६॥

परस्त्रियौ तु कन्यकोढे । सङ्केतात् पूर्वं विरहोत्कण्ठिते पश्चाद् विदूषकादिना सहाऽभिसरन्त्याभिसारिके । कुतोऽपि सङ्केतस्थानमप्राप्ते नायके विप्रलब्धे इति व्यवस्थितैवाऽनयोरिति । अस्वाधीनप्रिययोरवस्थान्तरायोगात् । यत् तु मालविकाग्निमित्रादौ योऽप्येव धीर सोऽपि दृष्टा देव्याः पुरत इति मालविकावचनानन्तरम् । राजा

दाक्षिण्य नाम बिम्बोष्ठि नायकानां कुलव्रतम् ।
तन् मे दीर्घाक्षि ये प्राणास्त त्वदाशानिबन्धनाः ॥

इत्यादि तन् न खण्डितानुनयाभिप्रायेणाऽपितु सर्वथा मम देव्यधीनत्वमाशङ्क्य निराशा माभूदिति कन्याविश्रम्भणायेति । तथाऽनुपसञ्जातनायकसमागमाया देवान्तरव्यवधानेऽप्युत्कण्ठितात्वमेवेति न प्रोषितप्रियात्व मनायत्तप्रियत्वादेवेति ॥

भयाऽऽसां सहायिन्य ।

दूत्यो ···· नेतृमित्रगुणान्विताः ॥२७॥

दासी परिचारिका । सखी स्नेहनिबद्धा । कारू रजकीप्रभृति । धात्रेयी उपमातृसुता । प्रतिवेशिका प्रतिगृहिणी । लिङ्गिनी भिक्षुक्यादिका । शिल्पिनी चित्रकारादिस्त्री । स्वयं चेति दूतीविशेषाः । नायकमित्राणां पीठमर्दादीनां निसृष्टार्थत्वादिना गुणेन युक्ताः । तथा च मालतीमाधवे कामन्दकीं प्रति ।

शास्त्रेषु निष्ठा सहजश्च बोधः प्रागल्भ्यमभ्यस्तगुणा च वाणी
कालानुरोधः प्रतिभानवत्त्वमेते गुणाः कामदुघाः क्रियासु ॥

तत्र सखी। यथा।

मृगशिशुदृशस्तस्यास्तापं कथं कथयामि ते
दहनपतिता दृष्टा मूर्त्तिर्मया न हि वैधवी।
इति तु विदितं नारीरूपः स लोकदृशां सुधा
तव शठतया शिल्पोत्कर्षो विधेर्विघटिष्यते॥

यथा च।

[1]सच्चं जाणइ दट्ठुं सरिसम्मि जणम्मि जुज्जए राओ।
मरउ ण तुमं भणिस्सं मरणं पि सलाहणिज्जं से॥

स्वयं दूती। यथा।

[2]महु एहि किं णिवालअ हरसि णिअं वाउ जइ वि मे सिचअं।
साहेमि कस्स सुन्दर दूरे गामो अहं एक्का॥

इत्याद्यूह्यम्।

अथ योषिदलङ्कारा।

यौवने·········विंशतिः।

यौवने सत्त्वोद्भूता विंशतिरलङ्कारा स्त्रीणां भवन्ति।

तत्र।

भावो·········शरीरजा॥२८॥

शोभा·········प्रयत्नजा॥२९॥

तत्र भावहावहेलास्त्रयोऽङ्गजा। शोभा कान्तिर्दीप्तिर्माधुर्यं प्रागल्भ्यमौदार्यं धैर्यमित्ययत्नजा सप्त।

लीला·········स्वभावजाः॥३०॥

तानेव निर्दिशति।

निर्विकारात्मकात्०·········०ऽऽद्यविक्रिया।

---

1. सत्यं जानाति द्रष्टुं सदृशे जने युज्यते रागः।
   म्रियतां न त्वां भणिष्यामि मरणमपि श्लाघनीयमस्याः॥
2. मुहुरेहि किं निवारक हरसि निजं वायो यद्यपि मे सिचयं।
   साधयामि कस्य सुन्दर दूरे ग्रामोऽहमेका॥

तत्र विकारहेतौ सत्यपि अविकारक सत्त्वम् । यथा कुमारसम्भवे ।

श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन्
हर प्रसङ्ख्यानपरो बभूव ।
आत्मेश्वराणां न हि जातु विघ्ना.
समाधिभेदप्रभवो भवन्ति ॥

तस्मादविकाररूपात् सत्त्वाद् य प्रथमो विकारोऽन्तर्विपरिवर्ती बीजस्योच्छूनतेव स भाव । यथा ।

दृष्टि. सालसतां बिभर्ति न शिशुक्रीडासु बद्धादरा
श्रोत्रे प्रेषयति प्रवर्तितसखीसम्भोगवार्त्तास्वपि ।
पुंसामङ्कमपेतशङ्कमधुना नाऽऽरोहति प्राक् यथा
बाला नूतनयौवनव्यतिकरावष्टभ्यमाना शनैः ॥

यथा वा कुमारसम्भवे ।

हरस्तु किञ्चित् परिलुप्तधैर्य
श्चन्द्रोदयारम्भ इवाऽम्बुराशि ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे
व्यापारयामास विलोचनानि ॥

यथा वा ममैव ।

[1]त च्चिअ वअणं ते च्चेअ लोअणे जोव्वण पि त च्चेअ ।
अण्णा अणङ्गलच्छी अण च्चिअ किं पि साहेइ ।

अथ हावः ।

हेवाकसस्तु·········विकारकृत् ॥३१॥

प्रतिनियताङ्गविकारकारी शृङ्गार स्वभावविशेषो हावः । यथा ममैव ।

---

१. तदेव वचनं ते चैव लोचने यौवनमपि तदेव ।
अन्यानङ्गलक्ष्मीरन्यदेव किमपि साधयति ॥

[1]ज किं पि पेच्छमाणा भणमाणा रे ज्हा तह च्चेय ।
णिद्धुन्नय स्नेहमुद्ध वअस्स मुद्धं णिअच्छेहि ॥

अथ हेला ।

स एव हेला.........सूचिका ।

हाव एव स्पष्टभूयोविकारत्वात् सुव्यक्तशृङ्गाररसनूचको हेला । यथा ममैव ।

[2]तह झत्ति से पअत्ता सव्वङ्ग विब्भमा थणुब्भेए ।
ससइअबालभावा होइ चिरं जह सहीण वि ॥

अथाऽयत्नजाः सप्त । तत्र शोभा ।

रूपोपभोग०..... ०विभूषणम् ॥३२॥

यथा कुमारसम्भवे ।

ता प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य बाला
क्षणं व्यलम्बन्त पुरो निषण्णाः ।
भूतार्थशोभाह्रियमाणनेत्राः
प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्यः ॥

इत्यादि । यथा च शाकुन्तले ।

अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥

अथ कान्ति ।

मन्मथाप्यायितच्छाया सैव कान्तिरिति स्मृता ।

शोभैव रागावतारघनीकृता कान्तिः । यथा ।

1 यत् किमपि प्रेक्षमाणा भणमाना रे यथा तथैव ।
निर्व्याज स्नेहमुग्धा वयस्य मुग्धा पश्य ॥

2. तथा झटित्यस्याः प्रवृत्ताः सर्वाङ्गं विभ्रमाः स्तनोद्भेदे ।
संशयितबालभावा भवति चिरं यथा सखीनामपि

उन्मीलद्वदनेन्दुदीप्तिविसरैर्दूरे समुत्सारितं
भिन्नं पीनकुचस्थलस्य च रुचा हस्तप्रभाभिर्हतम् ।
एतस्या कलविङ्ककण्ठकदलीकल्पं मिलत्कौतुकाद्
अप्राप्ताङ्गसुखं रुषेव सहसा केशेषु लग्नं तमः ॥

यथा हि महाश्वेतावर्णनावसरे भट्टबाणस्य ।

अथ माधुर्यम् ।

अनुल्बणत्वं माधुर्यं

यथा शाकुन्तले ।

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनाऽपि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनाऽपि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाऽऽकृतीनाम् ॥

अथ दीप्तिः ।

दीप्तिः कान्तेस्तु विस्तरः ॥३३॥

यथा ।

[1]देआ पसिअ णिअत्तसु मुहससिजोण्हाविलुत्ततमणिवहे ।
अहिसारिआण विग्घं करसि अण्णाण वि हआसे ॥

अथ प्रागल्भ्यम् ।

निःसाध्वसत्वं प्रागल्भ्यं

मनःक्षोभपूर्वकोऽङ्गसादः साध्वसं तदभावः प्रागल्भ्यम् । यथा ममैव ।

तथा व्रीडा विधेयाऽपि तथा मुग्धाऽपि सुन्दरी ।
कलाप्रयोगचातुर्ये सभास्वाचार्यकं गता ॥

अथौदार्यम् ।

औदार्यं प्रश्रयः सदा ।

[1]देवात् दृष्ट्वा नितान्तसुमुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे ।
अभिसारिकाणां विघ्नं करोषि अन्यासां विहताशे ॥

यथा ।

[1]दिअहं नु दुक्खिआए सअलं काऊण गेहवावारं ।
गरुएवि मण्णुदुक्खे भरिमो पाअन्तसुत्तस्स ॥

यथा वा । भ्रूभङ्गे सहसोद्गतेत्यादि ।

अथ धैर्यम् ।

चापलाविहता०..........०विकत्थना ॥३४॥

चापलानुपहता मनोवृत्तिरात्मगुणानामनास्थाविका धैर्यमिति । यथा मालतीमाधवे ।

ज्वलतु गगने रात्रौ रात्रावखण्डकल: शशी
दहतु मदनः किंवा मृत्योः परेण विधास्यति ।
मम तु दयित: श्लाघ्यस्तातो जनन्यमलान्वया
कुलममलिनं न त्वेवायं जनो न च जीवितम् ॥

अथ स्वाभाविका दश । तत्र

प्रियानुकरण०..........०विचेष्टितैः ।

प्रियकृतानां वाग्वेषचेष्टानां शृङ्गारिणीनामङ्गनाभिरनुकरणं लीला । यथा ममैव ।

[2]तह दिट्ठं तह भणिअं ताए णिअदं तहा तहा सीणं ।
अवलोइअ सतण्हं सविब्भमं जह सवत्तीहिं ॥

यथा वा ।

तेनोदितं वदति याति तथा यदासौ ।

इत्यादि ।

अथ विलासः ।

तात्कालिको०..........०क्रियादिषु ॥३५॥

---

१. दिवसं खलु दुःखितायाः सकलं कृत्वा गृहव्यापारम् ।
गुरुण्यपि मन्युदुःखे भरिमा पादान्ते सुप्तस्य ॥

२. तथा दृष्टं तथा भणितं तया नियतं तथा तथा सीनं ।
अवलोकितं सतृष्णं सविभ्रमं यथा सपत्नीभिः ॥

दयितावलोकनादिकालेऽङ्गे क्रियाया वचने च सातिशयविशेषोत्पत्ति विलास । यथा मालतीमाधवे ।

अत्रान्तरे किमपि वाग्विभवातिवृत्त-
वैचित्र्यमुल्लसितविभ्रममायताक्ष्याः ।
तद् भूरिसात्त्विकविकारविशेषरम्यम्
आचार्यक विजयि मान्मथमाविरासीत् ॥

अथ विच्छित्ति: ।

आकल्परचना०··········०पोषकृत् ।

स्तोकोऽपि वेषो बहुतरकमनीयताकारी विच्छित्ति । यथा कुमारसम्भवे ।

कर्णार्पितो रोध्रकषायरूक्षे
गोरोचनाभेदनितान्तगौरे ।
तस्या कपोले परभागलाभाद्
बबन्ध चक्षूषि यवप्ररोह

अथ विभ्रम ।

विभ्रमस्त्वरया··········विपर्यय: ॥३६॥

यथा ।

अभ्युद्गते शशिनि पेशलकान्तदूती-
सलापसचलितलोचनमानसाभि ।
अग्राहि मण्डनविधिर्विपरीतभूषा-
विन्यासहासितसखीजनमङ्गनाभि ॥

यथा वा ममैव ।

श्रुत्वाऽऽयात बहि का-तमसमाप्तविभूषया ।
भालेऽञ्जन दृशोर्लाक्षा कपोले तिलक: कृत ॥

अथ किलकिञ्चितम् ।

क्रोधाश्रु··· ··· किलकिञ्चितम् ।

यथा ममैव ।

रतिक्रीडाद्यूते कथमपि समासाद्य समयं
मया लब्धे तस्याः क्वणितकलकण्ठार्धमधरे ।
कृतभ्रूभङ्गासौ प्रकटितविलासार्धरुदित-
स्मितक्रोधोद्भ्रान्तं पुनरपि विदध्यान् मयि मुखम् ॥

अथ मोट्टायितम् ।

मोट्टायित ·········कथादिषु ॥३७॥

इष्टकथादिषु प्रियतमकथानुकरणादिषु प्रियानुरागेण भावितान्तःकरणत्वं मोट्टायितम् । यथा पद्मगुप्तस्य ।

चित्रवर्तिन्यपि नृपे तत्त्वावेशेन चेतसि ।
व्रीडार्धवलितं चक्रे मुखेन्दुमवशैव सा ॥

यथा वा ।

मातः कं हृदये निधाय सुचिरं रोमाञ्चिताङ्गी मुहु-
र्जृम्भामन्थरतारका सुललितापाङ्गा दधाना दृशम् ।
सुप्तेवाऽऽलिखितेव शून्यहृदया लेखावशेषीभव-
स्यात्मद्रोहिणि किं ह्रिया कथय मे गूढो निहन्ति स्मरः ॥

यथा वा ममैव ।

स्मरदवथुनिमित्तं गूढमुन्नेतुमस्या
सुभग तव कथायां प्रस्तुतायां सखीभिः ।
भवति विततपृष्ठादस्तपीनस्तनाग्रा
ततवलयितबाहुर्जृम्भितैः साङ्गभङ्गैः ॥

अथ कुट्टमितम् ।

सानन्दान्तः ·········केशाधरग्रहे ।

यथा ।

नान्दीपदानि रतिनाटकविघ्नमाणाम्
प्रासाक्षराणि परमाण्यथवा स्मरस्य ।
दष्टेऽधरे प्रणयिना विधुताग्रपाणेः
सीत्कारशुष्करुदितानि जयन्ति नार्याः ॥

अथ बिब्बोक ।

गर्वाभिमाना०··········०ऽनादरक्रिया ॥३८॥

यथा ममैव ।

सव्याज तिलकालकान् विरलयल् लोलाङ्गुलि' सस्पृशन्
वारवारमुदञ्चयन् कुचयुगप्रोदञ्चिनी लाञ्चलम् ।
यद् भ्रूभङ्गतरङ्गिताञ्चितदृशा सावज्ञमालोकितम्
तद्गर्वादवधीरितोऽस्मि न पुनः कान्ते कृतार्थीकृत ॥

अथ ललितम् ।

सुकुमाराङ्ग··········भवेत् ।

यथा ममैव ।

सभ्रूभङ्ग करकिसलयावर्तनैरालपन्ती
सा पश्यन्ती ललितललित लोचनस्याऽञ्चलेन ।
विन्यस्यन्ती चरणकमले लीलया स्वैरयातै-
र्नि सङ्गीत प्रथमवयसा नर्तिता पङ्कजाक्षी ॥

अथ विहृतम् ।

प्राप्तकाल न ·· ·· हि तत् ॥३६॥

प्राप्तावसरस्याऽपि वाक्यस्य लज्जया यदवचन तद् विहृतम् । यथा ।

पादाङ्गुष्ठेन भूमि किसलयरुचिना सापदेश लिखन्ती
भूयो भूय क्षिपन्ती मयि सितशबले लोचने लोलतारे ।
वक्त्र ह्रीनम्रमीषत्स्फुरदधरपुट वाक्यगर्भं दधाना
यन् मा नोवाच किञ्चित् स्थितमपि हृदये मानस तद्दुनोति ॥

अथ नेतु कार्यान्तरसहायानाह ।

मन्त्री०··········०तस्यार्थचिन्तने ।

तस्य नतुरर्थचिन्तायां तन्त्रावापादिलक्षणायां मन्त्री वाऽऽत्मा वोभय वा सहाय ।

तत्र विभागमाह ।

मन्त्रिणा ·· ·····सिद्धय: ॥४०॥

वैदग्ध्यक्रीडितं······विहितं त्रिधा ॥४५॥

आत्मोपक्षेप सम्भोगमानैः·········नर्माऽष्टादशधोदितम् ॥४६॥

अग्राम्य इष्टजनावर्जनरूप परिहासो नर्म। तच्च शुद्धहास्येन स शृङ्गारहास्येन सभयहास्येन च रचित त्रिविधम्। शृङ्गारवदपि स्वानुरागनिवेदनसम्भोगेच्छाप्रकाशनसापराधप्रियप्रतिभेदनैस्त्रिविधमेव। भयनर्मापि शुद्ध रसान्तराङ्गभावाद् द्विविधम्। एव षड्विधस्य प्रत्येक वाग्वेषचेष्टा व्यतिकरेणाऽष्टादशविधत्वम्।

तत्र वचोहास्यनर्म यथा।

पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन
स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम्।
सारञ्जयित्वा चरणौ कृताशी-
र्माल्येन ता निर्वचन जघान ॥

वेषनर्म यथा नागानन्दे विदूषकशेखरकव्यतिकरे। क्रियानर्म यथा मालविकाग्निमित्रे उत्स्वप्नायमानस्य विदूषकस्योपरि निपुणिका सर्पभ्रमकारण दण्डकाष्ठ पातयति। एव वक्ष्यमाणेष्वपि वाग्वेषचेष्टापरत्वमुदाहार्यम्।

शृङ्गारवदात्मोपक्षेपनर्म यथा।

मध्याह्नं गमय त्यज श्रमजल स्थित्वा पयः पीयता
मा शून्येति विमुञ्च पान्थ विवश शीतः प्रपामण्डपः।
तामेव स्मर घस्मरस्मरशरत्रस्ता निजप्रेयसी
त्वच्चित्त तु न रञ्जयन्ति पथिक प्रायः प्रपापालिकाः ॥

सम्भोगनर्म यथा।

[1]सालोए च्चिअ सूरे घरिणी घरसामिअस्स घेत्तूण।
णेच्छन्तस्स वि पाए धुअइ हसन्ती हसन्तस्स ॥

मानर्म यथा।

१. सालोके एव सूर्ये गृहिणी गृहस्वामिकस्य गृहीत्वा।
अनिच्छतोऽपि पादौ धुनोति हसन्ती हसतः ॥

तदविनयमवादीर्यन् मम त्व प्रियेति
प्रियजनपरिभुक्त यद् दुकूल दधानः ।
मदधिवसति मागा कामिना मण्डनश्री-
र्व्रजति हि सफलत्व वल्लभालोकनेन ॥

भयनर्म यथा रत्नावल्यामालेख्यदर्शनावसरे । सुसङ्गता । [1]जाणिदो मए एसो सव्वो वुत्तन्तो मम चित्तफलहएण ता देवीए णिवेदइस्सम्मिन्यादि ।

शृङ्गाराङ्ग भयनर्म । यथा ममैव ।

अभिव्यक्तालीक सकलविफलोपायविभव-
श्चिर ध्यात्वा सद्य कृतकृतकसरम्भनिपुणम् ।
इत पृष्ठे पृष्ठे किमिदमिति सत्रास्य सहसा
कृताश्लेष धूर्त स्मितमधुरमालिङ्गति वधूम् ॥

अथ नर्मस्फिञ्ज ।

नर्मस्फिञ्ज..........नवसङ्गमे ।

यथा मालविकाग्निमित्रे सङ्केते नायकमभिसृताया नायिकाया नायकः ।

विसृज सुन्दरि सङ्गमसाध्वस
ननु चिरात् प्रभृति प्रणयोन्मुखे ।
परिगृहाण गते सहकारता
त्वमतिमुक्तलताचरित मयि ॥

मालविका । [2]भट्टा देवीए भयेण अत्तणो वि पिअ काउ ण पारेमीत्यादि ।

अथ नर्मस्फोट ।

नर्मस्फोटस्तु लवै. ॥४७॥

यथा मालतीमाधवे । मकरन्द ।

---

१. ज्ञातो मयैष सर्वो वृत्तान्त सह चित्रफलकेन तत् देव्यं निवेदयिष्यामि ।
२. भर्त, देव्या भयेनात्मनोऽपि प्रियं कर्तुं न पारयामि ।

गमनमलस शून्या दृष्टि शरीरमसौष्ठव
श्वसितमधिक किं न्वेतत् स्यात् किमन्यदतोऽन्यथा ।
भ्रमति भुवने कन्दर्पाज्ञा विकारि च यौवन
ललितमधुरास्ते ते भावा क्षिपन्ति च धीरताम् ॥

इत्यत्र गमनादिभिर्भावलेशैर्माधवस्य मालत्यामनुराग स्तोक प्रकाश्यते ।

अथ नर्मगर्भ. ।

छन्ननेत्र०·······कैशिकी ॥४८॥

यथाऽमरुशतके ।

दृष्ट्वैकासनसस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्याऽऽदराद
एकस्या नयने निमील्य विहितक्रीडानुबन्धच्छल !
ईषद्वक्रितकन्धर. सपुलक प्रेमोल्लसन्मानसाम्
अन्तर्हासलसत्कपोलफलका धूर्तोऽपरा चुम्बति ॥

यथा प्रियदर्शिकाया गर्भाङ्के वत्सराजवेषसुसङ्गतास्थाने साक्षाद् वत्सराजप्रवेश ।

अथ सात्वती ।

विशोका ···· परिवर्तकः ॥४९॥

शोकहीन सत्त्वशौर्यत्यागदयाहर्षादिभावोत्तरो नायकव्यापार सात्वती । तदङ्गानि च सलापोत्थापकसाङ्घात्यपरिवर्तकाख्यानि ।

तत्र ।

संलापको·············मिथ. ।

यथा वीरचरिते । राम । अथ स य किल सपरिवारकार्तिकेय-विजयावर्जितेन भगवता नीललोहितेन परिवत्सरसहस्रान्तेवासिने तुभ्य प्रसादीकृत. परशु । परशुरामः । राम राम दाशरथे स एवाऽयमाचार्य-पादाना प्रिय परशु ।

शस्त्रप्रयोगखुरलीकलहे गणाना
सैन्यैर्वृतो विजित एव मया कुमार ।

एतावताऽपि परिरभ्य कृतप्रसादः
प्रादादमुं प्रियगुणो भगवान् गुरुर्मे ॥

इत्यादिनानाप्रकारमार्दवेन रामपरशुरामयोरन्योन्यगौरववचसा संलाप इति ।

अथोत्थापकः ।

उत्थापकस्तु.........परम् ॥५०॥

यथा वीरचरिते ।

आनन्दाय च विस्मयाय च मया दृष्टोऽसि दुःखाय वा
वैतृष्ण्यं नु कुतोऽद्य सम्प्रति मम त्वद्दर्शने चक्षुषः ।
त्वत्साङ्गत्यसुखस्य नास्मि विषयः किं वा बहुव्याहृतै-
रस्मिन् विश्रुतजामदग्न्यविजये बाहौ धनुर्जृम्भताम् ॥

अथ साङ्घात्यः ।

मन्त्रार्थ.......... सङ्घभेदनम् ।

मन्त्रशक्त्या । यथा मुद्राराक्षसे राक्षससहायादीनां चाणक्येन स्वबुद्ध्या भेदनम् । अर्थशक्त्या तत्रैव । यथा पर्वतकाभरणस्य राक्षसहस्तगमनेन मलयकेतुमहोत्थायिभेदनम् । दैवशक्त्या तु । यथा रामायणे रामस्य दैवशक्त्या रावणाद् विभीषणस्य भेद इत्यादि ।

अथ परिवर्तकः ।

प्रारब्धोत्थान०.......परिवर्तकः ॥५१॥

प्रस्तुतस्योद्योगकार्यस्य परित्यागेन कार्यान्तरकरणं परिवर्तकः । यथा वीरचरिते ।

हेरम्बदन्तमुसलोल्लिखितैकभित्ति-
वक्षो विशाखविशिखव्रणलाञ्छनं मे ।
रोमाञ्चकञ्चुकितमद्भुतवीरलाभाद्
यत् सत्यमद्य परिरब्धुमिवेच्छति त्वाम् ॥

राम । भगवन् परिरम्भणमिति प्रस्तुतप्रतीपमेतदित्यादि ।

सात्वतीमुपसंहरन्नारभटीलक्षणमाह ।

एभिरङ्गैश्च० '' '''वस्तूत्थानावपातने ॥५२॥

मायामन्त्रबलेनाऽविद्यमानवस्तुप्रकाशनम् । तन्त्रबलादिन्द्रजालम् ।

तत्र ।

सङ्क्षिप्तवस्तु''''''नेत्रन्तरपरिग्रह. ॥५३॥

मृद्वंशदलचर्मादिद्रव्योगेन वस्तूत्थापन सङ्क्षिप्ति । यथोदयनचरिते किलिञ्जहस्तिप्रयोग । पूर्वनायकावस्थानिवृत्त्याऽवस्थान्तरपरिग्रहमन्ये सङ्क्षिप्तिका मन्यन्ते । यथा बालिनिवृत्त्या सुग्रीव । यथा च परशुरामस्यौद्धत्यनिवृत्त्या शान्तत्वापादन पुण्या ब्राह्मणजातिरित्यादिना ।

अथ सम्फेट ।

सम्फेटस्तु'''''''' सरब्धयोर्द्वयोः ।

यथा माधवाघोरघण्टयोर्मालतीमाधवे । इन्द्रजिल्लक्ष्मणयोश्च रामायणप्रतिबद्धवस्तुषु ।

अथ वस्तूत्थापनम् ।

मायाद्युत्थापित वस्तु वस्तूत्थापनमिष्यते ।

यथोदात्तराघवे ।

> जीयन्ते जयिनोऽपि सान्द्रतिमिरव्रातैर्वियद्व्यापिभि-
> र्भास्वन्त सकलारवेरपि रुच कस्मादकस्मादमी ।
> एताश्चोग्रकबन्धरन्ध्र रुधिरैराध्मायमानोदरा
> मुञ्चन्त्याननकन्दरानलमुचस्तीव्रा रवा फेरवा ॥

इत्यादि ।

अथाऽवपात ।

अवपातस्तु''''''''''विद्रवः ॥५४॥

यथा रत्नावल्याम् ।

> कण्ठे कृत्वाऽवशेष कनकमयमध शृङ्खलादाम कर्षन्
> क्रान्त्वा द्वाराणि हेलाचलचरणकलत्किङ्किणीचक्रवालः ।
> दत्तातङ्को गजानामनुसृतसरणि सम्भ्रमादश्वपालैः
> प्रभ्रष्टोऽय प्लवङ्गः प्रविशति नृपतेर्मन्दिर मन्दुरात. ॥

नष्ट वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादकृत्वा त्रपाम्
अन्त कञ्चुकि कञ्चुकस्य विशति त्रासादय वामन' ।
पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृश नाम्न' किरातै' कृत
कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किन ॥

यथा च प्रियदर्शनाया प्रथमेऽङ्के विन्ध्यकेत्ववस्कन्दे ।

उपसहरति ।

एभिरङ्गैश्च०······नाटकलक्षणं ॥५५॥

कैशिकीं ······प्रतिजानते ॥५६॥

सा तु लक्ष्ये क्वचिदपि न दृश्यते न चोपपद्यते रसेषु हास्यादीना भारत्यात्मकत्वात् । नीरसस्य च काव्यार्थस्य चाऽभावात् । तिस्र एवैता मर्थवृत्तय । भारती तु शब्दवृत्तिरामुखमगत्वात् तत्रैव वाच्या ।

वृत्तिनियममाह ।

शृङ्गारे······भारती ॥५७॥

देशभेदभिन्नवेषादिस्तु नायकादिव्यापार प्रवृत्तिरित्याह ।

देशभाषा०······प्रयोजयेत् ॥५८॥

तत्र पाठ्य प्रति विशेष. ।

पाठ्य······क्वचित् ॥५९॥

क्वचिदिति देवीप्रभृतीना सम्बन्ध' ।

स्त्रीणा·········शौरसेन्यधमेषु च ।

प्रकृतेरागत प्राकृतम् । प्रकृति सस्कृत तद्भव तत्सम देशीत्यनेक-प्रकारम् । शूरसेनी मागधी च स्वशास्त्रनियते ।

पिशाचा०······तया ॥६०॥

यद्देश······भाषाव्यतिक्रमः ॥६१॥

स्पष्टार्थमेतत् ।

आमन्त्र्यामन्त्रकौचित्येनाऽऽमन्त्रणमाह ।

भगवन्तो······मिथः ॥६२॥

आर्याविति सम्बन्ध ।

रथी······तः ॥६३॥

अपिशब्दात् पूज्येन शिष्यात्मजानुजास्तातेति वाच्याः। सोऽपि तैस्ता-तेति सुगृहीतनामा चेति।

भावोऽनुगेन······च।

सूत्रधार पारिपार्श्वकेन भाव इति वक्तव्य । स च सूत्रिणामार्य इति।

देव ······चाधमैः ॥६४॥

आमन्त्रणीया······स्त्रियः।

विद्वद्देवादिस्त्रियो भर्तृवदेव देवरादिभिर्वाच्याः।

तत्र स्त्रिय प्रति विशेष ।

समा······तया ॥६५॥

कुट्टिन्यम्बे० ···· शब्द्यते ॥६६॥

पूज्या जरती अम्बेति। स्पष्टमन्यत्।

चेष्टागुणो०······ शशिखण्डमौलि. ॥६७॥

दिङ्मात्र दर्शितमित्यर्थ । चेष्टा लीलाद्या गुणा विनयाद्याः उदाहृताय सस्कृतप्राकृताद्या उक्तय सत्त्व निर्विकारात्मक मनोभाव सत्त्वस्य प्रथमोविकार तेन हावादयो ह्यु पलक्षिता।

इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके
नेतृप्रकाशो नाम द्वितीयप्रकाश समाप्त.।

तृतीयः प्रकाशः

बहुवक्तव्यतया रसविचारातिलङ्घनेन वस्तुनेतृरसाना विभज्य नाटकादिषूपयोग प्रतिपाद्यते ।

प्रकृति०······नाटकमुच्यते ॥१॥

उद्दिष्टधर्मकं हि नाटकमनुद्दिष्टधर्माणा प्रकरणादीना प्रकृति । शेष प्रतीतम् ।

तत्र ।

पूर्वरङ्गं ······०नट ॥२॥

पूर्वं रज्यतेऽस्मिन्निति पूर्वरङ्गो नाट्यशाला । तत्स्थप्रथमप्रयोगव्युत्थापनादौ पूर्वरङ्गता । त विधाय विनिर्गते प्रथम सूत्रधारे तद्वदेव [1]वैष्णवस्थानकादिना प्रविश्याऽयों नट काव्यार्थं स्थापयेत् । स च काव्यार्थं स्थापनात् सूचनात् स्थापक ।

दिव्यमर्त्ये ······पात्रमथापि वा ॥३॥

स स्थापको दिव्य वस्तु दिव्यो भूत्वा मर्त्यं च मर्त्यरूपो भूत्वा मिश्र च दिव्यमर्त्ययोरन्यतरो भूत्वा सूचयेत् । वस्तु बीज मुख पात्र वा । वस्तु यथोदात्तराघवे ।

> रामो मूर्ध्नि निधाय काननमगान् मालामिवाऽऽज्ञा गुरो-
> स्तद्भक्त्या भरतेन राज्यमखिल मात्रा सहैवोज्झितम् ।
> तौ सुग्रीवविभीषणावनुगतौ नीतौ परा सम्पद
> प्रोद्वृत्ता दशकन्धरप्रभृतयो ध्वस्ता समस्ता द्विष ॥

बीज यथा रत्नावल्याम् ।

१ दीर्घपादविक्षेपेण परिक्रमो वैष्णवस्थानकम् । आदिशब्दात् ताण्डवादिना परिक्रमो रौद्रमिति कस्यचित् टिप्पणी

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥

मुख यथा ।

आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहास
प्राप्त शरत्समय एष विशुद्धकान्त ।
उत्खाय गाढतमस घनकालमुग्र
रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीव ॥

पात्र यथा शाकुन्तले ।

तवाऽस्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभ हृत ।
एष राजेव दुष्यन्त सारङ्गेणाऽतिरहसा ॥

रङ्ग······वृत्तिमाश्रयेत् ॥४॥

रङ्गस्य प्रशस्ति काव्यार्थानुगतार्थ श्लोकं कृत्वा ।

औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताऽभिमुख्य पुन ।
दृष्ट्वाग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे
सरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवा पातु व ॥

इत्यादिभिरेव भारती वृत्तिमाश्रयेत् ।

सा तु ।

भारती······०प्रहसनामुखे ॥५॥

पुरुषविशेषप्रयोज्य सस्कृतबहुलो वाक्प्रधानो नटाश्रया व्यापारो भारती । प्ररोचना वीथीप्रहसनामुखानि चाऽस्यामङ्गानि ।

यथोद्देश लक्षणमाह ।

उन्मुखीकरण······प्ररोचना ।

प्रस्तुतार्थप्रशसनेन श्रोतृणा प्रवृत्त्युन्मुखीकरण प्ररोचना । यथा रत्नावल्याम् ।

श्रीहर्षो निपुण. कवि परिषदप्येषा गुणग्राहिणी
लोके हारि च वत्सराजचरित नाट्ये च दक्षा वयम् ।

वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किं पुन-
र्मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः ॥

वीथी……तत् पुनः ॥६॥

सूत्रधारो……तदामुखम् ॥७॥

प्रस्तावना……त्रयोदश ॥८॥

तत्र कथोद्घातः ।

स्वेतिवृत्तसम……द्विधैव सः ॥९॥

वाक्यं यथा रत्नावल्याम् । यौगन्धरायणः । द्वीपादन्यस्मादपीति ।

वाक्यार्थं यथा वेणीसंहारे । सूत्रधारः ।

निर्वाणवैरिदहनाः प्रशमादरीणां
नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह केशवेन ।
रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च
स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ॥

ततोऽनेनाऽऽह । भीमः ।

लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ।
आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशाः
स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥

अथ प्रवृत्तकम् ।

कालसाम्य०…… प्रवृत्तकम् ।

प्रवृत्तकालसमानगुणवर्णनया सूचितपात्रप्रवेशः प्रवृत्तकं यथा ।

आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः
प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तः ।
उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं
रामो दशास्यमिव सम्भृतबन्धुजीवः ॥

ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो रामः ।

अथ प्रयोगातिशयः ।

एषोऽयमित्यु०''''''मत ॥१०॥

यथा एष राजेव दुष्यन्त इति ।

अथ वीथ्यङ्गानि ।

उद्घात्यकावलगिते'''''' त्रयोदश ॥११॥

तत्र ।

गूढार्थपद०' '' तदुच्यते ॥१२॥

गूढार्थं पद तत्पर्यायश्चेत्येव माला । प्रश्नोत्तर चेत्येव वा माला । द्वयोरुक्तिप्रत्युक्ती तद् द्विविधमुद्घात्यकम् । तत्राऽऽद्य विभ्रमोर्वश्यां यथा । विदूषक । [1]भो वअस्स को एसो कामो जेण तुम वि दूमिज्जसे सो किं पुरिसो आदु इत्थिअत्ति । राजा । सखे ।

मनोजातिरनाधीना सुखेष्वेव प्रवर्तते ।
स्नेहस्य ललितो मार्गः काम इत्यभिधीयते ॥

विदूषक । [2]एवं पि ण जाणे । राजा । वयस्य इच्छाप्रभव स इति । विदूषक । [3]किं जो ज इच्छदि सो त कामेदित्ति । राजा । अथ किम् । विदूषक । [4]ता जाणिद जह अहं सूअआरसालाए भोअणं इच्छामि ।

द्वितीय यथा पाण्डवानन्दे ।

का श्लाघ्या गुणिनां क्षमा परिभवः कोऽयं स्वकुल्यैः कृत
किं दुःखं परसंश्रयो जगति कः श्लाघ्यो य आश्रीयते ।
को मृत्युर्व्यसनं शुचं जहति के यैर्निर्जिता शत्रवः
कैर्विज्ञातमिदं विराटनगरे छन्नस्थितैः पाण्डवैः ॥

---

१ भो वयस्य क एष कामो येन त्वमपि दूयसे स किं पुरुषोऽथवा स्त्रीति ।

२. एवमपि न जानामि ।

३ किं यो यदिच्छति स तत् कामयतीति ।

४. तज्जानात यथाहं सूपकारशालायां भोजनमिच्छामि ।

कर्त्ता द्यूतच्छलाना जतुमयशरणोद्दीपन सोऽभिमानी
राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रम् ।
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटु पाण्डवा यस्य दासा.
क्वाऽऽस्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत पुरुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्व ॥

अथ वाक्केली ।

विनि०·······०ऽपि वा

अस्येति वाक्यस्य प्रक्रान्तस्य साकाङ्क्षस्य विनिवर्तनं वाक्केली द्वित्रिर्वा उक्तिप्रत्युक्तय । तत्राऽऽद्या यथोत्तररचरिते । वासन्ती ।

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे ।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धा
तामेव शान्तमथवा किमतः परेण ॥ ।

उक्तिप्रत्युक्तितो यथा रत्नावल्याम् । विदूषक । [1]भोदि मअणिए मं पि एदं चच्चरिं सिक्खावेहि । मदनिका । हदास ण क्खु एसा चच्चरी दूवदिखण्डअं क्खु एदम् । विदूषक । भोदि किं एदिणा खण्डेण मोदआ करीअन्ति । मदनिका । ण हि पढीअदि क्खु एदमित्यादि ।

अथाऽधिबलम् ।

अन्योन्य० भवेत् ।

यथा वेणीसंहारे । अर्जुन ।

सकलरिपुजयाशा यत्र बद्धा सुतैस्ते
तृणमिव परिभूतो यस्य गर्वेण लोक ।
रणशिरसि निहन्ता तस्य राधासुतस्य
प्रणमति पितरौ वां मध्यमः पाण्डुपुत्र ॥

इत्युपक्रमे । राजा । अरे नाऽहं भवानिव विकत्थनाप्रगल्भ । किन्तु ।

१. भवति मदनिके मामप्येतां चर्चरीं शिक्षय ।—हताश न खलु एषा चर्चरी द्विपदीखण्डकं खल्वेतत् ।—भवति किमेतेन खण्डेन मोदकाः क्रियन्ते ।—न हि, पठ्यते खल्वेतत् ।

उग्रज्भाम्रो जाणादि किं पि अम्हारिसा जणा जाणन्ति । शिष्य । किम-स्मदुपाध्यायस्य सर्वज्ञत्वमपहर्तुमिच्छसि । चर । यदि दे उवज्भाम्रो सव्वं जाणादि ता जाणादु दाव कस्स चन्दो अणभिप्पेदोत्ति । शिष्य । किमनेन ज्ञातेन भवतीत्युपक्रमे । चाणक्य । चन्द्रगुप्तादपरक्तान् पुरुषान् जानामी-त्युक्तं भवति ।

अथासत्प्रलाप ।

असम्बद्ध० यथोत्तरं ।

ननु चाऽसम्बद्धार्थत्वऽसङ्गतिर्नाम वाक्यदोष उक्त । तत् न उन्म्वप्नायितमदोन्मादशैशवादीनामसम्बद्धप्रलापितैव विभाव । यथा ।

अर्चिष्मन्ति विदार्य वक्त्रकुहराण्यासृक्कतो वासुके
रङगुल्या विषकर्बुरान गणयत. संस्पृश्य दन्ताङ्कुरान् ।
एकं त्रीणि नवाऽष्ट सप्तषडिति प्रध्वस्तसङ्ख्याक्रमा
वाच क्रौञ्चरिपो शिशुत्वविकला श्रेयासि पुष्णन्तु व ॥

यथा च ।

हंस प्रयच्छ मे कान्ता गतिस्तस्यास्त्वया हृता ।
विभाविनैकदेशेन देयं यदभियुज्यते ॥

यथा वा ।

भुक्ता हि मया गिरय स्नातोऽहं वह्निना पिबामि वियत् ।
हरिहरहिरण्यगर्भा मत्पुत्रास्तेन नृत्यामि ॥

अथ व्याहार ।

अन्यार्थं० वच ।

यथा मालविकाग्निमित्रे लास्यप्रयोगावसाने । मालविका निर्गन्तु-मिच्छति । विदूषक । [1]मा दाव उवएससुद्धा गमिस्ससीत्युपक्रमे गणदास

इशा जना जानन्ति ।—यदि स उपाध्यायः सर्वं जानाति तज्जानातु तावत् कस्य चन्द्रोऽनभिप्रेत इति ।

१. मा तावदुपदेशशुद्धा गमिष्यसि ।

यत्रेतिवृत्ते सत्यवागसंवादकारिनीतिशास्त्रप्रसिद्धाभिगामिकादिगुणै-र्युक्तो रामायणमहाभारतादिप्रसिद्धो धीरोदात्तो राजर्षिर्दिव्यो वा नायकः तत्प्रख्यातमेवाऽत्र नाटके आधिकारिकं वस्तु विधेयमिति ।

यत्......प्रकल्पयेत् ॥२२॥

यथा छद्मना बालिवधो मायुराजेनोदात्तराघवे परित्यक्त । वीर-चरिते तु रावणसौहृदेन बाली रामवधार्थमागतो रामेण हत इत्यन्यथा कृत ।

आद्यन्तमेव......खण्डयेत् ॥२३॥

अनौचित्यरसविरोधपरिहारपरिशुद्धीकृत सूचनीयदर्शनीयवस्तुविभाग-फलानुसारेणोपक्लृप्तबीजबिन्दुपताकाप्रकरीकार्य्यलक्षणार्थप्रकृतिक पञ्चा-वस्थानुगुण्येन पञ्चधा विभजेत् । पुनरपि चैकैकस्य भागस्य द्वादश त्रयो-दश चतुर्दशेत्येवमङ्गसज्ञान् सन्धीना विभागान् कुर्यात् ।

चतु.षष्ठिस्तु......न्यसेत् ॥२४॥

अपरमपि प्रासङ्गिकमितिवृत्तमेकाद्यैरनुसन्धिभिन्र्यूनमिति प्रधानेति-वृत्तादेकद्वित्रिचतुर्भिरनुसन्धिभिन्र्यून पताकेतिवृत्त न्यसनीयम् । अङ्गानि च प्रधानाविरोधेन यथालाभ न्यसनीयानि प्रकरीतिवृत्त त्वपरिपूर्णसन्धि विषयम् ।

तत्रैव विभक्ते ।

आदौ ..... कार्यमुक्तितत. ।

इयमत्र कार्य्ययुक्ति ।

अपेक्षितं ... ०संधयः ॥२५-२६॥

स च ।

प्रत्यक्ष० ......०साधयः ॥२७॥

रङ्गप्रवेशे साक्षात् निर्दिश्यमाननायकव्यापारो बिन्दूपक्षेपार्थपरिमितो-ऽनेकप्रयोजनसविधानरसाधिकरण उत्साङ्ग इवाऽङ्क ।

तत्र च ।

अनुभाव०......परिपोषणम् ॥२८॥

अङ्गिन एवाऽङ्गिरसस्थायिनः सग्रहात् स्थायिनेति रसान्तरस्या-

एवं च कुलजा वेश्या उभयमिति त्रेधा प्रकरणे नायिका । यथा वेश्यैव तरङ्गदत्ते कुलजैव पुष्पदूषितके । ते द्वेऽपि मृच्छकटिकायामिति । कितवद्यूतकादिधूर्तसङ्कुलं तु मृच्छकटिकादिवत् सङ्कीर्णप्रकरणमिति ।

अथ नाटिका ।

लक्ष्यते……०वृत्तये ।

अत्र केचित् ।

अनयोश्च बन्धयोगादेको भेदः प्रयोक्तृभिर्ज्ञेयः ।
प्रख्यातस्त्वितरो वा नाटीसञ्ज्ञाश्रिते काव्ये ॥

इत्यमुं भरतीयं श्लोकमेवं भेदः प्रख्यातो नाटिकाख्ये इतरस्त्वप्रख्यातः प्रकरणिकासञ्ज्ञः नाटीसञ्ज्ञया द्वे काव्ये आश्रिते इति व्याचक्षाणाः प्रकरणिकामपि मन्यन्ते । तदसत् । उद्देशलक्षणयोरनभिधानात् समानलक्षणत्वे वा भेदाभावात् । वस्तुरसनायकानां प्रकरणाभेदात् प्रकरणिकायाः । अतोऽनुद्दिष्टाया नाटिकाया यत् मुनिना लक्षणं कृतं तत्रायमभिप्रायः । शुद्धलक्षणसङ्करादेव तल्लक्षणे सिद्धे लक्षणकरणं सङ्कीर्णानां नाटिकैव कर्त्तव्येति नियमार्थं विज्ञायते ।

तमेव सङ्करं दर्शयति ।

तत्र……सलक्षणं ॥३९॥

उत्पाद्येतिवृत्तत्वं प्रकरणधर्मः प्रख्यातनृपनायकादित्वं तु नाटकधर्म इति । एवं च नाटकप्रकरणनाटिकातिरेकेण वस्त्वादे प्रकरणिकायामभावादङ्कपात्रभेदान् यदि भेदः ।

तन्न ।

स्त्रीप्राय०……०ऽनन्तरूपता ॥४०॥

तत्र नाटिकेति स्त्रीसमाख्ययौचित्यप्राप्तं स्त्रीप्रधानत्वम् । कैशिकीवृत्त्याश्रयत्वाच्च तदङ्गसङ्ख्यायाऽल्पावमर्शत्वेन चतुरङ्कत्वमप्यौचित्यप्राप्तमेव ।

विशेषस्तु ।

देवी……०नेतृसङ्गमः ॥४१॥

प्राप्या तु ।

नायिका······०मनोहरा ।

तादृशीति नृपवंशजत्वादियमतिदिश्यते ।

प्रगल्भ०······०दर्शनैः ॥४२॥

अनुरागो······शङ्कितः ।

तस्याः मुग्धनायिकायामन्तःपुरसम्बन्धसङ्गीतकसम्बन्धादिना प्रत्यासन्नाया नायकस्य देवीप्रतिबन्धान्तरितः उत्तरोत्तरो नवावस्थानुरागो निबन्धनीय ।

कैशिक्य०······नाटिका ॥४३॥

प्रबन्धानि निबद्धानि हीनलक्ष्यकैशिक्यङ्गचतुष्टयवती नाटिकेति ।

अथ भाण ।

भाणस्तु ······विटः ॥४४॥

सम्बोधनो०······०क्तयः ॥४५॥

भूयसा······दशाऽपि च ॥४६॥

इति । धूर्तश्चौरद्यूतकारादयः तेषा चरितं यत्रैक एव विटः स्वकृतं परकृतं वोपवर्णयति स भारतीवृत्तिप्रधानत्वाद् भाणः । एकस्य चोक्तिप्रत्युक्तय आकाशभाषितैराशङ्कितोत्तरत्वेन भवन्ति । अस्पष्टत्वाच्च वीरशृङ्गारौ सौभाग्यशौर्योपवर्णनया सूचनीयौ ।

लास्याङ्गानि ।

गेय······द्विमूढकम् ॥४७॥

उत्तमो०······०कल्पनम् ॥४८॥

शेषं स्पष्टमिति ।

अथ प्रहसनम् ।

तद्वत्०······०सङ्कुलं ।

तद्वदिति भाणवद् वस्तुसन्धिसन्ध्यङ्गलास्यादीनामतिदेशः ।

तत्र शुद्धं तावत् ।

पाखण्डि०······०वचोऽन्वितम् ॥४९॥

पाखण्डिन शाक्यनिर्ग्रन्थप्रभृतय । विप्राश्चात्यन्तमृजव । जातिमात्रोपजीविनो वा । प्रहसनाङ्गिहास्यविभावास्तेषा च यथावत् स्वव्यापारोपनिबन्धन चेटचेटी व्यवहारयुक्त शुद्ध प्रहसनम् ।

विकृत तु ।

कामुका०······धूर्तसङ्कुलम् ।

कामुकादयो भुजङ्गचारभटाद्या तद्वेषभाषादियोगिनो यत्र षण्ढकञ्चुकितापसवृद्धादयस्तद्विकृतम् । स्वस्वरूपप्रच्युतविभावत्वात् । वीथ्यङ्गैरतु सङ्कीर्णत्वात् सङ्कीर्णम् ।

रसस्तु······ एव तु ॥५०॥

इति स्पष्टम् ।

अथ डिम ।

डिमे·······०मुद्धता ॥५१॥

रसैर०······०चेष्टितै:० ॥५२॥

चन्द्र०······ स्मृत ॥५३॥

डिमसङ्घात इति नायकसङ्घातव्यापारात्मकत्वाड् डिम । तत्रेतिहासप्रसिद्धमितिवृत्तम् । वृत्तयश्च कैशिकीवर्जास्तिस्र । रसाश्च वीररौद्रबीभत्साद्भुतकरुणभयानका षट् । स्थायी तु रौद्रो न्यायप्रधानो विमर्शरहिता मुखप्रतिमुखगर्भनिर्वहणाख्याश्चत्वारः सन्धय. साङ्गा । मायेन्द्रजालाद्यनुभावसमाश्रया । शेष प्रस्तावादिनाटकवत् । एतच्च च

इद त्रिपुरदाहेतु लक्षण ब्रह्मणोदितम् ।
ततस्त्रिपुरदाहश्च डिमसञ्ज्ञ प्रयोजित ॥

इति भरतमुनिना स्वयमेव त्रिपुरदाहेतिवृत्तस्य तुल्यत्व दर्शितम् ।

अथ व्यायोग ।

ख्यातेति०·······रसा: ॥५४॥

अस्त्री०·······बहुभिर्नरै: ॥५५॥

व्यायुज्यन्तेऽस्मिन् बहवः पुरुषा इति व्यायोगः । तत्र डिमवद् रसा षट् हास्यशृङ्गार रहिता । वृत्त्यात्मकत्वाच्च रसानामवचनेऽपि कैशिकी·

रहितेनरवृत्तित्व रसदर्देव लभ्यते अस्त्रीनिमित्तश्चाऽत्र संग्राम । यथा परशुरामेण पितृवधकोपात् सहस्रार्जुनवध कृत । शेष स्पष्टम् ।

अथ समवकार ।

कार्यं ······सन्धय ॥५६॥

वृत्तयो······पृथक् ॥५७॥

बहुवीर० ·· ··०स्त्रिविद्रव. ॥५८॥

द्विसन्धि०······०कादयम् ॥५६॥

वस्तुस्वभाव०·· · ·०विद्रवा ॥६०॥

धर्मार्थ०······यथा ॥६१॥

समवकीर्यन्तेऽस्मिन्नर्था इति समवकार । तत्र नाटकादिवदामुखमिति समस्तरूपकाणामामुखप्रापणम् । विमर्शवर्जिताश्चत्वार सन्धयः । देवासुरादयो द्वादशनायका । तेषा च फलानि पृथक् पृथग् भवन्ति । यथा समुद्रमन्थने वासुदेवादीना लक्ष्म्यादिलाभा । वीरश्चाऽङ्गी अङ्गभूता सर्वे रसा । त्रयोऽङ्का । तेषा प्रथमो द्वादशनालिकानिर्वृत्तेति वृत्तप्रमाण । यथासङ्ख्य चतुर्द्विनालिकावन्त्यौ नालिका च घटिकाद्वयम् । प्रत्यङ्क च यथासङ्ख्य कपटा.। तथा नगरोपरोधयुद्धवाताग्न्यादिविद्रवाणा मध्ये एकैको विद्रव कार्य । धर्मार्थकामशृङ्गाराणामेकैक शृङ्गार । प्रत्यङ्कमेव विधातव्य । वीथ्यङ्गानि च यथालाभ कार्याणि । विन्दुप्रवेशकौ नाटकोक्तावपि न विधातव्यौ । इत्यय समवकार ।

अथ वीथी ।

वीथी······रसान्तरम् ॥६२॥

मुखना ·· ०प्रयोजिता ॥६३॥

वीथीवद् वीथीमार्ग अङ्गाना पङ्क्तिर्वा भाणवत् कार्या । विशेषस्तु रस शृङ्गार: अपरिपूर्णत्वात् भूयसा सूच्य । रसान्तराण्यपि स्तोक स्पर्शनीयानि । कैशिकी वृत्ति रसौचित्यादेवेति । शेष स्पष्टम् ।

अथाऽङ्ग ।

उत्सृष्टि०……नराः ॥६४॥

भाणवत्……०पराजयौ ॥६५॥

उत्सृष्टिकाङ्क इति नाटकान्तर्गताङ्कव्यवच्छेदार्थम्। शेषं प्रतीतमिति।

अथेहामृगः ।

मिश्र०……०नायकौ ॥६६॥

ख्यातो……०दिनेच्छत ॥६७॥

शृङ्गाराभा०……महात्मन ॥६८॥

मृगवदलभ्या नायिका नायकोऽस्मिन्नीहते इतीहामृगः। ख्याताख्यात वस्तु अन्त्य प्रतिनायको विपर्यासाद् विपर्ययज्ञानादयुक्तकारी विधेय। स्पष्टमन्यत्।

इत्थं……स्फुटमन्दवृत्तैः ॥६९॥

स्पष्टम्।

इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके रूपकलक्षणप्रकाशो नाम तृतीयप्रकाशः समाप्तः।

चतुर्थः प्रकाशः

अथेदानीं रसभेदः प्रदर्श्यते ।

विभावैर•······स्मृतः ॥१॥

वक्ष्यमाणस्वभावैर्विभावानुभावव्यभिचारिसात्त्विकैः काव्योपात्तैरभिनयोपदर्शितैर्वा श्रोतृप्रेक्षकाणामन्तर्विपरिवर्तमानोरत्यादिर्वक्ष्यमाणलक्षण स्थायी स्वादगोचरता निर्भरानन्दसंविदात्मतामानीयमानो रस । तेन रसिका सामाजिका । *काव्यं तु तथाविधानन्दसंविदुन्मीलनहेतुभावेन रसवदायुर्घृतमित्यादिव्यपदेशवत्* ।

तत्र विभाव. ।

ज्ञायमानतया······द्विधा ॥२॥

एवमयमेवमियमित्यतिशयोक्तिरूपकाव्यव्यापाराहितविशिष्टरूपतया ज्ञायमानो विभाव्यमान. मन्त्रालम्बनत्वेनोद्दीपनत्वेन वा यो नायकादिरभिमतदेशकालादिर्वा स विभाव । यदुक्त विभाव इति विज्ञातार्थ इति । तांश्च यथास्वं यथावसरं च रसेषूपपादयिष्याम । अमीषां चाऽनपेक्षितबाह्यसत्त्वानां शब्दोपधानादेवाऽऽसादिततद्भावानां सामान्यात्मना स्वस्वसम्बन्धित्वेन विभावितानां साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवर्तमानानामालम्बनादिभाव इति न वस्तु शून्यता । तदुक्त भर्तृहरिणा ।

> शब्दोपहितरूपांस्तान् बुद्धेर्विषयतां गतान् ।
> प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते ॥

इति । षट्सहस्रीकृताऽप्युक्तम् । एम्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्त इति ।

तत्राऽऽलम्बनविभावो यथा ।

अस्या सर्गविधौ प्रजापतिरभूत् चन्द्रोनुकान्तिप्रद
शृङ्गारैकनिधि स्वय नु मदनो मासो नु पुष्पाकर ।
वेदाभ्यासजड कथ नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातु प्रभवेन् मनोहरमिद रूप पुराणो मुनि ॥

उद्दीपनविभावो यथा ।

अयमुदयति चन्द्रश्चन्द्रिकाधौतविश्व
परिणतविमलिम्नि व्याम्नि कर्पूरगौर ।
ऋजुरजतशलाकास्पर्धिभिर्यस्य पादै
र्जगदमलमृणाली पञ्जरस्थ विभाति ।

अनुभावो ··· ०सूचनात्मक ।

स्थायिभावाननुभावयत सामाजिकान् सभ्रूविक्षेपकटाक्षादयो रसपोषकारिणोऽनुभावा । एन चाऽभिनयकाव्ययोरप्यनुभावयता साक्षाद् भावकानुभवकर्मतयाऽनुभूयन्त इत्यनुभवनमिति चाऽनुभावा रसिकेषु व्यपदिश्यन्ते । विकारो भावससूचनात्मक इति तु लौकिकरसापेक्षया इह तु तेषा कारणत्वमेव यथा ममैव ।

उज्जृम्भाननमुल्लसत्कुचतट लोलभ्रमद्भ्रूलत
स्वेदाम्भ स्नपिताङ्गयष्टिविगलद्व्रीड सरोमाञ्चया ।
धन्य. कोऽपि युवा स यस्य वदने व्यापारिता सस्पृह
मुग्धे दुग्धमहाब्धिफेनपटलप्रख्या कटाक्षच्छटा ॥

इत्यादि यथारसमुदाहरिष्याम ।

हेतुकार्यात्मनो ····· सव्यवहारत ॥३॥

तयोर्विभावानुभावयोर्लौकिकरस प्रतिहेतुकार्यभूतयो सव्यवहारादेव सिद्धत्वान् न पृथग् लक्षणमुपयुज्यते । तदुक्तम् । विभावानुभावौ लोकससिद्धौ लोकयात्रानुगामिनौ लोकस्वभावोपगतत्वाद् च न पृथग् लक्षणमुच्यत इति ।

अथ भाव ।

सुखदु खा०······०भावनम् ।

मनुकार्यान्वयव्यन्वेनोपनिबध्यमानैः मुखदुःखादिरूपैर्भावैस्तद्भावस्य भावकचेतसो भावनं वासनं भावः। तदुक्तम्। अहो ह्यनेन रसेन गन्धेन वा सर्वमेतद् भावितं वासितमिति। यत् तु रसान् भावयन् भाव इति। कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव इति च तदभिनयकाव्ययोः प्रवर्तमानस्य भावशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तकथनम्।

ते च स्थायिनो व्यभिचारिणश्चेति वक्ष्यमाणाः।

पृथग् ......०भावनम् ॥४॥

परगतदुःखहर्षादिभावनायामत्यन्तानुकूलान्तःकरणत्वं सत्त्वम्। यदाह। सत्त्वं नाम मनःप्रभवं तच्च समाहितमनस्त्वादुत्पद्यते। एतदेवास्य सत्त्वं यत् खिन्नेन प्रहर्षितेन चाश्रुरोमाञ्चादयो निर्वर्त्यन्ते तेन सत्त्वेन निर्वृत्ताः सात्त्विकास्त एव भावास्तत उत्पद्यमानत्वादश्रुप्रभृतयोऽपि भावा भावसूचनात्मकविकाररूपत्वाच्चानुभावा इति द्वैरूप्यमेषाम्।

ते च।

स्तम्भ०......सुव्यक्तलक्षणाः ॥५॥

यथा।

> [1]वेवइ सेअदवदनी रोमाञ्चिअं गत्तिए वहइ।
> विललुल्लु तु वलअं लहु बाहोअल्लीए रणेनि॥
> मुहऊ सामलि होई खणे विमुच्छइ विअद्धेन।
> मुद्धा मुहल्ली तुअ पेम्मेण सावि ण धिज्जइ॥

अथ व्यभिचारिणः। तत्र सामान्यलक्षणम्।

---

१. अपभ्रंश दिक्नायका चेत्या उक्तिः सम्भाव्यते।
वेपते स्वेदवदना रोमाञ्चं गात्रे वहति।
विलोलस्ततो वलयो लघु बाहुवल्ल्या रणति॥
मुखं श्यामलं भवति क्षणं विमूर्च्छति विदग्धेन।
मुग्धा मुखवल्ली तव प्रेम्णा सापि न धैर्यं करोति॥

इतोऽद्वयस्यास्यानतिसुगमत्वात् सन्दिग्धत्वाच्चास्य व्याख्या न समीचीना जाता।

विशेषा०⋯⋯वारिधौ ॥६॥

यथा वारिधौ सत्येव कल्लोला उद्भवन्ति विलीयन्ते च तद्वदेव रत्यादौ स्थायिनि सत्येवाऽऽविर्भावतिरोभावाभ्यामाभिमुख्येन चरन्तो वर्तमाना निर्वेदादयो व्यभिचारिणो भावाः । ते च ।

निर्वेद०⋯⋯त्रयश्च ॥७॥

तत्र निर्वेदः ।

तत्त्व०⋯⋯०दीनता ॥८॥

तत्त्वज्ञानात् निर्वेदो यथा ।

प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
दत्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ।
सम्प्रीणिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ॥

आपदो यथा ।

राज्ञो विपद् बन्धुवियोगदुःखं
देशच्युतिर्दुर्गममार्गखेदः ।
आस्वाद्यतेऽस्याः कटुनिष्फलायाः
फलं मयैतत् चिरजीवितायाः ॥

ईर्ष्यातो यथा ।

धिक् धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनपरैः पीनैः किमेभिर्भुजैः ।
न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राऽप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसभटान् जीवत्यहो रावणः ।

वीरशृङ्गारयोर्व्यभिचारी निर्वेदो यथा ।

ये बाहवो न युधि वैरिकठोरकण्ठ-
पीठोच्छलद्रुधिरराजिविराजितांसाः ।
नाऽपि प्रियापृथुपयोधरपत्रभङ्ग-
सङ्क्रान्तकुङ्कुमरसाः खलु निष्फलास्ते ।

हन्ता सुबाहोरपि ताडकारि
स राजपुत्रो हृदि बाधते माम् ।

अनया दिशाऽन्यदनुसर्तव्यम् ।

अथ श्रम

श्रम ····· मर्दनादय ।

अध्वतो यथोत्तररामचरिते ।

अलसलुलितमुग्धान्यध्वसञ्जातखेदा-
दशिथिलपरिरम्भैर्दत्तसंवाहनानि ।
परिमृदितमृणालीदुर्बलान्यङ्गकानि
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता ॥

रतिश्रमो यथा माघे ।

प्राप्य मन्मथरसादतिभूमि दुर्वहस्तनभरा. सुरतस्य ।
शश्रमु श्रमजलार्द्रललाटश्लिष्टकेशमसितायतकेश्यः ॥

इत्याद्युत्प्रेक्ष्यम् ।

अथ धृति ।

वृद्धोऽन्धः पतिरेष मञ्चकगतः स्थूणावशेषं गृहं
कालोऽभ्यर्णजलागमः कुशलिनी वत्सस्य वार्तापि नो ।
यत्नात् सञ्चिततैलबिन्दुघटिका भग्नेति पर्याकुला
दृष्ट्वा गर्भभरालसां सुतवधूं श्वश्रूश्चिरं रोदिति ॥

शेषं पूर्ववत् ।

अथोग्रयम् ।

दुष्टे०·······नादयः ॥१४॥

यथा वीरचरिते जामदग्न्यः ।

उत्कृत्योत्कृत्य गर्भानपि शकलयतः क्षत्रसन्तानरोषाद्
उद्दामस्यैकविंशत्यवधि विशसतः सर्वतो राजवंश्यान् ।
पित्र्यं तद्रक्तपूर्णह्रदसवनमहानन्दमन्दायमान-
क्रोधाग्नेः कुर्वतो मे न खलु न विदितः सर्वभूतैः स्वभावः ॥

अथ चिन्ता ।

ध्यानं·······०तापकृत् ।

यथा ।

पक्ष्माग्रग्रथिताश्रुबिन्दुनिकरैर्मुक्ताफलस्पर्धिभि-
र्कुर्वन्त्या हरहासहारि हृदये हारावलीभूषणम् ।
बाले बालमृणालनालवलयालङ्कारकान्ते करे
विन्यस्याननमायताक्षि सुकृती कोऽयं त्वया स्मर्यते ॥

यथा वा ।

अस्तमितविषयसङ्गा मुकुलितनयनोत्पला बहुश्वसिता ।
ध्यायति किमप्यलक्ष्यं बाला योगाभियुक्तेव ॥

अथ त्रासः ।

गर्जिता०·······०तादयः ॥१५॥

यथा माघे ।

त्रस्यन्ती चलशफरीविघट्टितोरू-
र्वामोरूरतिशयमाप विभ्रमस्य ।

क्षुभ्यन्ति प्रसभमहो विनाऽपि हेतो-
र्लीलाभिः किमु सति कारणे रमण्यः ॥

अथाऽसूया ।

परोत्कर्षा०·······०तानि च ॥१६॥

गर्वे यथा वीरचरिते ।

अस्यैवं प्रकटीकृतेऽपि न फलप्राप्तिः प्रभो प्रत्युत
द्रुह्यन् दाशरथिर्विरुद्धचरितो युक्तस्तया कन्यया ।
उत्कर्षं च परस्य मानयशसोर्विस्रंसनं चाऽऽत्मन
स्त्रीरत्नं च जगत्पतिर्दशमुखो दृप्तः कथं मृष्यते ॥

दौर्जन्याद् यथा ।

यदि परगुणा न क्षम्यन्ते यतस्व गुणार्जने
नहि परयशो निन्दाव्याजैरलं परिमार्जितुम् ।
विरमसि न चेदिच्छाद्वेषप्रसक्तमनोरथो
दिनकरकरान् पाणिच्छत्रैर्नुदन् श्रममेष्यसि ॥

मन्युजा यथाऽमरुशतके ।

पुरस्तन्व्या गोत्रस्खलनचकितोऽहं नतमुखः
प्रवृत्तो वैलक्ष्यात् किमपि लिखितुं दैवहतकः ।
स्फुटो रेखान्यासः कथमपि स तादृक् परिणतो
गता येन व्यक्तिं पुनरवयवैः सैव तरुणी ॥
ततश्चाऽभिज्ञाय स्फुरदरुणगण्डस्थलरुचा
मनस्विन्या रोषप्रणयरभसाद् गद्गदगिरा ।
अहो चित्रं चित्रं स्फुटमिति निगद्याऽश्रुकलुषं
रुषा ब्रह्मास्त्रं मे शिरसि निहितो वामचरणः ॥

यथाऽमर्षः ।

अधिक्षे०····· ०नादय ॥१७॥

यथा वीरचरिते ।

प्रायश्चित्त चरिष्यामि पूज्याना वो व्यतिक्रमात् ।
न त्वेव दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥

यथा वा वेणीसंहारे ।

युष्मच्छासनलङ्घनाम्भसि मया मग्नेन नाम स्थित
प्राप्ता नाम विगर्हणा स्थितिमता मध्येऽनुजानामपि ।
क्रोधोल्लासितशोणिताक्तगदस्योच्छिन्दत कौरवान्
अद्यैक दिवस ममाऽसि न गुरुर्नाऽहं विधेयस्तव ॥

अथ गर्व ।

गर्वो०·······०वीक्षणम् ॥१८॥

यथा वीरचरिते ।

मुनिरयमथ वीरस्तादृशस्तत्प्रिय मे
विरमतु परिकम्प कातरे क्षत्रियाऽसि ।
तपसि विततकीर्तेर्दर्पकण्डूलदोष्ण
परिचरणसमर्थो राघव. क्षत्रियोऽहम् ॥

यथा वा तत्रैव ।

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ।
जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥

अथ स्मृति ।

सदृश०·······०नादय. ।

यथा ।

मैनाक किमय रुणद्धि गगने मन्मार्गमव्याहत
शक्तिस्तस्य कुत. स वज्रपतनाद् भीतो महेन्द्रादपि ।
तार्क्ष्य सोऽपि सम निजेन विभुना जानाति मा रावणम्
आ ज्ञात स जटायुरेष जरसा क्लिष्टो वध वाञ्छति ॥

यथा वा मालतीमाधवे । माधव । मम हि प्राक्तनोपलम्भसम्भा-
वितात्मजन्मनः संस्कारस्यानवरतप्रबोधात् प्रतायमानस्तद्विसदृशै

प्रत्ययान्तरैरतिरस्कृतप्रवाह प्रियतमास्मृतिप्रत्ययोत्पत्तिसन्तानस्तन्मयमिव करोति वृत्तिसारूप्यतश्चैतन्यम् ।

लीनेव प्रतिबिम्बितेव लिखितेवोत्कीर्णरूपेव च
प्रत्युप्तेव च वज्रसारघटितेवान्तर्निखातेव च ।
सा नश्चेतसि कीलितेव विशिखैश्चेतोभुवः पञ्चभि-
श्चिन्तासन्ततितन्तुजालनिबिडस्यूतेव लग्ना प्रिया ॥

अथ मरणम् ।

मरण०······०नोच्यते ॥ १९ ॥

यथा ।

सम्प्राप्तेऽवधिवासरे क्षणमनु त्वद्वर्त्मवातायनं
वारं वारमुपेत्य निष्क्रियतया निश्चित्य किञ्चिच्चिरम् ।
सम्प्रत्येव निवेद्य केलिकुररी सास्रं सखीभ्य शिशो-
र्माधव्याः सहकारकेण करुणः पाणिग्रहो निर्मितः ॥

इत्यादिवत् शृङ्गाराश्रयालम्बनत्वेन मरणे व्यवसायमात्रमुपनिबन्धनीयम् । अन्यत्र कामचारः । यथा वीरचरिते । पश्यन्तु भवन्तस्ताडकाम् ।

हृन्मर्मभेदिपतदुत्कटकङ्कपत्र-
संवेगतत्क्षणकृतस्फुरदङ्गभङ्गा ।
नासाकुटीरकुहरद्वयतुल्यनिर्यद्
उद्बुद्बुदध्वनदसृक्प्रसरा मृतैव ॥

अथ मदः ।

हर्षोत्कर्षो० ······ ०धमादिषु ।

यथा माघे ।

हावहारि हसितं वचनानां कौशलं दृशि विकारविशेषाः ।
चक्रिरे भृशमृजोरपि वध्वाः कामिनेव तरुणेन मदेन ॥

इत्यादि ।

अथ सुप्तम् ।

सुप्त० ······ ०परम् ॥ २० ॥

यथा ।

लघुनि तृणकुटीरे क्षेत्रकोणे यवानां
नवकलमपलालस्रस्तरे सोपधाने ।
परिहरति सुषुप्तं हालिकद्वन्द्वमारात्
कुचकलशमहोष्माबद्धरेखस्तुषारः ॥

अथ निद्रा ।

मनः०······ ०तादयः ॥

यथा ।

निद्रार्धमीलितदृशो मदमन्थराणि
नाप्यर्थवन्ति न च यानि निरर्थकानि ।
अद्यापि मे मृगदृशो मधुराणि तस्या-
स्तान्यक्षराणि हृदये किमपि ध्वनन्ति ॥

यथा च माघे ।

प्रहरकमपनीय स्वं निदिद्रासतोच्चैः
प्रतिपदमुपहूतः केनचिज्जागृहीति ।
मुहुरविशदवर्णां निद्रया शून्यशून्यां
ददपि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्यः ॥

अथ विबोधः ।

विबोधः ०मर्दनैः ॥ २१॥

यथा माघे ।

चिरतिपरिखेदप्राप्तनिद्रासुखानां
चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धाः ।
अपरिचलितगात्राः कुर्वते न प्रियाणाम्
अशिथिलभुजचक्राश्लेषभेदं तरुण्यः ॥

अथ व्रीडा ।

दुराचारा०······ ०मुखादिभिः ॥ २२ ॥

यथाऽमरुशतके ।

पटालग्ने पत्यौ नमयति मुखं जातविनया
हठाश्लेषं वाञ्छत्यपहरति गात्राणि निभृतम् ।
न शक्नोत्याख्यातुं स्मितमुखसखीदत्तनयना
ह्रिया ताम्यत्यन्तः प्रथमपरिहासे नववधूः ॥

अथाऽपस्मारः ।

आवेशो०······ ०मादयः ॥ २३ ॥

यथा माघे ।

आश्लिष्टभूमिं रसितारमुच्चै-
र्लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गम् ।
फेनायमानं पतिमापगानाम्
असावपस्मारिणमाशशङ्के ॥

अथ मोहः ।

मोहो०······ ०दर्शनादयः ॥ २४ ॥

यथा कुमारसम्भवे ।

तीव्राभिषङ्गप्रभवेन वृत्तिं
मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम् ।
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्तं
कृतोपकारेव रतिर्बभूव ॥

यथा चोत्तररामचरिते ।

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः ।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥

अथ मतिः ।

भ्रान्ति०···· ०धीर्मतिः ।

यथा किराते ।

सहसा विदधीत न क्रियामविवेक. परमापदा पदम् ।
वृणुते हि विमृश्य कारिण गुणलुब्धा. स्वयमेव सम्पद. ॥

यथा च ।

न पण्डिता' साहसिका भवन्ति
श्रुत्वाऽपि ते सन्तुलयन्ति तत्त्वम् ।
तत्त्व समादाय समाचरन्ति
स्वार्थं प्रकुर्वन्ति परस्य चार्थम् ॥

अथाऽऽलस्यम् ।

आलस्य ······०दिमत् ॥ २५ ॥

यथा ममैव ।

चलति कथञ्चित् पृष्टा
यच्छति वचन कथञ्चिदालीनाम् ।
आसितुमेव हि मनुते
गुरुगर्भभरालसा सुतनु ॥

अथाऽऽवेग ।

आवेग:०··· ··०पसारारः ॥ २६ ॥

अभिसरो राजविद्रवादि' तद्धेतुरावेग. । यथा ममैव ।

आगच्छाऽऽगच्छ सज्ज कुरु वरतुरग सनिधेहि द्रुत मे
खड्ग क्वाऽसौ कृपाणीमुपनय धनुषा किं किमङ्गप्रविष्टम् ।
सरम्भोन्निद्रितानां क्षितिभृति गहनेऽन्योन्यमेवप्रतीच्छन्
वाद स्वप्नाभिदृष्टे त्वयि चकितदृशा विद्विषामाविरासीत् ॥

इत्यादि ।

तनुत्राण तनुत्राण शस्त्र शस्त्र रथो रथ. ।
इति शुश्रुविरे विष्वगुद्भटाः सुभटोक्तय ॥

यथा वा ।

प्रारब्धा तरुपुत्रकेषु सहसा सन्त्यज्य सेकक्रियाम्
एतास्तापसकन्यका. किमिदमित्यालोकयन्त्याकुला. ।

आरोहन्त्युटजद्रुमांश्च वटवो वाचंयमा अप्यमी
सद्यो मुक्तसमाधयो निजवृषीष्वेवोच्चपादं स्थिता ।

वातावेगो यथा ।

वाताहृतं वसनमाकुलमुत्तरीयम् ।

इत्यादि ।

वर्षजो यथा ।

देवे वर्षत्यशनपवनव्यापृता वह्निहेतो-
र्गेहाद् गेहं फलकनिचितैः सेतुभिः पङ्कभीता ।
नीध्रप्रान्तानविरलजलान् पाणिभिस्ताडयित्वा
शूर्पच्छत्रस्थगितशिरसो योषितः सञ्चरन्ति ॥

उत्पातजो यथा ।

पौलस्त्यपीनभुजसम्पदुदस्यमान-
कैलाससम्भ्रमविलोलदृशः प्रियायाः ।
श्रेयांसि वो दिशतु निह्नुतकोपचिह्नम्
आलिङ्गनोत्पुलकमासितमिन्दुमौले ॥

अहितकृतस्त्वनिष्टदर्शनश्रवणाभ्याम् । तद् यथा । उदात्तराघवे । चित्रमाय । ससम्भ्रमम् । भगवन् कुलपते रामभद्र परित्रायतां परित्रायता-मित्याकुलता नाटयतीत्यादि । पुनश्चित्रमाय ।

मृगरूपं परित्यज्य विधाय विकटं वपुः ।
नीयते रक्षसाऽनेन लक्ष्मणो युधि संशयम् ॥

रामः ।

वत्सस्याऽभयवारिधेः प्रतिभयं मन्ये कथं राक्षसात्
त्रस्तश्चैव मुनिर्विरौतीति मनसश्चाऽस्त्येव मे सम्भ्रमः ।
माहासीर्जनकात्मजामिति मुहुः स्नेहाद् गुरुर्याचते
न स्थातुं न च गन्तुमाकुलमतेर्मूढस्य मे निश्चयः ॥

इत्यनेनाऽनिष्टप्राप्तिकृतसम्भ्रमः ।

इष्टप्राप्तिकृतो यथाऽत्रैव । प्रविश्य पटाक्षेपेण सम्भ्रान्तो वानरः ।

वानर ।[1]महाराअ एद खु पवणणन्दणागमणेण पहरिसेत्यादि देवस्स हिअआणन्दजणणं विअलिद महुवणमित्यन्तम् ।

यथा वा वीरचरिते ।

> एह्येहि वत्स रघुनन्दन पूर्णचन्द्र
> चुम्बामि मूर्धनि चिरस्य परिष्वजे त्वाम् ।
> आरोप्य वा हृदि दिवानिशमुद्वहामि
> वन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयं ते ॥

वह्निजो यथाऽमरुशतके ।

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोऽंशुकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण ।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवाऽर्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ।

यथा वा रत्नावल्याम् ।

> विरम विरम वह्ने मुञ्च धूमाकुलत्वं
> प्रसरयसि किमुच्चैरर्चिषां चक्रवालम् ।
> विरहहुतभुजाऽहं यो न दग्धः प्रियाया
> प्रलयदहनभासा तस्य किं त्वं करोषि ॥

करिजो यथा रघुवंशे ।

> मच्छिन्नबन्धद्रुतयुग्यशून्यं
> भग्नाक्षपर्यस्तरथं क्षणेन ।
> रामापरित्राणविहस्तयोधं
> सेनानिवेशं तुमुलं चकार ॥

करिग्रहणं व्यालोपलक्षणार्थम् । तेन व्यालमनुजरचानरादिप्रभवा आवेगा व्याख्याता ।

अथ वितर्क ।

---

१. महाराजैतत् खलु पवननन्दनागमनेन प्रहर्षेत्यादि, देवस्य हृदयानन्दजननं विगलितं मधुवनमित्यन्तम् ।

तर्को ……०नर्तकः ।

यथा ।

किं लोभेन विलङ्घित स भरतो येनैतदेव कृत
सद्य स्त्रीलघुता गता किमथवा मातैव मे मध्यमा ।
मिथ्यैतन् मम चिन्तित द्वितयमप्यार्यानुजोऽसौ गुरु-
र्मातातातकलत्रमित्यनुचित मन्ये विधात्रा कृतम् ॥

अथवा ।

क समुचितामिषेकादार्य प्रच्यावयेद् गुणज्येष्ठम् ।
मन्ये ममैव पुण्यै सेवावसर. कृतो विधिना ॥

अथाऽवहित्थम् ।

लज्जा०……०विक्रिया ।

यथा कुमारसम्भवे ।

एव वादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥

अथ व्याधि ।

व्याधय:……विस्तर. ॥२७॥

दिङ्मात्र तु यथा ।

अच्छिन्न नयनाम्बु बन्धुषु कृत चिन्ता गुरुभ्योऽर्पिता
दत्त दैन्यमशेषत परिजने ताप सखीष्वाहित ।
अद्य श्व परिनिर्वृति व्रजति सा श्वासै पर खिद्यते
विस्रब्धो भव विप्रयोगजनित दुःख विभक्त तया ॥

अथोन्माद ।

अप्रेक्षा०……०सितादय ॥२८॥

यथा । आ क्षुद्रराक्षस तिष्ठ तिष्ठ क्व मे प्रियतमामादाय गच्छ-सीत्युपक्रमे । कथम् ।

नवजलधर सन्नद्धोऽय न दृप्तनिशाचर
सुरधनुरिद दूराकृष्ट न तस्य शरासनम् ।

अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत् प्रिया न ममोर्वशी ॥

इत्यादि ।

अथ विषाद ।

प्रारब्ध०……०दिकृत् ॥२६॥

यथा वीरचरिते । हा आर्ये ताडके किं हि नामैतत् । अम्बुनि मज्जन्त्यलाबूनि ग्रावाण प्लवन्ते ।

नन्वेष राक्षसपते स्खलित प्रताप
प्राप्तोऽद्भुतः परिभवो हि मनुष्यपोतात् ।
दृष्टः स्थितेन च मया स्वजनप्रमाथो
दैन्य जरा च निरुणद्धि कथ करोमि ॥

अथौत्सुक्यम् ।

कालाक्ष०……०विभ्रमाः ॥३०॥

यथा कुमारसम्भवे ।

आत्मानमालोक्य च शोभमानम्
आदर्शबिम्बे स्तिमितायताक्षी ।
हरोपयाने त्वरिता बभूव
स्त्रीणा प्रियालोकफलो हि वेष ॥

यथा वा तत्रैव ।

पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्राद्
अगमयदद्रिसुतासमागमोत्क. ।
कमपरमवश विप्रकुर्यु-
र्विभुमपि त यदमी स्पृशन्ति भावा ॥

अथ चापला ।

मात्सर्य०……०चरणादयः ॥३१॥

यथा विकटनितम्बाया ।

अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग
लोल विनोदय मनः सुमनोलतासु ।
बालामजातरजसं कलिकामकाले
व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमल्लिकायाः ॥

यथा वा ।

विनिकषणरणत्कठोरदंष्ट्रा
क्रकचविशङ्कटकन्दरोदराणि ।
अहमहमिकया पतन्तु कोपात्
सममधुनैव किमत्र मन्मुखानि ॥

अथवा । प्रस्तुतमेव तावत् सुविहितं करिष्य इति ।

अन्ये च चित्तवृत्तिविशेषा एतेषामेव विभावानुभावस्वरूपानुप्रवेशान् न पृथग् वाच्याः ।

अथ स्थायी ।

विरुद्धै०······लवणाकरः ॥३२॥

सजातीयविजातीयभावान्तरैरतिरस्कृतत्वेनोपनिबध्यमानो रत्यादिः स्थायी । यथा बृहत्कथायां नरवाहनदत्तस्य मदनमञ्जूषायामनुरागः । तत्तदवान्तरानेकनायिकानुरागैरतिरस्कृतः स्थायी । यथा च मालतीमाधवे । श्मशानाङ्के बीभत्सेन मालत्यनुरागस्यातिरस्कारो मम हि प्राक्तनोपलम्भसम्भावितात्मजन्मनः संस्कारस्यानवरतप्रबोधात् प्रतीयमानस्तद्विसदृशैः प्रत्ययान्तरैरतिरस्कृतप्रवाहः प्रियतमास्मृतिप्रत्ययोत्पत्तिसन्तानस्तन्मयमिव करोत्यन्तर्वृत्तिसारूप्यतश्चैतन्यमित्यादिनोपनिबद्ध । तदनेन प्रकारेण विरोधिनामविरोधिना च समावेशो न विरोधी । तथाहि । विरोधः सहानवस्थानं बाध्यबाधकभावो वा । उभयरूपेणापि न तावत् तादात्म्यमस्यैकरूपत्वेनाविर्भावात् । स्थायिना च विभावादीनां यदि विरोधस्तत्रापि न तावत् सहानवस्थानं रत्याद्युपरक्त चेतसि स्रक्सूत्रन्यायेनाविरोधिना व्यभिचारिणा चोपनिबन्धः समस्तभावकस्वसंवेदनसिद्ध । यथैव स्वसंवेदनसिद्धस्तथैव काव्यव्यापारसंरम्भेणानुकार्येऽप्याविष्क्रियमाणः स्वचेतः-

सम्भेदेन तथाविधानन्दसंविदुन्मीलनहेतु सम्पद्यते । तस्मान् न तावद् भावाना सहानवस्थानम् । बाध्यबाधकभावस्तु भावान्तरैर्भावान्तरतिरस्कार । स च व्यभिचारिणा स्थायिनामविरुद्धव्यभिचारिभि स्थायिनोऽविरुद्धास्तेषामङ्गत्वात् प्रधानविरुद्धस्य चाऽङ्गत्वायोगादानन्तर्यविरोधित्वमप्यनेन प्रकारेणाऽऽशस्त भवति । तथा च मालतीमाधवे शृङ्गारानन्तर बीभत्सोपनिबन्धेऽपि न किञ्चिद वैरस्य तदेवमेव स्थिते विरुद्धरसकावलम्बनत्वमेव विरोध हेतु । सत्वविरुद्धरसान्तरव्यवधानेनोपनिबध्यमानो न विरोधी । यथा ।

अणहुणाहुमहेलिग्रहुजुहुपरिमलुसुमुग्रन्धु ।
मुहुकन्तह अगरयणहमङ्गु ण फिट्टइ गन्धु ॥

इत्यत्र बीभत्सरसस्याऽङ्गभूतरसान्तरव्यवधानेन शृङ्गारसमावेशो न विरुद्ध प्रकारान्तरेणैकाश्रयविरोधी परिहर्तव्य । ननु यत्रैकतात्पर्येणतरेषा विरुद्धानामविरुद्धाना च न्यग्भूतत्वेनोपादान तत्र भवत्यङ्गत्वेनाऽविरोध । यत्र तु समप्रधानत्वेनाऽनेकस्य भावस्योपनिबन्धन तत्र कथम् । यथा ।

[1]एक्कत्तो रुग्रइ पिग्रा ग्रण्णत्तो समरतूरणिग्घोसो ।
पेम्मेण रणरसेण ग्र भडस्स डोलाइग्र हिग्रग्र ॥

इत्यादौ रत्युत्साहयो । यथा वा ।

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यम्
आर्या समर्यादमिद वदन्तु ।
सेव्या नितम्बा किमु भूधराणाम्
उत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥

इत्यादौ रतिशमयो । यथा च ।

इय सा लोलाक्षी त्रिभुवनललामैकवसति
स चाऽय दुष्टात्मा स्वसुरपहृत येन मम तत् ।

---

१. एकतो रोदिति प्रियाऽन्यतः समरतूर्यनिर्घोष ।
प्रेम्णा रणरसेन च भटस्य दोलायित हृदयम् ॥

इतस्तीव्रः कामो गुरुरयमितः क्रोधदहनः
कृतो वेषश्चास्य कथमिदमिति भ्राम्यति मनः ॥

इत्यादौ तु रतिक्रोधयोः ।

अन्त्रैः कल्पितमङ्गलप्रतिसराः स्त्रीहस्तरक्तोत्पल-
व्यक्तोत्तंसभृतः पिनद्धशिरसा हृत्पुण्डरीकस्रजः ।
एताः शोणितपङ्ककुङ्कुमजुषः सम्भूय कान्तैः पिब-
न्त्यस्थिस्नेहसुराः कपालचषकैः प्रीताः पिशाचाङ्गनाः ॥

इत्यादावेकाश्रयत्वेन रतिजुगुप्सयोः ।

एकं ध्याननिमीलनान् मुकुलितं चक्षुर्द्वितीयं पुनः
पार्वत्या वदनाम्बुजस्तनतटे शृङ्गारभारालसम् ।
अन्यद्दूरविकृष्टचापमदनक्रोधानलोद्दीपितं
शम्भोर्भिन्नरसं समाधिसमये नेत्रत्रयं पातु वः ॥

इत्यादौ शमरतिक्रोधानाम् ।

एकेनाक्ष्णा प्रविततरुषा वीक्षते व्योमसंस्थं
भानोर्बिम्बं सजललुलितेनापरेणाऽऽत्मकान्तम् ।
अह्नश्छेदे दयितविरहाशङ्किनी चक्रवाकी
द्वौ सङ्कीर्णौ रचयति रसौ नर्तकीव प्रगल्भा ॥

इत्यादौ रतिशोकक्रोधानां समप्राधान्येनोपनिबन्धस्तत् कथं न विरोधः । अत्रोच्यते । अत्राप्येक एव स्थायी । तथाहि । एक्कत्तो रुअइ पिआ इत्यादौ स्थायिभूतोत्साहव्यभिचारिलक्षणवितर्कभावहेतुसन्देहकारणतया करुणसंग्रामतूर्ययोरुपादानं वीरमेव पुष्णातीति भटस्येत्यनेन पदेन प्रतिपादितम् । न च द्वयोः समप्रधानयोरन्योन्यमुपकार्योपकारकभावरहितयोरेकवाक्यभावो युज्यते । किञ्चोपक्रान्ते सङ्ग्रामे सुभटानां कार्यान्तरकरणेन प्रस्तुतसङ्ग्रामौदासीन्येन महदनौचित्यम् । अतो भर्तुः सङ्ग्रामैकरसिकतया शौर्यमेव प्रकाशयन् प्रियतमाकरुणो वीरमेव पुष्णाति । एवं मात्सर्यमित्यादावपि चिरप्रवृत्तरतिवासनाया हेयतयोपादानात् शमैकपरत्वमार्याः समर्यादमित्यनेन प्रकाशितम् । एवमिय सा लोलाक्षारया-

दावपि रावणस्य प्रतिपक्षनायकतया निशाचरत्वेन मायाप्रधानतया च रौद्रव्यभिचारिविषादविभाववितर्कहेतुतया रतिशोकयोरुपादान रौद्रपरमेव। अन्यै र्वलितमङ्गलप्रतिसरा इत्यादौ हास्यरसैकपरत्वमेव । एक ध्यान निमीलनादित्यादौ शम्भार्भावान्तरैरनाक्षिप्ततया शमस्थस्याऽपि योग्यन्तरशमाद् वैलक्षण्यप्रतिपादनेन शमैकपरतैव समाधिसमय इत्यनेन स्फुटीकृता एकेनाऽक्ष्णेत्यादौ तु समस्तमपि वाक्य भविष्यद्विप्रलम्भविषयमिति न क्वचिदनेकतात्पर्यम् । यत्र तु श्लेषादिवाक्येष्वनेकतात्पर्यमपि तत्र वाक्यार्थभेदेन स्वतन्त्रतया चार्थद्वयपरतेत्यदोषः । यथा ।

> श्लाघ्याशेषतनु सुदर्शनकर सर्वाङ्गलीलाजित-
> त्रैलोक्या चरणारविन्दललितेनाऽऽक्रान्तलोको हरि ।
> बिभ्राणा मुखमिन्दुसुन्दररुच चन्द्रात्मचक्षुर्दधत्
> स्थाने या स्वतनोरपश्यदधिका सा रुक्मिणी वोऽवतात् ॥

इत्यादौ तदेवमुक्तप्रकारेणरस्याद्युपनिबन्धे सर्वत्राऽविरोध । यथा वा श्रूयमाणरत्यादिपदेष्वपि वाक्येषु तत्रैव तात्पर्यं तथाऽग्रे दर्शयिष्याम ।

ते च ।

रत्युत्साह०··· नैतस्य ॥३३॥

इह शान्तरस प्रतिवादिनामनेकविधा विप्रतिपत्तय । तत्र केचिदाहु । नाऽस्त्येव शान्तो रस । तस्याऽऽचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनाल्लक्षणाकरणात् । अन्ये तु वस्तुतस्तस्याऽभाव वर्णयन्ति । अनादिकालप्रवाहायातरागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात् । अन्ये तु वीरबीभत्सादावन्तर्भाव वर्णयन्ति । एव वदन्त शममपि नेच्छन्ति । यथा—तथाऽस्तु । सर्वथा नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभि शमस्य निषिध्यते । तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याऽभिनयायोगात् । यत् तु कैश्चिन् नागानन्दादौ शमस्य स्थायित्वमुपवर्णित तत् तु मलयवत्यनुरागेणाऽऽप्रबन्धप्रवृत्तेन विद्याधरचक्रवर्तित्वप्राप्त्याऽविरुद्धम् । न ह्येकानुकार्यविभावालम्बनौ विषयानुरागापरागावुपलब्धौ । अतो दयावीरोत्साहस्यैव तत्र स्थायित्वम् । तत्रैव शृङ्गारस्याऽङ्गत्वेन चक्रवर्तित्वावाप्तेश्च फलत्वेना-

ऽविरोधादीप्सितमेव च सर्वत्र कर्तव्यमिति परोपकारप्रवृत्तस्य विजिगीषो-र्नान्तरीयकत्वेन फलं सम्पद्यत इत्यावेदितमेव प्राक् । अतोऽष्टावेव स्थायिनः । ननु च रसनाद् रसत्वमेतेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः । निर्वेदादिष्वपि तत् प्रकाममस्तीति तेऽपि रसा इत्यादिना रसान्तराणाम-प्यन्यैरभ्युपगतत्वात् स्थायिनोऽप्यन्ये कल्पिता इति अवधारणानुपपत्तिः ।

अत्रोच्यते ।

निवद्रा०...... मता. ॥३४॥

विरुद्धाविरुद्धाविच्छेदित्वस्य निर्वेदादीनामभावादस्थायित्वम् । अतएव ते चिन्तादिस्वस्वव्यभिचार्यन्तरिता अपि परिपोषं नीयमाना वैरस्यमाव-हन्ति । न च निष्फलत्वादमानत्वमेतेषामस्थायित्वनिबन्धनं हास्यादीना-मप्यस्थायित्वप्रसङ्गात् । पारम्पर्येण तु निर्वेदादीनामपि फलवत्त्वात् । अतो निष्फलत्वमस्थायित्वे प्रयोजकं न भवति । किन्तु विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैरतिरस्कृतत्वम् । न च निर्वेदादीनामिति न ते स्थायिनः । ततो रसत्व-मपि न तेषामुच्यते । अतोऽस्थायित्वादेवैतेषामरसता । कः पुनरेषां काव्येनापि सम्बन्धः । न तावद् वाच्यवाचकभावः स्वशब्दैरनावेदित-त्वात् । न हि शृङ्गारादिरसेषु काव्येषु शृङ्गारादिशब्दा रत्यादिशब्दा वा श्रूयन्ते । येन तेषां तत्परिपोषस्य वाऽभिधेयत्वं स्यात् । यत्रापि च श्रूयन्ते तत्रापि विभावादिद्वारकमेव रसत्वमेतेषां न स्वशब्दाभिधेयत्व-मात्रेण । नापि लक्ष्यलक्षकभावस्तत्सामान्याभिधायिनस्तु लक्षकस्य पदस्याप्रयोगात् । नापि लक्षितलक्षणया तत्प्रतिपत्तिः । यथा गङ्गायां घोष इत्यादौ । तत्र हि स्वार्थे स्रोतोलक्षणे घोषस्यावस्थानासम्भवात् स्वार्थं स्खलद्गतिर्गङ्गाशब्दः स्वार्थं विना भूतार्थोपलक्षितं तटमुपलक्षयति । अत्र तु नायकादिशब्दाः स्वार्थेऽस्खलद्गतयः कथमिवार्थान्तरमुपलक्षयेयुः । को वा निमित्तप्रयोजनाभ्यां विना मुख्ये सत्युपचरितं प्रयुञ्जीत । सिंहो माणवक इत्यादिवत् । अतएव गुणवृत्त्यापि नेयं प्रतीतिः । यदि वाच्य-त्वेन रसप्रतिपत्तिः स्यात् तदा केवलवाच्यवाचकभावमात्रव्युत्पन्नचेत-सामप्यरसिकानां रसास्वादो भवेत् । न च काल्पनिकत्वमविगानेन सर्व-

सहृदयाना रसास्वादोद्भूत । अत केचिदभिधालक्षणागौणीभ्यो वाच्यान्तरपरिकल्पितशक्तिभ्यो व्यतिरिक्त व्यञ्जकत्वलक्षण शब्दव्यापार रसालङ्कारवस्तुविषयमिच्छन्ति । तथाहि । विभावानुभावव्यभिचारिमुखेन रसादिप्रतिपत्तिरुपजायमाना कथमिव वाच्या स्यात् यथा कुमारसम्भवे ।

विवृण्वती शैलसुताऽपि भावम्
अङ्गै स्फुटद्बालकदम्बकल्पै ।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ
मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥

इत्यादावनुरागजन्यावस्थाविशेषानुभाववद् गिरिजालक्षणविभावोपवर्णनादेवाऽशब्दाऽपि शृङ्गारप्रतीतिरुदेति । रसान्तरेष्वप्ययमेव न्याय । न केवल रसेष्वेव यावद् वस्तुमात्रेऽपि । यथा ।

[1]भम धम्मिअ वीसद्धो सो सुणहो अज्ज मारिओ तेण ।
गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥

इत्यादौ निषेधप्रतिपत्तिरशब्दाऽपि व्यञ्जकशक्ति मूलैव ।

तथाऽलङ्कारेष्वपि ।

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि ।
क्षोभ यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरय पयोधि ॥

इत्यादिषु चन्द्रतुल्य तन्वीवदनारविन्दमित्याद्युपमाद्यलङ्कारप्रतिपत्तिर्व्यञ्जकत्वनिबन्धनीति । न चाऽसावर्थापत्तिजन्या । अनुपपद्यमानार्थापेक्षाभावात् । नाऽपि वाक्यार्थत्व व्यङ्ग्यस्य तृतीयकक्षाविषयत्वात् । तथाहि । भ्रम धार्मिकेत्यादौ पदार्थविषयाभिधालक्षणप्रथमकक्षातिक्रान्तक्रियाकारकससर्गात्मकविधिविषयवाक्यार्थकक्षातिक्रान्ततृतीयकक्षाक्रान्तो निषेधात्मा व्यङ्ग्यलक्षणोऽर्थो व्यञ्जकशक्त्यधीन स्फुटमेवाऽवभासते ।

---

१. भ्रम धार्मिक विश्रब्ध स श्वाऽद्य मारितस्तेन ।
गोदावरीनदीकच्छकुडङ्गवासिना दृप्तसिंहेन ॥

प्रतीनाऽसौ वाक्यार्थ । ननु च तृतीयकक्षाविषयत्वमश्रूयमाणपदार्थ-तात्पर्येषु विष भुङ्क्ष्वेत्यादिवाक्येषु निषेधार्थ विषयेषु प्रतीयत एव वाक्यार्थ । न चात्र व्यञ्जकत्ववादिनाऽपि वाक्यार्थत्व नेष्यते तात्पर्यादन्यत्वाद् ध्वने । तत्र स्वार्थस्य द्वितीयकक्षायामविश्रान्तस्य तृतीयकक्षाभावात् । सैव निषेध कक्षा तत्र द्वितीयकक्षाविधौ क्रियाकारकससर्गानुपपत्ते । प्रकरणात् पितरि वक्तरि पुत्रस्य विषभक्षणनियोगाभावात् । रसवद् वाक्येषु च विभावप्रतिपत्तिलक्षणद्वितीयकक्षाया रसानवगमात् । तदुक्तम् ।

> अप्रतिष्ठमविश्रान्त स्वार्थे यत्परतामिदम् ।
> वाक्य विगाहते तत्र न्याय्या तत्परताऽस्य सा ॥
> यत्र तु स्वार्थविश्रान्त प्रतिष्ठा तावदागतम् ।
> तत् प्रसर्पति तत्र स्यात् सर्वत्र ध्वनिता स्थिति ॥

इत्येव सर्वत्र रसाना व्यङ्ग्यत्वमेव । वस्त्वलङ्कारयोस्तु क्वचिद् वाच्यत्व क्वचिद् व्यङ्ग्यत्वम् । तत्राऽपि यत्र व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येन प्रतिपत्तिस्तत्रैव ध्वनिरन्यत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम् । तदुक्तम् ।

> यत्रार्थं शब्दो वा यमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
> व्यक्त. काव्यविशेष स ध्वनिरिति सूरिभि कथित ॥
> प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्ग तु रसादयः ।
> काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मति. ॥

यथा । चपोदरागेणेत्यादि । तस्य च ध्वनेर्विवक्षितवाच्याविवक्षितवाच्यत्वेन द्वैविध्यम् । अविवक्षितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतस्वार्थोऽर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यश्चेति द्विधा । विवक्षितवाच्यश्च असलक्ष्यक्रम क्रमद्योत्यश्चेति द्विविध । तत्र रसादीनामसलक्ष्यक्रमे ध्वनित्व प्राधान्यप्रतीतौ सत्याङ्गत्वेन प्रतीतौ रसवदलङ्कार इति ।

अत्रोच्यते ।

वाच्या ······भावस्तथेतरं ॥३५॥

(यथा लौकिकवाक्येषु श्रूयमाणक्रियेषु गामभ्याजेत्यादिष्वश्रूयमाणक्रियेषु च द्वार द्वारमित्यादिषु स्वशब्दोपादानात् प्रकरणादिवशाद् बुद्धि-

यावत्कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुलाधृतम् ।।
भ्रमधार्मिकविश्वब्धमिति भ्रमिकृतास्पदे ।
निर्व्यावृत्ति कथं वाक्यं निषेधमुपसर्पति ।।
प्रतिपाद्यस्य विश्रान्तिरपेक्षापूरणाद् यदि ।
वक्तुर्विवक्षितप्राप्तेरविश्रान्तिर्न वा कथम् ।।
पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षा परतन्त्रता ।
वक्त्रभिप्रेततात्पर्यमतः काव्यस्य युज्यते ।।

इति । अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः । किं तर्हि भाव्यभावकसम्बन्धः काव्यं हि भावकम् । भाव्या रसादयः । ते हि स्वतो भवन्त एव भावकेषु विशिष्टविभावादिमता काव्येन भाव्यन्ते न चाऽन्यत्र शब्दान्तरेषु भाव्यभावकलक्षणसम्बन्धाभावात् काव्यशब्देष्वपि तथा भाव्यमिति वाच्यम् । भावनाक्रियावादिभिस्तथाऽङ्गीकृतत्वात् । किञ्च मा चाऽन्यत्र तथास्त्वन्वयव्यतिरेकाभ्यामिह तथाऽवगमात् । तदुक्तम् ।

भावाभिनयसम्बन्धान् भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात् तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ।।

इति । कथं पुनरगृहीतसम्बन्धेभ्यः पदेभ्यः स्थाय्यादिप्रतिपत्तिरिति चेत् लोके तथाविधचेष्टायुक्तस्त्रीपुंसादिषु रत्याद्यविनाभावदर्शनादिहाऽपि तथोपनिबन्धे सति रत्याद्यविनाभूतचेष्टादिप्रतिपादकशब्दश्रवणादभिधेयाविनाभावेन लाक्षणिकी रत्यादिप्रतीतिः । यथा च काव्यार्थस्य रसभावकत्वं तथाऽग्रे वक्ष्यामः ।

रस. ''' परत्वतः ।।३६।।

द्रष्टुः''' ''दर्शनात् ।।३७।।

काव्यार्थोपप्लाविनो रसिकवर्ती रत्यादिः स्थायीभावः स इति प्रतिनिर्दिश्यते । स च स्वाद्यतां निर्भरानन्दसंविदात्मतामापाद्यमानो रसो रसिकवर्तीति वर्तमानत्वात् नाऽनुकार्यरामादिवर्ती वृत्तत्वाद् तस्य । अथ शब्दोपहितरूपत्वेनाऽवर्तमानस्यापि वर्तमानवद्वभासनमिष्यत एव । तथाऽपि तदवभासस्याऽस्मदादिभिरनुभूयमानत्वादसत्समं तेऽकास्वादं प्रति

सन्निवेशिनी नियैव कारकोपचिता वाक्यार्थस्तथा काव्येष्वपि स्वशब्दोपादानात् क्वचित् प्रीत्यै नवोढा प्रियेत्येवमादौ क्वचित् च प्रकरणादिवशात् नियताविहितविभावाद्यविनाभावाद् वा साक्षाद् भावकचेतसि विपरिवर्तमानो रत्यादि स्थायी स्वस्वविभावानुभावव्यभिचारिभिस्तत्तच्छब्दोपनीतैः संस्कारपरम्परया परं प्रौढिमानीयमानो रत्यादिवाक्यार्थः। नचाऽपदार्थस्य वाक्यार्थत्वं नास्तीति वाच्यम्। कार्यपर्यवसायित्वात् तात्पर्यशक्ते। तथाहि 'पौरुषेयमपौरुषेयं वाक्यं सर्वं कार्यपरम्। अतत्परत्वेऽनुपादेयत्वादुन्मत्तादिवाक्यवत् काव्यशब्दानां चान्वयव्यतिरेकाभ्यां निरतिशयसुखास्वादव्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः प्रवृत्तिविषययो प्रयोजनान्तरानुपलब्धे स्वानन्दोद्भूतिरेव कार्यत्वेनावधार्यते। तदुद्भूतिनिमित्तत्व च विभावादिसंसृष्टस्य स्थायिन एवावगम्यते। अतो वाक्यस्याऽभिधानशक्तिस्तेन तेन रसेनाऽऽकृष्यमाणा तत्तत्स्वार्थापेक्षितावान्तरविभावादिप्रतिपादनद्वारा स्वपर्यवसायितामानीयते। तत्र विभावादय पदार्थस्थानीयास्तत्संसृष्टोरत्यादिर्वाक्यार्थः। तदेतत् काव्यवाक्यम्। यदीयं ताविमौ पदार्थवाक्यार्थौ। न चैवं सति गीतादिवत् सुखजनकत्वेऽपि वाच्यवाचकभावानुपयोग। विशिष्टविभावादिसामग्रीविदुषामेव तथाविधरत्यादिभावनावतामेव स्वादोद्भूतेस्तदनेनाऽतिप्रसङ्गोऽपि निरस्त। ईदृशि च वाक्यार्थनिरूपणे परिकल्पिताभिधादिशक्तिवशेनैव समस्तवाक्यार्थावगते शक्त्यन्तरपरिकल्पन प्रयासः यथाऽवोचाम काव्यनिर्णये।

तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनिः।
किमुक्तं स्यादश्रुतार्थतात्पर्येऽन्योक्तिरूपिणि॥
विषं भक्षय पूर्वो यश्चैवं परसुतादिषु।
प्रसह्यते प्रधानत्वाद् ध्वनित्वं केन वार्यते॥
ध्वनिश्चेत् स्वार्थविश्रान्तं वाक्यमर्थान्तराश्रयम्।
तत्परत्वं त्वविश्रान्तौ तन्न विश्रान्त्यसम्भवात्॥
एतावत्येव विश्रान्तिरतात्पर्यस्येति किं कृतम्।

यावत्कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुलाधृतम् ॥
भ्रमधार्मिकविश्रब्धमिति भ्रमितृतात्पदे ।
निर्व्याजवृत्ति क्व वाक्य निषधमुपसर्पति ॥
प्रतिपाद्यस्य विश्रान्तिरपेक्षापूरणाद यदि ।
वक्तुर्विवक्षितप्राप्तरविश्रान्तिर्न वा कथम् ॥
पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षा परतन्त्रता ।
वक्त्रभिप्रेततात्पर्यमत. काव्यस्य युज्यते ॥

इति । अतो न रसादीना काव्येन सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव । किं तर्हि भाव्यभावकसम्बन्ध काव्य हि भावकम् । भाव्या रसादय । ते हि स्वतो भवन्त एव भावकेषु विशिष्टविभा वादिमता काव्येन भाव्यन्ते न चान्यत्र शब्दान्तरेषु भाव्यभावकलक्षणसम्बन्धाभावात् काव्यशब्देष्वपि तथा भाव्यमिति वाच्यम् । भावनाक्रियावादिभिस्तथाऽङ्गीकृतत्वात् । किञ्च मा चान्यत्र तथास्त्वन्वयव्यतिरेकाभ्यामिह तथाऽवगमात् । तदुक्तम् ।

भावाभिनयसम्बन्धान् भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात् तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभि ॥

इति । कथ पुनरगृहीतसम्बन्धेभ्य पदेभ्य स्थाय्यादिप्रतिपत्तिरिति चेत् लोके तथाविधचेष्टायुक्तस्त्रीपुमादिषु रत्याद्यविनाभावदर्शनादिहाऽपि तथोपनिबन्धे सति रत्याद्यविनाभूतचेष्टादिप्रतिपादकशब्दश्रवणादभिधेया विनाभावेन लाक्षणिकी रत्यादिप्रतीति । यथा च काव्यार्थस्य रसभावकत्व तथाग्रे वक्ष्याम ।

रस ''' पररवत. ॥३६॥

द्रष्टुः '''''दर्शनात् ॥३७॥

काव्यार्थोपप्लाविनो रसिकवर्ती रत्यादि स्थायीभाव स इति प्रतिनिर्दिश्यते । स च स्वाद्यता निर्भरानन्दसंविदात्मतामापाद्यमानो रसो रसिकवर्तीति वर्तमानत्वात् नाऽनुकार्यरामादिवर्ती वृत्तत्वात् तस्य । अथ शब्दोपहितरूपत्वेनाऽवर्तमानस्यापि वर्तमानवदवभासनमिष्यत एव । तथाऽपि तदवभासस्याऽस्मदादिभिरनुभूयमानत्वादसत्तैकास्वाद प्रति

विभावत्वेन तु रामादेर्वर्तमानवदवभासनमिष्यत एव । किञ्च न काव्य रामादीना रसोपजननाय कविभि- प्रवर्त्यते । अपितु सहृदयानानन्दयितुम् । स च समस्तभावकस्वसंवेद्य एव । यदि चाऽनुकार्यस्य रामादे शृङ्गार स्यात् ततो नाटकादौ तद्दर्शने लौकिक इव नायके शृङ्गारिणि स्वकान्ता-सयुक्ते दृश्यमाने शृङ्गारवानयमिति प्रेक्षकाणा प्रतीतिमात्र भवेत् न रसाना स्वाद सत्पुरुषाणा च लज्जेतरेषा त्वसूयानुरागापहारेच्छादय प्रसज्येरन् । एव च सति रसादीना व्यङ्ग्यत्वमपास्तम् । अन्यतो लब्धसत्ताक वस्त्वन्येनाऽपि व्यज्यते । प्रदीपेनेव घटादि । न तु तदानीमेवाऽभिव्यञ्ज-कत्वाभिमतैरापाद्य स्वभावम् । भाव्यन्ते च विभावादिभि प्रेक्षकेषु रसा इत्यावेदितमेव ।

ननु च सामाजिकाश्रयेषु रसेषु को विभाव॰ । कथ च सीतादीना च देवीना विभावत्वेनाऽविरोधः उच्यते ।

धीरोदात्ता०······ रसिकस्य ते ॥३८॥

न हि कवयो योगिन इव ध्यानचक्षुषा ध्यात्वा प्रातिस्विकी रामा-दीनामवस्था इतिहासवदुपनिबध्नन्ति । किं तर्हि सर्वलोकसाधारणा स्वोत् प्रेक्षाकृतसन्निधयो धीरोदात्ताद्यवस्था क्वचिदाश्रयमात्रदायिन्यो दधति ।

ता ······रसहेतव ।

तत्र सीतादिशब्दा परित्यक्तजनकतनयादिविशेषा स्त्रीमात्रवाचिनः किमिवाऽनिष्ट कुर्यु । किमर्थं तर्ह्युपादीयन्त इति चेदुच्यते ।

क्रीडता······दिभिः ॥३९॥

एतदुक्त भवति । नाऽत्र लौकिकशृङ्गारादिवत् स्त्र्यादिविभावा-दीनामुपयोग । किं तर्हि प्रतिपादितप्रकारेण लौकिकरसविलक्षणत्व नाट्यरसानाम् । यदाह । अष्टौ नाट्यरसा स्मृता इति ।

काव्यार्थ०······ चाद्यते ।

नर्तकोऽपि न लौकिक रसेन रसवान् भवति । तदानी भोग्यत्वेन स्वमहिलादेरग्रहणात् काव्यार्थभावनया त्वस्मदादिवत् काव्यरसास्वादो-ऽस्यापि न वार्यते ।

कथं च काव्यात् स्वादोद्भूतिः किमात्मा चाऽसाविति व्युत्पादयते ।

स्वाद ······समुद्भवः ॥४०॥

विकासः······ क्रमात् ॥४१॥

हास्याद्भुत······धारणम् ॥४२॥

काव्यार्थेन विभावादि संसृष्टस्थाय्यात्मकेन भावकचेतसः सम्भेदेऽन्योन्य-सवलने प्रत्यस्तमितस्वपरविभागे सति प्रबलतरस्वानन्दोद्भूतिः स्वादः । तस्य च सामान्यात्मकत्वेऽपि प्रतिनियतविभावादिकारणजन्यत्वेन सम्भेदेन चतुर्धा चित्तभूमयो भवन्ति । तद् यथा । शृङ्गारे विकासो वीरे विस्तरो बीभत्से क्षोभो रौद्रे विक्षेप इति तदन्येषां चतुर्णां हास्याद्भुतभयानक-करुणानां स्वसामग्रीलब्धपरिपोषाणां त एव चत्वारो विकासाद्याश्चेतसः सम्भेदाः । अतएव ।

> शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः ।
> वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः ॥

इति । हेतुहेतुमद्भाव एव सम्भेदापेक्षया दर्शितो न कार्यकारणभावा-भिप्रायेण तथा कारणान्तरजन्यत्वात् ।

शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्य इति कीर्तितः ।

इत्यादिना विकासादिसम्भेदैकत्वस्यैव स्फुटीकरणादवधारणमप्यतएवाऽष्टा-विति सम्भेदानां भावात् । ननु च युक्तं शृङ्गारवीरहास्यादिषु प्रमोदा-त्मकेषु वाक्यार्थसम्भेदादानन्दोद्भव इति । करुणादौ तु दुःखात्मकत्वे कथ-मिवाऽसौ प्रादुष्यात् । तथाहि । तत्र करुणात्मककाव्यश्रवणाद् दुःखावि-र्भावोऽश्रुपातादयश्च रसिकानामपि प्रादुर्भवन्ति । न चैतदानन्दात्मकत्वे सति युज्यते । सत्यमेतत् । किन्तु तादृश एवाऽसावानन्दः सुखदुःखात्मको यथा प्रहरणादिषु सम्भोगावस्थायां कुट्टमिते स्त्रीणामन्यश्च लौकिकात् करुणात् काव्यकरुणः । तथाह्यत्रोत्तरोत्तरा रसिकानां प्रवृत्तयः । यदि वा लौकिककरुणवद् दुःखात्मकत्वमेवह स्यात् तदा न कश्चित् तत्र प्रवर्तेत । ततः कारुण्यैकरसानां रामायणादिमहाप्रबन्धानामुच्छेद एव भवेदश्रुपाता-दयश्चेति वृत्तवर्णनाकर्णनेन विनिपातितेषु लौकिकवैक्लव्यदर्शनादिवत्

प्रेक्षकाणां प्रादुर्भवन्तो न विरुध्यन्ते। तस्माद् रसान्तरवत् करुणस्याप्यानन्दात्मकत्वमेव।

ननु शान्तरसस्याऽनभिधेयत्वाद् यद्यपि नाट्येऽनुप्रवेशो नाऽस्ति तथाऽपि सूक्ष्मातीतादिवस्तूनां सर्वेषामपि शब्दप्रतिपाद्यताया विद्यमानत्वात् काव्यविषयत्वं न निवार्य्यते। अतस्तदुच्यते।

शम०···तदात्मता।

शान्तो हि यदि तावत्।

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता
न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः
सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः॥

इत्येवं लक्षणस्तदा तस्य मोक्षावस्थायामेवाऽऽत्मस्वरूपापत्तिलक्षणायां प्रादुर्भावात् तस्य च स्वरूपेणाऽनिर्वचनीयता। तथाहि श्रुतिरपि स एष नेति नेत्यन्यापोहरूपेणाऽऽह न च तथाभूतस्य शान्तरसस्य सहृदयाः स्वादयितारः सन्त्यथ तदुपायभूतो मुदितामैत्रीकरुणोपेक्षादिलक्षणस्तस्य च विकासविस्तारक्षोभविक्षेपरूपतैवेति। तदुक्त्यैव शान्तरसास्वादो निरूपितः।

इदानीं विभावादिविषयावान्तरकाव्यव्यापारप्रदर्शनपूर्वकं प्रकरणेनोपसंहारः प्रतिपाद्यते।

पदार्थ०···गतैः॥४३॥

भावित··०परिकीर्तितः।

प्रतिशयोक्तिरूपकाव्यव्यापाराहितविशेषैश्चन्द्राद्यैरुद्दीपनविभावैः प्रमदाप्रभृतिभिरालम्बनविभावैर्निर्वेदादिभिर्व्यभिचारिभावैः रोमाञ्चाश्रुभ्रूक्षेपकटाक्षाद्यैरनुभावैरवान्तरव्यापारतया पदार्थीभूतैर्वाक्यार्थः स्थायीभावो विभावितो भावरूपतामानीतः स्वदते स रस इति प्राक्प्रकरणे तात्पर्यम्।

विशेषलक्षणान्युच्यन्ते। तत्राऽऽचार्येण स्थायिनां रत्यादीनां शृङ्गारादीनां च पृथग् लक्षणानि विभावादिप्रतिपादनेनोदितानि। अत्र तु।

सक्षणैक्य···०दयो॥४४॥

न्मियन इति वाक्यशेष ।

तत्र तावत् शृङ्गार ।

रम्यदेश०···विचेष्टितं ॥४५॥

इत्थमुपनिबध्यमान काव्य शृङ्गारास्वादाय प्रभवतीति । वस्तूपदेश-परमेतत् ।

तत्र देशविभावो यथोत्तररामचरिते ।

स्मरसि सुतनु तस्मिन् पर्वते लक्ष्मणेन
प्रतिविहितसपर्यासुस्थयोस्तान्यहानि ।
स्मरसि सरसतीरा तत्र गोदावरी वा
स्मरसि च तदुपान्तेष्वावयोर्वर्तनानि ॥

कलाविभावो यथा ।

हस्तैरन्तर्निहितवचनै सूचित सम्यगर्थ
पादन्यासैर्लयमुपगतस्तन्मयत्व रसेषु ।
शाखायोनिर्मृदुरभिनय षड्विकल्पोऽनुवृत्ति-
र्भावे भावे नुदति विषयान् रागबन्ध स एव ॥

यथा च ।

व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना दशविधेनाप्यत्र लब्धाऽमुना
विस्पष्टो द्रुतमध्यलम्बितपरिच्छिन्नस्त्रिधाऽय लयः ।
गोपुच्छप्रमुखा क्रमेण गतयस्तिस्रोऽपि सम्पादिता-
स्तत्त्वौघानुगताश्च वाद्यविधय सम्यक् त्रयो दर्शिता ॥

कालविभावो यथा कुमारसम्भवे ।

असूत सद्य कुसुमान्यशोक स्कन्धात् प्रभृत्येव सपल्लवानि ।
पादेन चापैक्षत सुन्दरीणा सम्पर्कमासिञ्जितनूपुरेण ॥

इत्युपक्रमे ।

मधु द्विरेफ कुसुमैकपात्रे
पपौ प्रिया स्वामनुवर्तमान ।
शृङ्गेण सस्पर्शनिमीलिताक्षी
मृगीमकण्डूयत कृष्णसार ॥

वेषविभावो यथा तत्रैव ।

अशोकनिर्भर्त्सितपद्मराग
माकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम् ।
मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवार
वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ति ॥

उपभोगविभावो यथा ।

चक्षुर्लुप्तमषीकणं कवलितस्ताम्बूलरागोऽधरे
विश्रान्ता कबरी कपोलफलके लुप्तेव गात्रद्युतिः ।
जाने सम्प्रति मानिनि प्रणयिना कैरप्युपायक्रमै-
र्भग्नो मानमहातरुस्तरुणिते चेतःस्थलीवर्धितः ॥

प्रमोदात्मा रतिर्यथा मालतीमाधवे ।

जगति जयिनस्ते ते भावा नवेन्दुकलादयः
प्रकृतिमधुराः सन्त्येवाऽन्ये मनो मदयन्ति ये ।
मम तु यदियं याता लोके विलोचनचन्द्रिका
नयनविषयं जन्मन्येकः स एव महोत्सवः ॥

युवतिविभावो यथा मालविकाग्निमित्रे ।

दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयोः
संक्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव ।
मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालाङ्गुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसः स्पष्टं तथाऽस्या वपुः ॥

यूनोर्विभावो यथा मालतीमाधवे ।

भूयो भूयः सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्तं
दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुङ्गवातायनस्था ।
साक्षात् कामं नवमिव रतिर्मालती माधवं यद्
गाढोत्कण्ठालुलितललितैरङ्गकैस्ताम्यतीति ॥

अन्योन्यानुरागो यथा तत्रैव ।

यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं तद्
आवृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या ।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः ॥

मधुराङ्गविचेष्टितं यथा तत्रैव ।

स्तिमितविकसितानामुल्लसद्भ्रूलतानां
मसृणमुकुलितानां प्रान्तविस्तारभाजाम् ।
प्रतिनयननिपाते किञ्चिदाकुञ्चितानां
विविधमहमभूवं पात्रमालोकितानाम् ॥

ये सत्त्वजाः०······मिष्टम् ॥ ४६ ॥

त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणश्चाष्टौ स्थायिनः अष्टौ सात्त्विकाश्चेत्येवमेकपञ्चाशत् । युक्ताऽङ्गत्वेनोपनिबध्यमाना शृङ्गारं सम्पादयन्त्यालस्यौग्र्यजुगुप्सामरणादीन्येकालम्बनविभावाश्रयत्वेन साक्षादङ्गत्वेन चोपनिबध्यमानानि विरुध्यन्ते । प्रकारान्तरेण चाऽविरोध प्राक् प्रतिपादित एव ।

विभागस्तु ।

अयोगो······त्रिधा ।

अयोगविप्रयोगविशेषत्वाद् विप्रलम्भस्यैतत् सामान्याभिधायित्वेन विप्रलम्भशब्द उपचरितवृत्तिर्माभूदिति न प्रयुक्त । तथाहि । दत्त्वा सङ्केतमप्राप्तेऽवधिव्यतिक्रमे साम्येन नायिकान्तरानुसरणाच्च विप्रलम्भशब्दस्य मुख्यप्रयोगो वञ्चनार्थत्वात् ।

तत्रा०······०सङ्गमः ॥ ४७ ॥

योगोऽन्योन्यस्वीकारस्तदभावस्त्वयोग । पारतन्त्र्येण विप्रकर्षाद् दैवपित्राद्यायत्तत्वात् सागरिकामालत्योर्वत्सराजमाधवाभ्यामिव दैवाद् गौरीशिवयोरिवाऽसमागमोऽयोग ।

दशावस्थ······यथोत्तरम् ॥ ४८ ॥

अभिलाष······०सायमा ॥ ४९ ॥

साक्षात्''''''०गुणस्तुते ।। ५० ।।

अभिलाषो यथा शाकुन्तले ।

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा
यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥

विस्मयो यथा ।

स्तनावालोक्य तन्वङ्ग्या शिरः कम्पयते युवा ।
तयोरन्तरनिर्मग्नां दृष्टिमुत्पाटयन्निव ।।

आनन्दो यथा विद्धशालभञ्जिकायाम् ।

सुधाबद्धग्रासैरुपवनचकोरैः कवलितां
किरन् ज्योत्स्नामच्छां लवलिफलपाकप्रणयिनीम् ।
उपप्राकाराग्रं प्रहिणु नयने तर्कय मनाग्
अनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः ।।

साध्वसं यथा कुमारसम्भवे ।

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि-
निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती ।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ ॥

यथा वा ।

व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे
गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी
सा तथाऽपि रतये पिनाकिनः ॥

शानु०''''''०दर्शिताः ।

गुणकीर्तनं तु स्पष्टत्वान् न व्याख्यातम् ।

दशा०''''''तदनन्तता ।। ५१ ।।

दिङ्मात्र तु ।

दृष्टे·······०चिन्तनात् ॥ ५२ ॥

शेष प्रच्छन्नकामितादि कामसूत्रादवगन्तव्यम् ।

अथ विप्रयोग ।

विप्रयोगस्तु ····· प्रणयेर्ष्ययो ॥ ५३ ॥

'प्राप्तयोरप्राप्तिर्विप्रयोग । तस्य द्वौ भेदौ मान प्रवासश्च । मानविप्रयोगोऽपि द्विविध , प्रणयमान ईर्ष्यामानश्चेति ।

तत्र·······०योर्द्वयो ।

प्रेमपूर्वको वशीकार प्रणयस्तद्भङ्गो मान प्रणयमान । स च द्वयोर्नायकयोर्भवति । तत्र नायकस्य यथोत्तररामचरिते ।

अस्मिन्नेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षण
सा हसै कृतकौतुका चिरमभूद् गोदावरीसैकते ।
आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वा वीक्ष्य बद्धस्तया
कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्ध प्रणामाञ्जलि ॥

नायिकाया यथा श्रीवाक् पति राजदेवस्य ।

प्रणयकुपिता दृष्ट्वा देवी ससम्भ्रमविस्मित-
स्त्रिभुवनगुरुर्भीत्या सद्य प्रणामपरोऽभवत् ।
नमितशिरसो गङ्गालोके तया चरणाहता
ववतु भवतस्त्र्यक्षस्यैतद् विलक्षमवस्थितम् ॥

उभयो प्रणयमानो यथा ।

[1]पणअकुविआण दोण्हवि अलिअपसुत्ताण माणइन्ताणम् ।
णिच्चलणिरुद्धणीसासदिण्ण अण्णाण को मल्लो ॥

स्त्रीणा०·······०मुखात् ॥ ५४ ॥

उत्स्वप्ना०······ ०गोचर ॥ ५५ ॥

ईर्ष्यामान पुन स्त्रीणामेव नायिकान्तरसङ्गिनि स्वकान्ते उपलब्धे

---

१. प्रणयकुपितयोर्द्वयोरप्यलीकप्रसुप्तयोर्मानवतो ।
निश्चलनिरुद्धनिश्वासदत्तकर्णयो. को मल्ल. ॥

गत्यन्यासङ्ग श्रुतो वाऽनुमितो दृष्टो वा स्यात्। तत्र श्रवणं सखीवचनात् तस्या विदग्धास्यन्यात्। यथा ममैव।

मुग्धे त्वं नयनीतकल्पहृदया केनाऽपि दुर्मन्त्रिणा
मिथ्यैव प्रियकारिणा मधुमुखेनाऽस्मासु चण्डीकृता।
किं त्वेतद् विमृश क्षणं प्रणयिनामेणाक्षि कस्ते हितः
किं धात्रीतनया वयं किमु सखी किंवा किमस्मत्सुहृत्॥

उत्स्वप्नायितो यथा रुद्रस्य।

निर्मग्नेन मयाऽम्भसि स्मरभरादालीसमालिङ्गिता
केनाऽलीकमिदं तवाऽद्य कथितं राधे मुधा ताम्यसि।
इत्युत्स्वप्नपरम्परासु शयने श्रुत्वा वचः शार्ङ्गिणः
सव्याजं शिथिलीकृतः कमलया कण्ठग्रहः पातु वः॥

भोगाङ्कानुमितो यथा।

नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन
स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम्।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशंसी विसर्पन्
नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम्॥

गोत्रस्खलनकल्पितो यथा।

[1]केलीगोत्तक्खलणे विकुप्पए केअवं अआणन्ती।
दुट्ठ उअसु परिहासं जाआ सच्चं विअ परुण्णा॥

दृष्टो यथा श्रीमुञ्जस्य।

प्रणयकुपितां दृष्ट्वा देवीं ससम्भ्रमविस्मित-
स्त्रिभुवनगुरुर्भीत्या सद्यः प्रणामपरोऽभवत्।
नमितशिरसो गङ्गालोके तया चरणाहता-
ववतु भवतस्त्र्यक्षस्यैतद् विलक्षमवस्थितम्॥

एषाम्।

---

१ केलीगोत्रस्खलने विकुप्यति कैतवमजानन्ती।
दुष्ट पश्य परिहासं जाया सत्यमिव प्ररुदिता॥

यथोत्तरं……रसान्तरं ॥ ५६ ॥

तत्र……नतिः ॥ ५७ ॥

सामादौ……पादिताः ॥ ५८ ॥

तत्र प्रियवच नाम यथा ममैव ।

स्मितज्योत्स्नाभिस्ते धवलयति विश्वं मुखशशी
दृशस्ते पीयूषद्रवमिव विमुञ्चन्ति परितः ।
वपुस्ते लावण्यं किरति मधुरं दिक्षु तदिदं
कुतस्ते पारुष्यं सुतनु हृदयेनाद्य गुणितम् ॥

[यथा वा ।

इन्दीवरेण नयनं मुखमम्बुजेन कुन्देन दन्तमधरं नवपल्लवेन ।
अङ्गानि चम्पकदलैः स विधाय वेधाः कान्ते कथं रचितवानुपलेन चेतः]

नायिकासखीसमावर्जनभेदो यथा ममैव ।

कृतेऽप्याज्ञाभङ्गे कथमिव मया ते प्रणतयो
धृता स्मित्वा हस्ते विसृजति रुषं सुभ्रु बहुशः ।
प्रकोपः कोऽप्यन्यः पुनरयमसीमाद्य गुणितो
वृथा यत्र स्निग्धाः प्रियसहचरीणामपि गिरः ॥

दानं व्याजेन भूषादेर्यथा माघे ।

महुरुपहसितामिवालिनादै-
र्वितरसि नः कलिकां किमर्थमेनाम् ।
अधिरजनि गतेन धाम्नि तस्याः
शठ कलिरेव महांस्तवाद्य दत्तः ॥

पादयोः पतनं नतिर्यथा ।

¹णेउरकोडिविलग्गं चिहुरं दइअस्स पाअपडिअस्स ।
हिअअं माणपउत्थं उम्मोअन्ति च्चिअ कहेइ ॥

---

१ नूपुरकोटि विलग्नं चिकुरं दयितस्य पादपतितस्य ।
हृदयं मानपदोत्थमुन्मुञ्चन्तमित्येव कथयति ॥

उपेक्षा तदवधीरणं यथा ।

किं गतेन न हि युक्तमुपैतुं नेश्वरे परुषता सखि साध्वी ।
आनयैनमनुनीय कथं वा विप्रियाणि जनयन्ननुनेयः ॥

रभसत्रासहर्षादेः रसान्तरात्कोपभ्रंशो यथा ममैव ।

अभिव्यक्तालीकः सकलविफलोपायविभव-
श्चिरं ध्यात्वा सद्यः कृतकृतकसंरम्भनिपुणम् ।
इतः पृष्ठे पृष्ठे किमिदमिति सन्त्रास्य सहसा
कृताश्लेषां धूर्तः स्मितमधुरमालिङ्गति वधूम् ॥

अथ प्रवासविप्रयोगः ।

कार्यतः ... दितः ॥५६॥

स च ... पूर्वकः ।

आद्यः कार्यजः समुद्रगमनसेवादिकार्यवशप्रवृत्तो बुद्धिपूर्वकत्वात् भूतभविष्यद्वर्तमानतया त्रिविधः ।

तत्र यास्यत्प्रवासो यथा ।

[1]होन्तपहिअस्स जाआ आउच्छणजीअधारणरहस्सम् ।
पुच्छन्ती भमइ घरं घरेसु पिअविरहसहिरीआ ॥

गच्छत्प्रवासो यथाऽमरुशतके ।

[प्रहरविरतौ मध्ये वाऽह्नस्ततोऽपि परेऽथवा
दिनकृति गते वाऽस्तं नाथ त्वमद्य समेष्यसि ।
इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं बालाऽऽलापैः सबाष्पगलज्जलैः ॥
यथा वा तत्रैव ।]
देशैरन्तरिता शतैश्च सरितामुर्वीभृतां काननै-
र्यत्नेनाऽपि न याति लोचनपथं कान्तेति जानन्नपि ।

---

१. भविष्यत्पथिकस्य जाया आयुःक्षणजीवधारणरहस्यम् ।
पृच्छन्ती भ्रमति गृहाद्गृहेषु प्रियविरहसहनशीला ॥

उद्ग्रीवैश्चरणार्धरुद्धवमुखं कृत्वाऽश्रुपूर्णे दृशौ
तामाशामथिवस्तथाऽपि किमपि ध्यात्वा चिरं तिष्ठति ॥

गतप्रवासो यथा मेघदूते ।

उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथञ्चिद्
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ।

आगच्छदागतयोस्तु प्रवासाभावादेष्यत्प्रवासस्य च गतप्रवासाविशेषात् त्रैविध्यमेव युक्तम् ।

द्वितीय ......यात् ।

उत्पातनिर्घातवातादिजन्यविप्लवात् परचक्रादिजन्यविप्लवाद् वाऽबुद्धिपूर्वकत्वादेकरूप एव सम्भ्रमजः प्रवासः । यथोर्वशीपुरूरवसोर्विक्रमोर्वश्याम् । यथा च कपालकुण्डलापहृतायां मालत्यां मालतीमाधवयोः ।

स्वरूपा०......पि ॥६०॥

यथा कादम्बर्यां वैशम्पायनस्येति ।

मृते......नेतर ॥६१॥

यथेन्दुमतीमरणादजस्य करुण एव रघुवंशे । कादम्बर्यां तु प्रथमं करुण आकाशसरस्वतीवचनादूर्ध्वं प्रवासशृङ्गार एवेति ।

तत्र नायिकां प्रति नियमः ।

प्रणया०......खण्डिता ॥६२॥

अथ सम्भोगः ।

अनुकूलौ ......मुदाऽन्वितः ॥६३॥

यथोत्तररामचरिते ।

किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगाद्
अविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण ।
अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत् ॥

उपेक्षा तदवधीरण यथा ।

कि गतेन न हि युक्तमुपैतु नेश्वरे परुषता सखि साध्वी ।
मानयैनमनुनीय कथ वा विप्रियाणि जनयन्ननुनेय ॥

रभसत्रासहर्षादि रसान्तरात्कोपभ्र शो यथा ममैव ।

अभिव्यक्तालोक सकलविफलोपायविभव
श्चिर ध्यात्वा सद्य कृतकृतकसरम्भनिपुणम् ।
इत पृष्ठे पृष्ठे किमिदमिति सन्त्रास्य सहसा
कृताश्लेषा धूर्त स्मितमधुरमालिङ्गति वधूम् ॥

अथ प्रवासविप्रयोग ।

कार्यत दिता ॥५६॥

स च पूर्वक ।

आद्य काय्यज समुद्रगमनसेवादिकाय्यवशप्रवृत्तौ बुद्धिपूर्वकत्वात् भूतभविष्यद्वर्तमानतया त्रिविध ।

तत्र यास्यत्प्रवासो यथा ।

[1]होन्तपहिअस्स जाआ आउच्छणजीअधारणरहस्सम् ।
पुच्छन्ती भमइ घर घरेसु पिअविरहसहिरीआ ॥

गच्छत्प्रवासो यथाऽमरुशतके ।

[प्रहरविरतौ मध्ये वाऽह्नस्ततोऽपि परेऽथवा
दिनकृति गते वाऽस्त नाथ त्वमद्य समेष्यसि ।
इति दिनशतप्राप्य देश प्रियस्य यियासतो
हरति गमन बालाऽऽलापै सबाष्पगलज्जलै ॥
यथा वा तत्रैव ।]

दृशोरन्तरिता शतैश्च सरितामुर्व्वीभृता काननै-
यत्नेनाऽपि न याति लोचनपथ कान्तेति जानन्नपि ।

---

१. भविष्यत्पथिकस्य जाया आयु क्षणजीवधारणरहस्यम् ।
पृच्छन्ती भ्रमति गृहाद्गृहेषु प्रियविरहसहिष्णुका ॥

अथवा । प्रिये किमेतत् ।

> विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
> प्रमोदो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः ।
> तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
> विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥

यथा च ममैव ।

> लावण्यामृतवर्षिणि प्रतिदिशं कृष्णागरुश्यामले
> वर्षाणामिव ते पयोधरभरे तन्वङ्गि दूरोन्नते ।
> नासावंशमनोज्ञवेतकतनुभ्रूपत्रगर्भोल्लसत्
> पुष्पश्रीस्तिलकः सहेलमलकैर्भृङ्गैरिवाऽऽपीयते ॥

चेष्टास्तत्र ·····प्रति ॥६४॥

ताश्च सोदाहृतयो नायकप्रकाशे दर्शिताः ।

रम्येच् ' न च ॥६५॥

ग्राम्यः सम्भोगः रङ्गे निषिद्धोऽपि काव्येऽपि न कर्तव्य इति पुनर्निषिध्यते । यथा रत्नावल्याम् ।

> स्पृष्टस्त्वयैष दयिते स्मरपूजाव्यापृतेन हस्तेन ।
> उद्भिन्नापरमृदुतरकिसलय इव लक्ष्यतेऽशोकः ॥

इत्यादि । नायकनायिकाकैशिकीवृत्तिनाटकनाटिकालक्षणाद्युक्तं कविपरम्परावगतं स्वयमौचित्यसम्भावनानुगुण्येनोत्प्रेक्षितं चाऽनुसन्दधानः सुकविः शृङ्गारमुपनिबध्नीयात् ।

अथ वीरः ।

वीरः···· ॰प्रहर्षा ॥६६॥

प्रतापविनयादिभिर्विभावितः करुणायुद्धदानाद्यैरनुभावितो गर्वधृतिहर्षामर्षस्मृतिमतिवितर्कप्रभृतिभिर्भावित उत्साहः स्थायी स्वदते भावकमनोविस्तारानन्दाय प्रभवतीत्येष वीरः । तत्र दया वीरो यथा नागानन्दे जीमूतवाहनस्य । युद्धवीरो वीरचरिते रामस्य । दानवीरः परशुरामबलिप्रभृतीनाम् ।

न्याग-सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधि'। इति।

सर्वप्रन्थिविमुक्तसन्धिविकटसद्वक्षः स्फुरत्कौस्तुभ
निर्यन्नाभिसरोजकुड्मलकुटीगम्भीरसामध्वनि ।
पात्रावाप्तिसमुत्सुकेन बलिना सानन्दमालोकित
पायाद् व क्रमवर्धमानमहिमाश्चर्यं मुरारेर्वपु ॥

यथा च ममैव।

लक्ष्मीपयोधरोत्सङ्ग कुङ्कुमारुणितो हरे ।
बलिरेष स येनास्य भिक्षापात्रीकृत करः ॥

विनयादिषु पूर्वमुदाहृतमनुसन्धेयम्। प्रतापगुणावर्जनादिना धीराणामपि भावान् चैव प्रायोवादः। प्रस्वेदरक्तवदननयनादिक्रोधानुभावरहितो युद्धवीरोऽन्यथा रौद्र।

अथ बीभत्स।

बीभत्स ······शङ्कादयः।

अत्यन्ताहृद्यै कृमिपूतिगन्धिप्रायविभावैरुद्भूतो जुगुप्सास्थायिभावपरिपोषणलक्षण उद्वेगी बीभत्सः। यथा मालतीमाधवे।

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूच्छोफभूयांसि मांसा
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा।
आर्तं पर्यस्तनेत्र प्रकटितदशन प्रेतरङ्क करङ्काद्
अङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥

रुधिरान्त्रवसाकीकसमांसादिविभाव क्षोभणो बीभत्सः। यथा वीरचरिते।

अन्त्रप्रोतबृहत्कपालनलक क्रूरक्वणत्कङ्कण-
प्रायप्रेङ्खितभूरिभूषणरवैराघोषयन्त्यम्बरम्।
पीतोच्छर्दितरक्तकर्दमघनप्राग्भारघोरोल्लसद्-
व्यालोलस्तनभारभैरववपुर्दर्पोद्धत धावति ॥

रम्येष्वपि रमणीजघनस्तनादिषु वैराग्याद् घृणाशुद्धो बीभत्स।
यथा।

अथवा । प्रिये किमेतत् ।

> विनिश्चेतु शक्यो न सुखमिति वा दु खमिति वा
> प्रमोदो निद्रा वा किमु विषविसर्प किमु मद ।
> तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणे
> विकार कोऽप्यन्तर्जडयति च ताप च कुरुते ॥

यथा च ममैव ।

> लावण्यामृतवर्षिणि प्रतिदिश कृष्णागरुश्यामले
> वर्षाणामिव ते पयोधरभरे तन्वङ्गि दूरोन्नते ।
> नासावशमनोज्ञकेतकतनुर्भ्रू पत्रगर्भोल्लसत्
> पुष्पश्रीस्तिलक सहेलमलकैर्भृङ्गैरिवाऽऽपीयते ॥

चेष्टास्तत्र ··· प्रति ॥६४॥

ताश्च सोदाहृतयो नायकप्रकाशे दर्शिता ।

रमयेच् · न च ॥६५॥

ग्राम्य सम्भोग रङ्गे निषिद्धोऽपि काव्येऽपि न कर्त्तव्य इति पुनर्निषिध्यते । यथा रत्नावल्याम् ।

> स्पृष्टस्त्वयैष दयिते स्मरपूजाव्यापृतेन हस्तेन ।
> उद्भिन्नापरमृदुतरकिसलय इव लक्ष्यतेऽशोक ॥

इत्यादि । नायकनायिकाकैशिकीवृत्तिनाटकनाटिकालक्षणाद् युक्त कविपरम्परावगत स्वयमौचित्यसम्भावनानुगुण्येनोत्प्रेक्षित चाऽनुसन्दधानः सुकवि शृङ्गारमुपनिबध्नीयात् ।

अथ वीर ।

वीर ···· ०प्रहर्षा ॥६६॥

प्रतापविनयादिभिर्विभावित करुणायुद्धदानाद्यैरनुभावितो गर्वधृतिहर्षामर्षस्मृतिमतिवितर्कप्रभृतिभिर्भावित उत्साह स्थायी स्वदते भावकमनोविस्तारानन्दाय प्रभवतीत्येष वीर । तत्र दया वीरो यथा नागानन्दे जीमूतवाहनस्य । युद्धवीरो वीरचरिते रामस्य । दानवीर परशुरामबलिप्रभृतीनाम् ।

न्यागःसप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधि ।। इति ।

सर्वग्रन्थिविमुक्तसन्धिविकसद्वक्षः स्फुरत्कौस्तुभ
निर्यन्नाभिसरोजकुड्मलकुटीगम्भीरसामध्वनि ।
पात्रावाप्तिसमुत्सुकेन बलिना सानन्दमालोकित
पायाद् व क्रमवर्धमानमहिमाश्चर्यं मुरारेर्वपु ।।

यथा च ममैव ।

लक्ष्मीपयोधरोत्सङ्गकुङ्कुमारुणितो हरे ।
बलिरेष स येनास्य भिक्षापात्रीकृत कर' ।।

विजयादिषु पूर्वमुदाहृतमनुसन्धेयम् । प्रतापगुणावर्जनादिना धीराणामपि भावात् श्रेय प्रायोवादः । प्रस्वेदरक्तवदननयनादिक्रोधानुभावरहितो युद्धवीरोऽन्यथा रौद्र. ।

अथ बीभत्सः ।

बीभत्सः······शङ्कादयः ।

अत्यन्ताहृद्यैं कृमिपूतिगन्धिप्रायविभावैरुद्भूतो जुगुप्सास्थायिभावपरिपोषणलक्षण उद्वेगी बीभत्सः । यथा मालतीमाधवे ।

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूच्छोफभूयांसि मांसा
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।
आर्तं पर्यस्तनेत्र प्रकटितदशन प्रेतरङ्क करङ्काद्
अङ्कस्थादस्थिसंस्थ स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ।।

रुधिरान्त्रवसाकीकसमांसादिविभाव क्षोभणो बीभत्सः । यथा वीरचरिते ।

अन्त्रप्रोतबृहत्कपालनलक क्रूरक्वणत्कङ्कण-
प्रायप्रेङ्खितभूरिभूषणरवैराघोषयन्त्यम्बरम् ।
पीतोच्छर्दितरक्तकर्दमघनप्राग्भारघोरोल्लसद्-
व्यालोलस्तनभारभैरववपुर्दर्पोद्धत धावति ।।

रम्येष्वपि रमणीजघनस्तनादिषु वैराग्याद् घृणाशुद्धो बीभत्स. । यथा ।

लाला वक्त्रासव वेत्ति मासपिण्डौ पयोधरौ ।
मासास्थिकूट जघन जन कामग्रहातुर ॥

न चाय शान्त एव विरक्तो यतो बीभत्समानो विरज्यते ।

अथ रौद्र ।

क्रोधो··· ·वेगादय ॥६८॥

मात्सर्यविभावो रौद्रो यथा वीरचरिते ।

त्व ब्रह्मवर्चसधरो यदि वर्तमानो
यद्वा स्वजातिसमयेन धनुर्धर स्या ।
उग्रेण भोस्तव तपस्तपसा दहामि
पक्षान्तरस्य सदृश परशु करोति ॥

वैरिवैकृतादिर्यथा वेणी सहारे ।

लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशै
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च न प्रहृत्य ।
आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशा
स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्रा ॥

इत्येवमादिविभावै प्रस्वेदरक्तवदननयनाद्यनुभावै शस्त्रोल्लेखादि-
भिरभि क्रोधपरिपोषो रौद्र । परशुरामभीमसेनदुर्योधनादिव्यवहारेषु
वीरचरितवेणीसहारादेरनुगन्तव्य ।

अथ हास्य ।

विकृता॰ · स्मृत ॥६९॥

आत्मस्थान् विकृतवेषभाषादीन् परस्थान् वा विभावानवलम्बमानो
हासस्तत्परिपोषात्मा हास्यो रसो द्व्यधिष्ठानो भवति । स चोत्तममध्य-
माधमप्रकृतिभेदात् षड्विध ।

आत्मस्थो यथा राघव ।

जात मे परुषेण भस्मरजसा तच्चन्दनोद्धूलन
हारो वक्षसि यज्ञसूत्रमुचित क्लिष्टा जटा कुन्तला ।

रुद्राक्षं भवले सरत्नवलय चित्रांशुकं वल्कल
सीतालोचनहारि कल्पितमहो रम्यं वपुः कामिनः ॥

परस्थो यथा ।

भिक्षो मांसनिषेवणं प्रकुरुषे किं तेन मद्यं विना
किं ते मद्यमपि प्रियं प्रियमहो वाराङ्गनाभिः सह ।
वेश्या द्रव्यरुचिः कुतस्तव धनं द्यूतेन चौर्येण वा
चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतो दासस्य काऽन्या गतिः ॥

स्मितमिह······ हसितम् ॥७०॥

अपहसितं······क्रमशः ॥७१॥

उत्तमस्य स्वपरस्थविकारदर्शनात् स्मितहसिते मध्यमस्य विहसितोपहसिते अधमस्यापहसितातिहसिते । उदाहृतय स्वयमुत्प्रेक्ष्या । व्यभिचारिणश्चास्य ।

निद्रा०······चारिणः ॥७२॥

लोकसीमातिवृत्तपदार्थवर्णनादिविभावितः साधुवादाद्यनुभावपरिपुष्टो विस्मयः स्थायिभावो हर्षावेगादिभावितो रसोऽद्भुतः । यथा ।

दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत-
ष्टङ्कारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः ।
द्राक्पर्याप्तकपालसम्पुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर-
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति ॥

इत्यादि ।

अथ भयानकः ।

विकृत०······ सहोदरः ॥७४॥

रौद्रशब्दश्रवणाद् रौद्रसत्त्वदर्शनाच् च भयस्थायिभावप्रभवो भयानको रसः । तत्र सर्वाङ्गवेपथुप्रभृतयोऽनुभावाः । दैन्यादयस्तु व्यभिचारिणः । भयानको यथा प्रागुदाहृत ।

नष्टमेतद् मधुनमृत्य कुब्जीभूय शनैः शनैः ।
यथायथागतेनैव यदि शक्नोषि गम्यताम् ॥

यथा च रत्नावल्याम् । नष्ट वर्षवरैरित्यादि । यथा च ।

स्वगेहात् पन्थान तत उपचित काननमथो
गिरि तस्मात् सान्द्रद्रुमगहनमस्मादपि गुहाम् ।
तदन्वङ्गान्यङ्गैरभिनिविशमानो न गणय-
त्यरातिः क्वालीये तव विजययात्रा चकितधीः ॥

अथ करुण ।

इष्ट० ······पितादयः ॥७५॥

स्वापाप०''''''चारिण ॥७६॥

इष्टस्य बन्धुप्रभृतेर्विनाशादनिष्टस्य तु बन्धनादेः प्राप्त्या शोकप्रकर्षज करुण । तमन्विति तदनुभावनि श्वासादिकथनम् । व्यभिचारिणश्च स्वापापस्मारादय । इष्टनाशात् करुणो यथा कुमारसम्भवे ।

अयि जीवितनाथ जीवसीत्यभिधायोत्थितया तया पुर ।
ददृशे पुरुषाकृति क्षितौ हरकोपानलभस्म केवलम् ॥

इत्यादि रतिप्रलाप । अनिष्टावाप्त सागरिकाया बन्धनाद् यथा रत्नावल्याम् ।

प्रीति० ··· कीर्तिता ॥७७॥

स्पष्टम् ।

षट्० ···· तेषु च ॥७८॥

विभूषण चाक्षरसहतिश्च शोभाभिमानौ गुणकीर्तन च ।

इत्येवमादीनि षट्त्रिंशत्काव्यलक्षणानि । साम भेदः प्रदान चेत्येवमादीनि सन्ध्यन्तराण्येकविंशतिरुपमादिष्विवाऽलङ्कारेषु हर्षोत्साहादिष्वन्तर्भावान् न पृथगुक्तानि ।

रम्य······लोके ॥७९॥

विष्णो ····· मेतत् ॥८०॥

इति श्रीविष्णुसूनोर्धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके
रसविचारो नाम चतुर्थ प्रकाश समाप्त ।